बुद्ध : यशोधरा : राहुल
(अजन्ता)

भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास

लेखक

चन्द्रबली त्रिपाठी

प्रथम संस्करण

१९६७

भूमिका

विभिन्न कालों और परिस्थितियों में लिखे गए विभिन्न उद्देश्यों की सिद्धि का मार्ग बताने वाले सैकड़ों ग्रंथ हमें दाय के रूप में मिले हैं। हजारों वर्ष की इस चिन्मय संपत्ति से मूल विचार धारा और उसके विभिन्न संदर्भों में व्याख्यात या अंगीकृत रूपों की संगति बैठाना आसान काम नहीं है। उत्साही लोगों ने किसी ग्रंथ विशेष के वाक्य विशेष को ही एकमात्र भारतीय सिद्धान्त कह कर प्रचारित किया है और लोकचित्त में अनेक प्रकार के अवाञ्छनीय संस्कार उत्पन्न किए हैं। उनके प्रभावों से बचना कभी-कभी विवेकी के लिये भी कठिन हो जाता है।

मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि त्रिपाठीजी ने अपने भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास नामक ग्रन्थ में समूचे भारतीय वाङ्मय को उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर उसकी अन्तर्निहित मूल 'भावधारा' को पकड़ने का प्रयत्न किया है और नारी के विविध रूपों, कर्तव्यों, और अधिकारों का सावधानी के साथ विवेचन किया है। उनके समान अनुभवी विद्वान् के यह योग्य ही है। उन्होंने इस विषय को उपलक्ष्य बनाकर वस्तुतः भारतीय संस्कृति के द्वारा क्रमशः विकसित होने वाले गतिशील पक्ष का ही उद्‌घाटन किया है।

इस संसार में यदि नारी न होती तो सभ्यता और संस्कृति न होती। अपने विविध रूपों में स्त्री ने पुरुष को संवर्धन, प्रोत्साहन और शक्ति दी है और प्रकृति को संस्कृति के रूप में ले आने तथा विकृति की ओर जाने से रोकने में समर्थ हुई है। इसीलिये किसी समाज के सांस्कृतिक विकास का मानदण्ड नारी की मर्यादा है। मनु ने जब कहा था कि जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं वहाँ देवता विहार करते हैं तो उन्होंने इसी तथ्य की ओर इंगित करना चाहा था। भारतवर्ष के विशाल इतिहास में नारी की मर्यादा में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं, और हमारी संस्कृति भी तदनुसार ही उतार चढ़ाव का अनुभव करती आई है। त्रिपाठीजी ने इस उतार चढ़ाव को ध्यान में रखा है। उन्होंने विभिन्न युगों के नारी-विषयक आचार विचारों और कायदा कानूनों को समझने का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने आधुनिक युग की विविध मान्यताओं का विश्लेषण भी किया है। इस विषय में वे बिलकुल परम्परावादी नहीं हैं। आधुनिक काल में भारतवर्ष में स्त्रियों के निरन्तर आगे बढ़ने के प्रयत्नों का उन्होंने दिल खोलकर स्वागत किया है। वे लिखते हैं कि 'आधुनिक नारी का गुणोत्कर्ष यहीं समाप्त नहीं होता।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण जो उस पर यह आक्षेप करते हैं कि उसमें स्त्रियों का स्थान निम्नतर है उनका यह मुँहतोड़ उत्तर है कि उनके राजनीतिक अधिकार प्राप्ति के रास्ते में पुरुषों ने कभी रोड़े नहीं अँटकाए। यही नहीं बल्कि उन्हें सब प्रकार के प्रोत्साहन दिए।' उन्होंने आधुनिक काल में भारतीय नारियों की उपलब्धियों का सोत्साह उल्लेख किया है। फिर भी वे पश्चिम के अन्धानुकरण को चिन्ताजनक मानते हैं, स्त्री के मातृकुल में सत्वाधिकार को पसंद नहीं करते, नौकरियों में स्त्रियों के जाने की होड़, उन्हें पसंद नहीं, सगोत्र और समप्रवर विवाह नियमों को वे स्वस्थ (अपने आप में स्थित) भारतीय संस्कृति के विरुद्ध मानते हैं, विवाह विच्छेद के कानून उनके मन के अनुकूल नहीं हैं। इस प्रकार वे अन्धाधुंध भागने को प्रगति मानने से इन्कार करते हैं। प्रत्येक अगले कदम के उठाने के पहले सावधानी से आगे की जमीन देख लेना वे अच्छा समझते हैं।

त्रिपाठी जी ने अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों दिशाओं में दृष्टि दौड़ाई है। वे इतिहास को सावधानी से परखते हैं, वर्तमान को कठोरता के साथ ठोंकते बजाते हैं और भविष्य को आशा और उल्लास के साथ देखते हैं।

इस पुस्तक का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। मुझे आशा है कि समाज और साहित्य के मंगलकामियों को यह पुस्तक स्वागत योग्य लगेगी।

चण्डीगढ़
१५-३-६६

हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रस्तावना

प्रबुद्ध चेतनाओं के उदय और कर्तव्याकर्तव्य के नियमों से सोद्देश्य संघटन में बँध जाने पर जब मानव समूह समाज का रूप ग्रहण कर लेता है, संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। समाज और संस्कृति अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। संस्कृति मानव जाति के चिन्तन और क्रिया शक्ति के नाना प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म व्यक्त रूपों में विकसित तथा प्रवर्धित होती है। उसे किसी एक संकुचित वाद अथवा विचारधारा में परिसीमित नहीं कर सकते, प्रत्युत् उसका क्षेत्र बहुत व्यापक तथा विस्तीर्ण है। सामाजिक अथवा सांस्कृतिक विकास में आर्थिक, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक, भौतिक तथा पारलौकिक इत्यादि तत्वों का समावेश अन्तर्भूत है और यदि किसी समाज में इनमें से एक अथवा अनेक का अभाव हो तो संस्कृति की श्रेष्ठता की दृष्टि से उसे अपंग कहेंगे। इन तत्वों के विकसित संघटनों में किसी विशिष्ट संस्कृति की अन्तरात्मा अथवा स्वभाव और लक्ष्य का परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति के विषय में यह सर्वथा सत्य है।

संस्कृति के महान से महान गुणों से परिपूर्ण समाज भी प्रकृति के सनातन नियमों के अनुसार सर्वदा अविचल और एकरस नहीं रह पाता। इतिहास साक्षी है कि चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर भी जिन पुरुषों और स्त्रियों से समाज बनाहै उनकी मानवीय दुर्बलताओं और प्रमाद के कारण प्रतिगामी प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप संसार से उसका अस्तित्व मिट जाता है। उसका स्थायित्व तथा महत्व उसकी संस्कृति के स्वभाव पर निर्भर है। जितने उदात्त और शाश्वत नियमों और लोकसंग्रहात्मक धर्मों के आधार पर समाज का निर्माण होगा उतना ही वह अधिक विकसित तथा चिरस्थायी होगा।

जब हम भारतीय समाज का पर्यवेक्षण करते हैं हम साश्चर्य देखते हैं कि जहाँ संसार की अनेक सभ्यताओं के नाममात्र अवशिष्ट हैं हमारे समाज को आज भी उन मूलभूत जीवन-दर्शनों और मान्यताओं से जिनका सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वपुरुषों के मानस में स्फुरण हुआ था, बल और प्रेरणा मिल रही है। निः-सन्देह यह उनका कौशलपूर्ण योजनाबद्ध समाज-संरचना का शुभ परिणाम है। इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज सदैव कुछ परिमित सिद्धान्तों के दायरे में

चक्कर काटता रहा है, प्रत्युत् देश-कालानुसार मनीषियों ने आवश्यक सुधारों के द्वारा उसे नए नए मोड़ भी दिए हैं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि एक काल में जो संस्था अथवा मर्यादा समाज के उन्नयन में सार्थक हुई परिस्थितियों के परिवर्तन से हानिकर सिद्ध हुई है। तथापि इस संस्कृति में कुछ ऐसे तत्वों का सम्मिश्रण है जो भारतीय समाज को अन्य समाजों से विशिष्टता प्रदान करते हैं और उनको पृथक् कर देने से भारत भारत नहीं रह सकता।

संस्कृति किसी देश अथवा समाज की रक्ष्यतम निधि है जो राष्ट्र के विभिन्न अंगों को एक सूत्र में पिरो कर उसे सशक्त, सजीव और चिरस्थायी बनाती है। उसका उचित गर्व सभ्य पुरुष का लक्षण है। उसके स्वरूप तथा उत्थान और पतन की समीक्षा एवं उनका मनोयोगपूर्वक अध्ययन राष्ट्रीय इतिहास का अभिन्न अंग एवं व्यक्ति और समाज के भविष्य का प्रेरणाप्रद प्रकाश-स्तम्भ है।

इसी का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग भारतीय संस्कृति के निर्माण और संवर्धन में सभ्यता के आदि काल से नारी का गरिमामय और श्लाघ्य योगदान है जो उसके वैयक्तिक तथा पारिवारिक आदर्शों की स्थापना और चरितार्थता एवं सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के समृद्ध वैभव में दिखाई देता है। समाज ने नारी की स्थिति की भरपूर प्रतिष्ठा भी की है।

मानवीय दुर्बलताएँ और कुरूपताएँ, पुरुषों में हों अथवा स्त्रियों में, सच्ची संस्कृति के अंग अथवा लक्षण नहीं हैं और यद्यपि समाज को सावधान करने के लिए उनका विवेचन क्षम्य तथा प्रासंगिक होता है, खोज-खोज कर उभार दे कर उनसे समाज और संस्कृति का स्वरूप-निर्धारण करना वैसा ही है जैसा मिस मेयो की 'मदर इंडिया' के विषय में उसे महात्मा गाँधी ने 'गन्दी मोरियों के निरीक्षक की रिपोर्ट' बतलाया है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन बातों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संस्कृति के आलोक में ऋग्वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक समाज में नारी के महत्व और उसके आदर्शों के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति सागर की तरह अगाध, हिमालय से भी ऊँची और अतिशय प्राचीन है। उसका क्रमबद्ध तथा सर्वांगीण इतिहास जब तक नहीं लिखा जाता, आशा है कि यह ग्रन्थ कुछ अंश तक उसके अभाव की पूर्ति कर सकेगा। इसमें हमारा प्रयत्न रहा है कि विवेच्य विषय के सम्बन्ध में इस पुस्तक में जो स्थापनाएँ और मत व्यक्त किए गए हैं वे सप्रमाण हों, और मूल वाक्यों के उद्धरण देने के अतिरिक्त पर्याप्त पादचिह्नों से मूल स्थलों का संकेत

कर दिया गया है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक हिन्दी के अनुरागियों को रुचेगी और भारतीय संस्कृति और समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

हम पंजाब विश्वविद्यालय के भारतीय साहित्य के टैगोर प्रोफेसर एवं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी (पद्मभूषण) के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर उसे महत्त्व प्रदान किया है। इसी प्रकार हम जबलपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति के अध्यक्ष डॉ० राजबली पांडेय के भी आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक पर अपनी बहुमूल्य संस्तुति के साथ उसमें 'स्त्री-धन और उत्तराधिकार' तथा 'संसार की सभ्यताओं में भारतीय नारी का तुलनात्मक स्थान' इन विषयों को जोड़ देने का सुझाव देकर हमें उपकृत किया।

इस पुस्तक में 'भारतीय शिल्प में नारी' विषय का समावेश हमने अपने ज्येष्ठ आत्मज चन्द्रचूड़मणि, सहकारी सम्पादक हिन्दी विश्वकोश के सुझाव पर किया है। उन्होंने भारतीय कला विषयक पुरातत्व-सम्बन्धी चित्रों का चयन तथा पुस्तक में यथास्थान विन्यास करने के अतिरिक्त उसका अनुक्रम तैयार किया एवं प्रूफ संशोधन और एक प्रकार से पुस्तक का संपादन भी किया है।

पुस्तक में समाविष्ट चित्रों के लिए हम भारत के पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली, डी० बी० तारापुरवाला संस ऐंड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, एवं डॉ० बेञ्जमिन रोलाँ, यू० एस० ए० तथा केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंडन के विशेष आभारी हैं।

सुन्दर मुद्रण के लिए हम ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी के कृतज्ञ हैं एवं विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के यशस्वी संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के भी अत्यंत आभारी हैं जिनके उपयोगी सुझाओं तथा मुद्रण विषयक परामर्शों के कारण यह ग्रन्थ इस रूप में प्रकाशित हो सका।

चन्द्रबली त्रिपाठी

विषय सूची

चित्र विवरण

११. बेग्राम	हाथी दाँत की तश्तरी (प्लेक)	प्रसाधन
१२. दंदाँयूइलिक (अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया)		नारी, आकृति
१३. सित्तन वासल	प्रस्तर गुहा	नृत्य की एक भंगिमा
१४. सित्तन वासल	प्रस्तर गुहा	नृत्य की एक भंगिमा
१५. श्रीरंगम मन्दिर, त्रिचिनापल्ली	हयशाल	(ल० १५९० ई०)

आभार

पुस्तक में दिए गए निम्नांकित चित्रों के लिए हम निम्नलिखित संस्थाओं और महानुभाओं के अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने प्राचीन शिल्प के चित्र (फ़ोटो ग्राफ़) भेजकर अथवा अपने ग्रन्थों से चित्र लेलेने की सहर्ष अनुमति प्रदान की है—

प्लेट सं० १,२,३,४,५,६,७,९,१३ और १४, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली;

प्लेट सं० ८, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया–वॉल्यूम १, ई० जे० रैप्सन द्वारा सम्पादित तथा केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस बेन्टूले हाउस, २०० यूस्टन रोड, लंडन एन डब्ल्यू आई द्वारा प्रकाशित;

प्लेट सं० १०,११ और १२, आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑव इण्डिया, डॉ० बेञ्जमिन रोलॉ, फॉग आर्ट म्यूज़ियम, केम्ब्रिज ३८ मैस, यू० एस० ए० कृत एवं पेन्ग्विन बुक्स लिमिटेड द्वारा प्रकाशित और

प्लेट सं० १५, इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एंड हिन्दू पीरिअड) पर्सी ब्राउन कृत तथा डी० बी० तारापुरवाला संस एंड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड द्वारा प्रकाशित।

दुर्गावती त्रिपाठी
प्रकाशिका

संकेत

अ० स्मृ०	अत्रि स्मृति	भ० भू०	भवभूति
अथर्व०	अथर्व वेद	भा० (भाग०)	श्रीमद्भागवत
अष्टा०	अष्टाध्यायी	मनु०	मनुस्मृति
आप० ध० सू०	आपस्तंब धर्म सूत्र	म० भा०	महाभारत
आप०	आपस्तंब धर्माधिकरण	म० भा० मीमांसा	महाभारत मीमांसा
ईशा० उप०	ईशावास्य उपनिषद्	मा० पु०	मार्कण्डेय पुराण
उत्तर राम०	उत्तर रामचरित	मुं० उप	मुंडक उपनिषद्
ऋ०	ऋग्वेद	मै० (मैत्रा०) सं०	मैत्रायणी संहिता
ऋ० पुरुष सू०	ऋग्वेद पुरुष सूक्त	यजु०	यजुर्वेद
कठ उप०	कठ उपनिषद्	याज्ञ०	याज्ञवल्क्य
कुमार सं०	कुमार संभव	याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
गीता	श्री मद्भगवद्गीता	रघु०	रघुवंश
गौतम ध० सू०	गौतम धर्म सूत्र	रा० च०	रामचरित मानस
छाँ० अथवा छाँदो० उप०	छांदोग्य उपनिषद्	वाज० ब्रा०	वाजसनेय ब्राह्मण
		वा० रा०	वाल्मीकीय रामायण
तै० उप०	तैत्तरीय उपनिषद्	वि० पिटक	विनय पिटक
तै० ब्रा०	तैत्तरीय ब्राह्मण	वि० पु०	विष्णु पुराण
दे० भा०	देवी भागवत	शत ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
पद्म पु०	पद्म पुराण	शाकुं०	शाकुन्तल
बृह० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्	शु० यजु० रुद्राष्टाध्यायी	शुक्ल यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी
बृह० स्मृ०	बृहस्पति स्मृति		
बौधा० ध० शा०	बौधायन धर्म शास्त्र	हारीत ध० सू०	हारीत धर्म सूत्र

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयांसि

ऋ० ५. ४७. ६

ऋतायनी मायिनी संदधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयंती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित् तंतुं मनसा वियंति॥

ऋ० १०. ५. ३

उषा सा नक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तंतुं ततं पेशसा संवयंती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे॥

यजु० २०. ४१

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमाना इंद्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तंतुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तीः॥

यजु० २०. ४३

विद्याः समस्तास्तव देवि! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु

मार्कण्डेय पुराण

अध्याय १

भारतीय संस्कृति के आधार-तत्व

सभ्यता के जिन उपादानों से संस्कृतियाँ विकसित होती हैं उनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भारत प्रागैतिहासिक युग से लेकर सभ्यता के आधुनिक स्तर तक इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा है कि मनुष्य जगत् के नाना रूपों और भेदमूलक प्रवृत्तियों के बीच अपना यथार्थ स्वरूप ग्रहण कर सच्ची मानवता को समझे।

कुछ बातों में संसार की संस्कृतियों में एक प्रकार की समानता अथवा एकरूपता भी पायी जाती है। परन्तु वह एकरूपता प्राणनिष्ठ न होकर सर्वथा रूपगत एवं जीव की साधारण मर्यादा तक सीमित दिखायी देती है।

समाज के लोक व्यवहारों में धर्म की मर्यादा अत्यंत सघन होने के कारण भारत की संस्कृति अन्य देशों से बहुत अंशों में भिन्न और जनग्राह्य रही है।

भारतीय संस्कृति की कोई एक सूत्रात्मक व्याख्या संभव नहीं है। फिर भी मनुष्य में जो पशुत्व है उसे दूर कर उसके देवत्व को अभिव्यक्त करना, उसे परमेश्वर से मिलाना ही उसका प्रधान लक्ष्य है। मनुष्य में पशुत्व का आरोप सर्वथा अस्वाभाविक नहीं है। मनुष्य और पशु में अनेक बातें सामान्य हैं। जहाँ तक आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि क्रियाओं का सम्बन्ध है, इन जीवों और मनुष्य में प्रत्यक्ष समानता है और मनुष्य उनकी कोटि में आता है।

मनुष्य तथा दूसरे प्राणियों में पाये जानेवाले ये साधारण धर्म प्राकृतिक हैं। इनका समूल उच्छेद संभव नहीं है परन्तु इनका नियमन और निदर्शन मनुष्य के वश में है। समाज के शासन की व्यवस्था करते समय मनीषियों ने मानव की इस आधारभूत स्थिति को ध्यान में रखा है। भारतीय समाज के सबसे बड़े संघटनकर्ता मनु ने जहाँ यह कहा है कि ये बातें भूतमात्र की निसर्गसिद्ध प्रवृत्तियाँ हैं[१] इसी तथ्य को प्रकट किया है। महाभारत में भी इस तथ्य पर जोर देते हुए स्पष्ट उल्लेख है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि विकारों में मनुष्य और पशु समान हैं। जानवरों से मनुष्य को पृथक् करने अथवा उनकी स्थिति से

१ मनु० ५, ५६

मानव का उद्धार करने के लिए ही धर्म के नियम रचे गये हैं।[२] श्रीमद्भागवत में यह उल्लेख मिलता है कि इस संसार में किसी से यह नहीं कहना पड़ता है कि तुम मैथुन, मांस और मदिरा का सेवन करो; ये बातें मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं। इन तीनों की मर्यादा स्थिर करने के लिए अनुक्रम से विवाह, सोमयाग और सौत्रामणि यज्ञ की योजना की गयी है। फिर भी निवृत्ति ही इष्ट है।[३]

इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से इस प्रकार कह सकते हैं कि अर्थ और काम की प्रवृत्ति को लेकर मनुष्य इस संसार में आता है। इतर जीवों की इस प्रवृत्ति का संचालन प्रकृति स्वयं करती है। उसके संचालन अथवा अतिक्रमण की शक्ति इन प्राणियों में नहीं होती। परन्तु बुद्धिरूपी महान् साधन से युक्त मनुष्य अर्थ और काम को अनन्त रूपों और अनन्त सीमाओं तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है। उसे मर्यादा के भीतर रखना उसकी विशेषता है। किन्तु वासनात्मक काम के अन्तर्गत जहाँ दूसरे जीव प्रकृति के अनुगामी रहकर ऋतुगामी होते हैं, मनुष्य स्वयं अपने को प्रकृति का प्रभु कहता है परंतु कामान्ध होकर कुछ भी कर सकता है।

अमर्यादित स्थिति के कारण ही विश्व की कई प्राक्ऐतिहासिक जातियों का लोप हो गया और सभ्यता के इस युग में भी कहीं-कहीं ऐसे जनसमूह पड़े हुए हैं जो इस स्तर से अधिक ऊपर नहीं उठे। किन्तु चेतन अथवा बुद्धिसम्पन्न मनुष्य इस जीवन से परितुष्ट नहीं रह सकता। उसमें आत्मरक्षा तथा स्वजन रक्षा की भावना, सुख के उपभोग तथा साधन-सम्पत्ति की प्राप्ति, वृद्धि और संरक्षण की जो प्रवृत्ति जन्मजात है उसके उत्तरोत्तर विकास में उसकी बौद्धिक शक्तियाँ गतिशील होने लगती हैं। उसकी एषणाएं बढ़ती जाती हैं और उन्हें तृप्त करने के लिए वह नये-नये अनुसंधानों और सुख के साधन और सामान संग्रह करने में इन शक्तियों को सीमा तक ले जाता है। यह संस्कृति के विकास का वह स्तर है जिसका प्रधान उद्देश्य 'विषयोपभोग' है और जिसे अर्थ और काम की भूमि कहेंगे।

विषयोपभोग का स्तर संस्कृति का निम्नतम (आसुरी) स्तर है जिसकी दार्शनिक संज्ञा 'आधिभौतिकवाद' है। जो यह मानते हैं कि इस सृष्टि का कोई नियामक नहीं, इसका रचयिता, पोषक और संहारक कोई एक शक्ति नहीं और न कोई शाश्वत नियम हैं जिनसे यह जगत बँधा हुआ है वे अपने जीवन की इतिकर्तव्यता इसी में समझते हैं कि इस संसार को अपनी

२ म० भा०, शान्ति पर्व, २९४. २९

३ भागवत ११. ५. ११

इहलौकिक कामनाओं की पूर्ति के हेतु यंत्रवत् काम में ले आएं। इस दृष्टिवालों को ही गीता में असुर कहा गया है।[४] यह नहीं कह सकते कि इस विचार के लोग भारत में हुए ही नहीं। चार्वाक इसी विचारधारा का पुरस्कर्ता था जिसके मत में जीवन का परम लक्ष्य है खाओ, पीओ, मौज करो अथवा 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' परन्तु गम्भीर चिन्तकों के बीच चार्वाक का सिद्धान्त अप्रतिष्ठत रहा और भारतीय संस्कृति का कभी अंग नहीं बना, इसकी मान्यता पाश्चात्य दर्शन के सुखवाद (Hedonism) में जो भी रही हो।

इस स्थिति से जब थोड़ा ऊपर उठते हैं उसी अवस्था में हम संस्कृति का शुभारम्भ पाते हैं। मनुष्य को अनुभव होने लगता है कि जैसे चाहे वह अपने अर्थ और काम का उपभोग नहीं कर सकता। उसके चारों ओर सारा संसार फैला हुआ है और एक दूसरे के अर्थ और काम, इच्छाएँ और प्रयत्न आपस में टक्कर खाते और परस्पर विरोधी निकलते हैं। इस संघर्ष के कारण उसके अर्थ और काम सदैव खतरे में रहते हैं। स्वार्थरक्षा के निमित्त लोग अपने अर्थ-काम की पूर्ति के साथ दूसरे लोगों के हितों और सुख-दुःखादि का भी ध्यान रखते हैं। इसके कारण एक के स्वार्थों का दूसरों के स्वार्थों के साथ एक प्रकार का समझौता करना पड़ता है। कामनाओं पर अंकुश लगता है, उन्हें सीमित रखने के लिए नियम बनते हैं, जीवन निर्मुक्त और स्वच्छन्द न रहकर नियमों और तरह-तरह की पाबन्दियों से जकड़ जाता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध बुद्धि से संचालित होता है, उनमें एक विशेष संतुलन उत्पन्न होता और समाज में सुस्थिति आती है। नोच-खसोट, लूट-मार, लड़ाई-झगड़े, विरोध और संघर्ष का स्थान सामाजिक शान्ति ले लेती है। अन्यथा हिंसा का नित्य बोल-बाला रहे, समाज कभी टिक न सके और मनुष्य जिस सुख-शान्ति की निरन्तर अभिलाषा करता है वह कभी संभव न हो। जो नियम समाज को छिन्न-भिन्न और विनष्ट होने से बचाते और उसे सुस्थिर और व्यवस्थित रखने में सहायक होते हैं उन्हें ही श्री कृष्ण ने धर्म के लक्षण बतलाये हैं।[५] इस साधारण धर्म के अभाव के कारण ही परस्पर संघर्षरत रहकर संसार की अनेक जातियाँ विलुप्त हो गयीं। इस कथन में भी अतिशयोक्ति नहीं कि संसार की कई प्रबल जातियाँ इसलिए मिट गयीं कि उनमें लोकसंग्रहात्मक धर्म का क्रमशः ह्रास हो गया।

वास्तव में यहाँ तक हम संस्कृति के उस धरातल पर हैं जहाँ सभी संस्कृतियों में समानता है। यद्यपि समाज को धारण करने वाले नियम अथवा

४ गीता १६, ८

५ म० भा०, कर्ण पर्व, ६९, ५७-५८

कर्तव्य संघात को 'धर्म' कहा गया है, धर्म का क्षेत्र यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह केवल अर्थ और काम की सीमाएँ हुईं। इनसे ऊपर उठकर संस्कृति के तीसरे तथा श्रेष्ठ स्तर पर पहुँचना है जो हमारी संस्कृति का वह अंग है जिसके बिना वह न केवल निष्प्राण है, उसे संस्कृति का सच्चा रूप ही नहीं प्राप्त होता। उसकी स्थापना के अनुसार विश्व की रचना और संहार एक सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान परमेश्वर के द्वारा होता है जिसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। वह सब भूतमात्र के हृदय में बसता और अपनी अचिन्त्य शक्ति, लीला अथवा माया से सृष्टिमात्र को यंत्र के समान संचालित करता है।[६] जो नियम समाज को धारण करते हैं वे भी इसी परम शक्ति के अधीन हैं। परन्तु मनुष्य को विकास करने, ऊँचे से ऊँचे उठने और आत्मोद्धार का अधिकार तथा शक्ति भी उसने दे रखी है।[७] इस संस्कृति की यह विशिष्ट मान्यता है कि मनुष्य की सभी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, पाप-पुण्य, के शुभ अथवा अशुभ फल उसे अवश्य मिलते हैं। इसी से जुड़ा हुआ यह अटूट विश्वास है कि वर्तमान जन्म ही मनुष्य जीवन का आदि और अन्त नहीं है; अपने कर्मों के फल भोगने के लिए मनुष्य को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। इसमें वह पराधीन है। किन्तु इस पराधीनता से मुक्त होने और उपयुक्त साधनों से कर्म-बन्धन तथा जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने की शक्ति उसमें पूर्ण रूप से विद्यमान है। कर्म-बन्धन और पुनर्जन्म-सम्बन्धी ये विचार भारतीय संस्कृति के सभी मत-मतान्तरों को जिनमें बौद्ध और जैन मत भी सम्मिलित हैं मान्य हैं। इसमें संशय नहीं कि ये सिद्धान्त इस संस्कृति के मुख्य और अभिन्न अंग हैं तथा उसके सभी विचारों एवं भारत में उत्पन्न विभिन्न धर्मों के जन-जन में समाविष्ट हो गये हैं। कर्म-विपाक तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में पश्चिमी विचारों ने एक भ्रम उत्पन्न किया है जिसका निराकरण आवश्यक है। उनके अनुसार ऐसा दिखायी देता है कि इन विचारों से जीवन दब जाता है, वह निराशामय, दुःखी, निष्क्रिय और निष्प्रभ हो जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है। इस सिद्धान्त की जड़ में यह तथ्य निहित है कि बुद्धि में इस बात के जम जाने पर कि बुरे कर्मों के दुःखद फल जीव का पीछा कभी नहीं छोड़ते, इस जन्म में ही नहीं अनेक जन्मों और योनियों में भी उसका पिण्ड नहीं छोड़ते, मनुष्य सदैव अच्छे कर्म करते रहने का प्रयत्न करेगा। उसे यह आशा बल देती रहती है कि

---

६ गीता १८.६१

७ उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता ६.५

आज दुःख है, सत्प्रयत्न से कल सुख मिलेगा; आशा बँधती है कि यदि यह जीवन सफल न हुआ, अगले जीवन में उसके प्रयत्न फलीभूत होंगे।

सूक्तिकार के इस वचन में कि मौत किसी भी क्षण शिखा पकड़ सकती है अतः मनुष्य को निरन्तर धर्म पर चलना चाहिए, सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती रहती है। जीवन को अधिक से अधिक क्रियानिष्ठ, सफल और जागरूक बनाने, पाप से बचने और उद्योगरत रहने का उसका स्वभाव हो जाता है। निष्क्रिय बनकर नहीं किन्तु सत्प्रयत्नों से और ईश्वर की कृपा से कंदुक की तरह ब्रह्माण्ड को उठा लेने की प्रेरणा इन सिद्धान्तों से मिलती है। इतिहास के तेजस्वी पुरुषों के जीवनचरित भी इसी बात के प्रमाण हैं। काल और कर्म की यह व्यवस्था भी ईश्वर की है। संस्कृति के विकासक्रम की यह श्रेणी जिसमें यह धर्म भावना काम करती है कि सारा समाज अथवा निखिल विश्व नैतिक नियमों से आबद्ध और संचालित होता है, एक अनन्त शक्ति परमेश्वर की सत्ता से उनकी सत्ता है, जीवन धर्ममय एक यज्ञ है और प्रत्येक प्राणी अपने अच्छे कर्मों से उस अधिपति की अर्चना करता है, भारतीय संस्कृति का नवनीत है। इसमें परिवर्धित पुरुष जीवन को विविध क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित नहीं करता जैसे किसी गृह के पृथक् पृथक् कमरे होते हैं। वह जीवन को समग्र रूप से देखता है और जिस किसी स्थिति में पड़ जाय उसके लिए एक ही मापदण्ड धर्म का है। तात्पर्य यह कि वह राजनीति, व्यवसाय, उद्योग, श्रम आदि नाना कर्म-क्षेत्रों में अपने कार्यों को धर्म भावना से संचालित करता है।

संस्कृति की दृष्टि यहीं आकर रुक नहीं जाती। इसमें काम और अर्थ का साधन है, यद्यपि उस पर धर्म का नियमन है; धर्म की भावना का सन्निवेश है, उससे जीवन को सक्रिय, परोपकाररत और उदात्त बनाने का महान् प्रयास है। मान लें सांसारिक सुख और वैभव की प्राप्ति ही नहीं यज्ञ, दान, तप इत्यादि के द्वारा स्वर्गीय सुख और ऐश्वर्य भी मिल जाय परन्तु क्या जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च लक्ष्य यही है? यह हमारी संस्कृति का कभी न छूटनेवाला प्रश्न है।

सच्चा मानव शरीर नहीं है। वह आत्मा है जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि के ऊपर है।[८] उसकी सत्ता सुख और दुःख एवं संसार के सारे द्वन्द्वों से भी अलिप्त है और त्रिगुणातीत होने के कारण सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों का उसमें वास नहीं है। ये गुण और विकार प्रकृति के धर्म हैं।

बालू की दीवार की भाँति ये सुख और ऐश्वर्य एक क्षण में ढह जाने वाले हैं। सांसारिक उपलब्धियाँ ही नहीं दिव्य लोकों के सुख भी नाशवान हैं। इस जन्म

८ गीता ३,४२; कठ० उप० १.३;१०-११

को अन्तिम मान लें फिर भी कौन कह सकता है कि विविध उपाय करने पर भी उसे अंतकाल तक सुख ही सुख मिला है। वस्तुतः संसार में सुख और दुःख की परम्परा अविच्छिन्न है और जैसा कि महर्षि व्यास ने कहा है संसार में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है।[९] स्वर्ग-सुख भी सांसारिक सुख से चाहे कितना भी बड़ा हो, अनित्य है। बड़े-बड़े यज्ञ और पुण्य कर्मों के फलस्वरूप पुण्यवान् लोग इन्द्र आदि लोकों में स्थान पा जाते हैं। परन्तु पुण्यफल क्षीण होते ही वहाँ से मृत्युलोक में गिरा दिये जाते हैं।[१०]

मनुष्य सुख के लिए जीना चाहता है। मरना तो चाहता नहीं, यदि चाहता है तो वह भी सुख के लिए। सुखेच्छा मानव प्रकृति है। क्या यह एक भ्रम मात्र है, एक मरीचिका है जिसके पीछे मानव आदि काल से भटकता आ रहा है? सांसारिक एवं स्वर्गीय सुख क्षणिक एवं दुःख के साथी ही हैं। इसलिए सुख नाम की वस्तु स्वप्न ही है। नहीं, यह घोषणा अध्यात्म की है। यही उसकी खोज का विषय है।

शुद्ध मानव आत्मानन्द स्वरूप है जहाँ दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं। वहाँ वह सुख भी नहीं है जिसे संसार सुख कहता है। परन्तु वहाँ आत्यन्तिक सुख है जिसे बुद्धि ग्रहण कर सकती है, पर जहाँ ये इन्द्रियाँ नहीं पहुँच पातीं। यह वह सुख अथवा आनन्द है जिसे पा जाने पर फिर कोई चाह शेष नहीं रह जाती।[११] यह आत्मानन्द मनुष्य की पहुँच के बाहर नहीं है। उसकी मुट्ठी में है। जिस सुख के पीछे वह भटकता है उसे जब वह सुखाभास समझ ले और जिसे वह आत्मा समझ बैठा है उसका भेद जानकर अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले, उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर ले फिर वह शाश्वत सुख का अधिकारी हो जाता है। इसे ही आत्मबोध समझना चाहिए जिसके अनन्तर ईश्वर-प्राप्ति विषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाती है।

यह आत्मबोध अध्यात्म का विषय है। मनुस्मृति और महाभारत इत्यादि में इसे मोक्षधर्म भी कहा गया है। क्योंकि जरामरण और पुनरागमन से मुक्त हो जाने के उपाय, साधन अथवा धर्म के विवेचन इसमें प्रधानतया मिलते हैं। कहते हैं कि भारतवर्ष अध्यात्मवादियों का देश है। इसका यह अर्थ तो नहीं है कि यहा सदा से सभी लोग आत्मचिन्तन में निमग्न रहते रहे हैं, पर यह असत्य भी नहीं है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे ऋषियों ने संसार की अनित्यता

---

९ म० भा०, शान्ति पर्व २०५, ६;३३०,१६
१० गीता ९,२०-२१
११ गीता ६,२१-२२

तथा इहलौकिक सुख और समृद्धि की अपूर्णता का अनुभव कर लिया था और नित्य तत्त्व, अमरत्व और मोक्ष के अनुसन्धान तथा प्राप्ति में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इस महान् उद्योग का परिणाम यह हुआ कि संस्कृति पर अध्यात्म की अमिट छाप पड़ गयी।

हमारा सबसे पुरातन इतिहास ऋग्वेद है जिसमें प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' है। उसके ऋषि ने सत् असत् रूप जिस अतर्क्य अचिन्त्य सत्य का अपनी अलौकिक दृष्टि से साक्षात्कार किया उससे आगे, लोकमान्य तिलक के शब्दों में, संसार आज तक नहीं गया।[१२] भौतिक संसार में हमें सर्वत्र नाशवान्, भेदमूलक, नाना नाम और रूप दिखाई पड़ते हैं। किन्तु ऋषियों ने अपने अंतर्मुखी प्रत्यक्ष अनुभव से जान लिया कि इस सबके मूल में एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त सृष्टि को आच्छादित कर रहा है[१३] जिससे कुछ भी शून्य नहीं है और उसीमें सब कुछ अन्तर्निहित है। वह मूल तत्त्व अखण्डित होता हुआ भी नाना नाम-रूपधारी विश्व में विभक्त-सा और क्षण-क्षण नाश होनेवाले पदार्थों में अविनाशी अक्षर ब्रह्म अपने स्वरूप से व्याप्त हो रहा है।[१४] सूर्य, चन्द्र, तारा, अग्नि इत्यादि से जो प्रकाश हमें मिलता है उनमें उसी महाप्रकाश से ज्योति आती है जो ज्योतियों की ज्योति है।[१५] उस महाप्रकाश को इन चक्षुओं अथवा सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्रों से नहीं देख सकते। यदि उसकी कोई तुलना हो सकती है तो वह उस प्रचण्ड तेजःपुंज से की जा सकती है जो सहस्रों सूर्यों के एक साथ उदय होने से संभव है।[१६] यह परम तत्त्व निःसीम है। उसका न आदि है और न मध्य और न अन्त। अपने एक अंश मात्र से उसने ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रखा है।[१७] यह सत्य अव्यक्त इन्द्रियातीत है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से परे है[१८] जिसे मन से नहीं पा सकते और जिसका यथावत् स्वरूप वाणी से नहीं बतला सकते।[१९] मानवी भाषा में उस अचिन्त्य शक्ति के लिए जितने भी अनुपम विशेषण हो सकते हैं वे उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति करने में असमर्थ हैं। इसीलिए उसके विषय में 'नेति' 'नेति' कहा गया।

---

१२ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य पृ० २५८
१३ ईशा० उप० १, गीता ७,७; ९,४
१४ गीता १३, १६.२७
१५ मुं० उप० २.२, ९.१०
१६ गीता ११.१२
१७ गीता १५,३, ११,४२
१८ कठ० उप० १. ३. १५
१९ तै० उप०, ब्रह्मानन्द वल्ली, २. ४

ऋषियों ने अपने अनुभवात्मक ज्ञान से यह बतलाया कि यह सब कुछ ब्रह्म है[२०], जो कुछ है वह एक है, नाना अथवा अनेक नाम की कोई वस्तु सत्य नहीं है, जिसे भेद अथवा नानात्व दिखाई देता है उसे मृत्यु ही मृत्यु है और वह जन्म-मरण से कभी मुक्त नहीं हो सकता।[२१] इन सूक्ष्मदर्शियों को यह प्रत्यक्ष लगा कि जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है[२२] और अज्ञान का आवरण हट जाने पर परमार्थ दृष्टि से आत्मा और परमात्मा का भेद उड़ जाता है। जीव ब्रह्मीभूत हो जाता है और इस सिद्धावस्था में वह अपने को सब भूतों में तथा प्राणिमात्र को अपने भीतर देखने लगता है।[२३] इसकी संज्ञा 'ब्राह्मी स्थिति' अथवा 'ब्रह्मनिर्वाण' है जिसमें अमृतत्त्व विद्यमान है।[२४] वह कभी न मिटनेवाला सुख है जिसे पाने के लिए मनुष्य व्यग्र रहता है पर झूठे सुखों में फँसकर बन्दी पक्षी की तरह तड़पता रहता है। भगवान् बुद्ध ने जो 'निर्वाण' प्राप्त किया था उसका स्वरूप भी इस ब्रह्मनिर्वाण से भिन्न न था।

जीवन की सिद्धि ब्रह्म की जिज्ञासा और उसकी संप्राप्ति में बतलायी गयी है, यद्यपि ऐसे प्रश्न भी कभी-कभी उठाये गये हैं कि क्या यह संभव है कि मानव जाति समष्टि रूप से आधिभौतिक बन्धनों का अतिक्रमण कर परमात्मभाव अथवा परमतत्त्व तक पहुँच जाय और उसका अपने भीतर अनुभव करे। आदर्श रूप में इसकी मान्यता होते हुए भी श्री अरविन्द के शब्दों में जिसके समर्थक वे स्वयं हैं, इसकी कल्पना न केवल दुरूह है, मानव जाति के लघु विकास को देखते हुए कठिन प्रतीत होती है। उनका कथन है कि अभी मानव समष्टि रूप से केवल ऊपर उठ रहा है। ९/१० मनुष्य जाति असभ्य अवस्था में ही पड़ी हुई है।[२५]

परन्तु इससे एक बात सिद्ध है कि सृष्टि के विकास क्रम में सत्ता सतत प्रवाह-शील मानी गयी है।

ब्रह्म विद्या का विकास, जिसका आधार ऋग्वेद है, उपनिषदों में हुआ। महाभारत (गीता), ब्रह्मसूत्र, आचार्यों के भाष्यों एवं विशाल संस्कृत वाङ्मय में उसे विशेष सुस्पष्ट तथा सुसम्बद्ध रूप मिला। क्षेत्रीय भाषाओं के भाण्डार भी इस ज्ञानराशि से समय-समय पर भरते गये। हिमालय से कन्याकुमारी और पूर्व

---

२० छान्दो० ३. १३. १४

२१ बृह० उप० ३. १९; कठ० उप० २. १. ११

२२ गीता १५-७

२३ ईशा० उप० ६. ७; गीता ६, २९

२४ गीता २, ७२; ५, १९

२५ श्री अरविन्द : दि फाउंडेशन ऑव इंडियन कल्चर

समुद्र से पश्चिम सागर तक सन्तों, महात्माओं और सिद्धों ने न केवल अपने व्यक्तित्व से बल्कि अपने अभंग, वचन और बानियों से परमेश्वर-विषयक ज्ञान की ज्योति अद्यावधि जगा रखी है। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस संसार में भौतिकवाद का अखण्ड प्रसार पाया जाता है उसी में १९वीं और २०वीं शताब्दि तक इस परम्परा के प्रतीक परमहंस रामकृष्ण, रामन महर्षि, महात्मा गांधी, योगी अरविन्द जैसी विभूतियों ने मनुष्य को अंधकार से निकाल कर सच्चे मार्ग का दर्शन कराया है।

जिसका अस्तित्व है उसका समग्र विनाश असंभव है।[२६] सृष्टि जिस प्रकृति का व्यक्त रूप है वह अस्वतन्त्र होते हुए भी अनादि है।[२७] इस तत्त्व को स्वीकार कर मानव मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। यह अत्यंत कठिन मार्ग है। एवरेस्ट की चोटी पर पहुँचना अधिक सुगम हो सकता है पर मोक्ष की प्राप्ति दुस्तर है। तीखे धारवाले छुरे पर चलने जैसा इस मार्ग पर चलना है।[२८] इसे पाने के लिए सहस्रों मनुष्यों में कोई एक यत्न करता है और यत्न करनेवालों में भी शायद ही कोई पूर्ण ज्ञानी हो सकता है। अथवा एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में जाकर कहीं अंत में परमात्मा को पा सकता है।[२९] इसको 'श्रेयस्' कहते हैं। इससे वाहर जो कुछ प्राप्य है वह 'प्रेय' है। श्रेय से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी प्रेरणा और सबसे बड़ी देन यही है कि मानव प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अपनाए।[३०]

प्राचीन काल में समस्त मानवीय उद्योगों को चार भागों में कल्पित किया गया था और उन्हें 'पुरुषार्थ' कहते थे। ऋग्वेद में चतुवर्ग की धारणा बीज रूप से विद्यमान है। इन पुरुषार्थों का निरूपण वैदिक साहित्य के आधार पर प्रायः समस्त दर्शनों, धर्मशास्त्रों, इतिहास, महाकाव्य (महाभारत और रामायण) एवं स्मृति ग्रन्थों और पुराणों में विस्तार के साथ हुआ है। इसमें ललित कलाओं का भी अपना स्थान रहा है। यद्यपि मोक्ष शास्त्र की महान् उन्नति हुई उससे आधिभौतिक उन्नति में अवरोध नहीं हुआ। आयुर्वेद, धनुर्वेद, शल्य विद्या, रसायन शास्त्र, नक्षत्र विद्या, गणित विद्या, काव्य, नाटक इत्यादि अनेक ज्ञान-विज्ञान विषयक अनुसन्धान हुए जिनकी उपलब्धियों ने मनुष्य को ऊँचा जीवन-

---

२६ गीता २, १६
२७ गीता १३, १९
२८ कठ०; उप० १. ३. १४
२९ गीता ७-३; ७-१९
३० कठ० उप० १.२.२

स्तर प्रदान किया। स्थापत्य, शिल्प, वाद्य इत्यादि ने उसे और मोहक बनाया। अर्थ और काम को बराबर विधेयात्मक माना गया और इस बात का प्रयत्न किया गया कि धर्म अथवा मोक्ष से उनकी प्रक्रियाओं में कोई व्याघात न पड़े अथवा उनसे मन हटा कर जीवन सुखोपभोग में ही समाहित न हो। इसके लिए स्मृतिकार ने कहा कि 'न कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते' कामनाओं के उपभोग से उनकी तृप्ति नहीं होती इससे वे बढ़ती ही हैं जैसे आग में घी डालने से वह अधिक प्रज्वलित होती है।[३१] जीवन का उद्देश्य सर्वथा निष्क्रिय न बना दिया जाय; अर्थ और काम को मर्यादित रखने के लिए धर्म को उनका नियामक माना गया और मोक्ष उसकी परिणति बना।

आश्रमों के सम्बन्ध में अनेक विचार और जीवन सिद्धान्त समय-समय पर बनते रहे हैं जिनके प्रकाश में यद्यपि कहीं-कहीं प्रत्यक्ष रूप से विरोधाभास मिलेगा परन्तु उनकी गवेषणा से सिद्ध है कि परस्पर विरोधी मतों का तादात्म्य उसी निःश्रेयस् की परिकल्पना से सम्बन्धित है। जहाँ एक ओर सन्यास और निवृत्ति की प्रतिष्ठा हुई गृहस्थ के लिए भी बिना घर का त्याग किये और सांसारिक कर्मों में लगे रहने पर भी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त माना गया। इसके लिए यह आवश्यक बतलाया गया कि मन में कर्म के फल की आशा न रखते हुए अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म करता हुआ लोकसंग्रह के कार्यों में लगा रहकर ज्ञानी पुरुष निःश्रेयस का अधिकारी होता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति इन दो जीवन मार्गों के बीच ज्ञानियों ने संन्यास, कर्म योग और ज्ञान की प्रतिष्ठा की। आत्मबोध में निवृत्ति के भीतर कर्मों का सम्पूर्ण त्याग और प्रवृत्ति मार्ग में ज्ञान की परम उपलब्धि के अनन्तर भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्तव्य कर्मों के निरन्तर करते रहने की आवश्यकता बतलायी गयी। इनमें से पहले को 'ज्ञान निष्ठा' और दूसरे को 'कर्म योग' की अभिधाएं प्राप्त हुईं।[३२]

हमारी दृष्टि बराबर पूर्व-मीमांसाकार जैमिनि के शब्दों में उस विधि पर रही जिससे लोक सार्थक हो, साथ ही परलोक की साधना भी सफल हो। धर्म का यही तात्पर्य है[३३] जिसका उल्लेख व्यास ने इन शब्दों में किया है—'जिस धर्म से अर्थ और काम दोनों की सिद्धि होती है उसकी साधना आवश्यक है, किन्तु

३१ मनु० २,९४

३२ गीता ३,३

३३ 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'—वैशेषिक सूत्र

कितना आश्चर्य है कि मेरे भुजाएँ उठाकर और इस तत्त्व का उद्घोष करने पर भी मेरी बात सुनने को लोग तैयार नहीं हैं।[३४]

चतुवर्ग के चिन्तन ने चार आश्रमों को जन्म दिया था जिनमें क्रमशः ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास की सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यास से बहुत पहले प्रतिष्ठा हुई थी। इन आश्रमों में सबसे पहले आश्रम में शरीर, मन, और बुद्धि को शुद्ध और संवर्धित कर गार्हस्थ्य आश्रम के लिए तैयार किया जाता है। दूसरे आश्रम में काम और अर्थ की धर्मानुकूल वृद्धि और उपभोग, परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रति विभिन्न कर्तव्यों का विधिवत् पालन मुख्य है। वानप्रस्थ आश्रम में घर से निकल कर मोक्ष की विशेष तैयारी के लिए लोक सेवा और चिन्तन में समय लगाने का विधान है। आत्मसिद्धि प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष सब भूतों का कल्याण सोच सकता है। यह संन्यास अथवा कर्मत्याग का निवृत्ति मार्ग है।

संन्यास और कर्मयोग दोनों निष्ठाओं में ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान अनिवार्य है। परन्तु यह ज्ञान मार्ग अत्यंत कठिन है।[३५] इसलिए मुक्ति का द्वार सबके लिए खोल देने के लिए भक्ति मार्ग की अवतारणा हुई जो आगे चलकर इस संस्कृति का अभिन्न अंग बना। भक्ति से अंत में पूर्ण ज्ञान हो जाता है। परमेश्वर का आश्वासन है कि जो प्रीतिपूर्वक अनन्य मन से उसका भजन करते हैं उसे वह मोक्षदायक ज्ञान प्रदान कर देता है।[३६] भक्ति मार्ग का उद्देश्य और अंतिम स्वरूप सदा एकरस ही रहा है पर रुचि की विचित्रता से उसकी शाखाएं, प्रशाखाएं हो गयीं।

धर्म और सम्प्रदायों के नाम पर विवाद और झगड़ों की जड़ काटनेवाला एक महामन्त्र ऋग्वेद में यह आता है कि सत् अथवा परमेश्वर एक है और विप्र अथवा ज्ञानी जन उस एक को विविध रूपों में वर्णन करते हैं।[३७] उपासना अर्थात् भक्ति के विविध भेदों का यही मूल है। वस्तुतः अमूर्त (Transcendant), तदनन्तर, व्यक्त मन, प्राण इत्यादि की उपासना से आगे चलकर मनुष्य रूपधारी अवतारी पुरुषों की भक्ति की धाराएं फूट निकलीं। ज्ञान और भक्ति एवं इनके अवान्तर रूपों की जड़ में यह सिद्धान्त है कि लोगों की रुचियाँ भिन्न हैं, उनके बौद्धिक तथा नैतिक स्तर किसी में कम और किसी में अधिक विकसित हुए

---

३४ म० भा०, स्वर्गारोहणपर्व ५, ६२

३५ गीता १२, ५

३६ गीता १०, १०

३७ 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ऋ० १. १६४. ४६

रहते हैं। इसलिए मनुष्य के अधिकार भेद के अनुसार उसके कर्तव्यों के रूप में भी भेद करने पड़ते हैं।

'जिस प्रकार नदियाँ अनेक मार्गों से बहती हुई समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं और उनके नाम-रूप के भेद मिट जाते हैं उसी प्रकार विद्वान् अपनी-अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार क्रमशः नाम-रूप-रहित एक ही सत्यस्वरूप परमात्मा में लीन होते हैं।'[३८]

---

३८ यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ मुं० उ० ३. २ ८.

अध्याय २

सामाजिक विकास क्रम में पुरुष और स्त्री

संसार की कुछ सभ्यताओं में बहुत समय तक यह माना जाता था कि स्त्रियों में आत्मा अथवा रूह नहीं होती। परन्तु भारत में प्रारम्भ से यह मान्यता रही है कि जो आत्मा पुरुष में है वही नारी में भी अवस्थित है और उसका साक्षात्कार करने के लिए वह स्वतंत्र है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि ईश्वर की भक्ति से स्त्री, शूद्र और नीच से नीच भी परम गति को प्राप्त होते हैं।[१] इससे साफ पता चलता है कि जब एक ही आत्मतत्व पुरुष और स्त्री दोनों में है, मूलतः दोनों एक हैं।

इस विचारधारा की पुष्टि में वैदिक साहित्य में यह विचार मिलता है कि पुरुष प्रजापति के अत्यंत समीप है।[२] इतना ही नहीं, पुरुष प्रजापति ही है।[३] यहाँ पुरुष शब्द में स्त्री का भी समावेश समझना चाहिए। अनीश्वरवादी यह मानते हैं कि जड़ प्रकृति के खेल से सृष्टि उत्पन्न होती है, ईश्वर नाम का कोई तत्त्व उसका कर्ता नहीं है।[४] परन्तु इसके विपरीत वैदिक स्थापना यह है कि चेतन स्वरूप परमेश्वर ही उसका स्रष्टा, पालक और संहर्ता है तथा उसकी सत्ता से ही सृष्टि की भी सत्ता है। ऐसा 'सुबालोपनिषद्' में एक स्थान पर आया है कि सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने आत्म-स्वरूप के आधे अंश से पुरुष को तथा आधे अंश से स्त्री को उत्पन्न किया। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी यह प्रतिपादन है कि एक अद्वितीय परमात्मा को दो होने की इच्छा हुई, वह ऐसा हो गया जैसे स्त्री और पुरुष एक दूसरे से सम्यक् रूप से सटे हों। उसने अपने इस स्वरूप को दो कर डाला जिससे पति और पत्नी हुए।[५]

उपनिषदों की यह विचार-पद्धति धर्मशास्त्रों और पुराणों में भी मान्य

---

१ गीता ९,३२
२ शत० ब्रा० ४.३.४.३
३ वही ६.२.१.२३
४ गीता १६,८
५ बृह० उप० १.४.३

हुई। सृष्टि-विषयक चर्चा मनुस्मृति के आरम्भ में कुछ और विस्तार के साथ हुई जहाँ यह कहा गया कि हिरण्यगर्भ ने अपने शरीर के दो भाग किये जिसमें आधे से पुरुष और आधे से स्त्री की रचना हुई।[६] स्वेच्छामय प्रभु अपनी इच्छा से द्विविध रूप हो गया, जिनमें बाएँ भाग से वह स्त्री रूप हुआ और दाहिने भाग से पुरुष कहलाया और ऐसा उसने 'योग' अथवा सृष्टि रचने की अपनी दैवी शक्ति से किया।[७] इस प्रकार देवी भागवत की धारणा ने पुरुष और स्त्री विषयक एकता को विचारकों में प्रतिष्ठित किया। और वाल्मीकीय रामायण में उसके पहले के सब विचारों का एक प्रकार से आकलन कर दिया गया। पुरुष और नारी का भेद दिखाते हुए इस संस्कृति के अमूल्य साहित्य ग्रंथ में यह कहा गया कि शास्त्रों तथा विभिन्न वेदों का निष्कर्ष यह है कि नारी का मूल स्वरूप पुरुष से भिन्न नहीं है।[८]

आगे चलकर लौकिक साहित्य के सर्जक दार्शनिक महाकवि कालिदास ने सृष्टि रचयिता द्वारा आत्म स्वरूप से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति बतलाते हुए अपनी मूर्ति के भेद करके सृष्टि की इच्छा से नर और नारी के सृजन को काव्य में स्मरण किया (कुमारसंभव २.७) और रघुवंश के आरम्भ में ही इस तथ्य के आधार पर पार्वती और परमेश्वर को जगत् का कारण मानकर उनकी वन्दना की। (रघु०, १.१)। शिल्प में अर्ध नारीश्वर की रसात्मक कल्पना भी इसी ऐक्यपरक तथ्य पर आधारित है।

लौकिक व्यवहारों में हिन्दुओं के यज्ञों तथा समस्त धार्मिक कृत्यों में पत्नी को पति के बाएँ आसन पाने की जो प्रणाली प्रचलित हुई उसका आधार यही सिद्धान्त है कि स्त्री आत्म-तत्त्व के वाम भाग अथवा अंश से उत्पन्न हुई है जिससे उसे वामांगना कहते हैं।

सृष्टि विषयक तत्व-निरूपण में स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति का जो मूलाधार एक ही माना गया है उसका निर्वाह भी उच्च कोटि के साहित्य एवं महापुरुषों के जीवन-चरित में पाया जाता है। यह उत्पत्ति एक साथ तुल्य अंश से और चैतन्य स्वरूप तत्त्व से हुई है। इस दर्शन अथवा विचारधारा को मान लेने पर हम ऐसे निर्णयों पर पहुँचते हैं जो बड़े महत्त्व के हैं। भारतीय दर्शन नानात्व के भीतर इकाई को खोजता है, उसकी ओर सबको प्रवृत्त करके अंत में एकमय हो जाने की प्रेरणा देता है। संसार में प्रकृति में भेद अथवा नानारूप तो हैं

---

६ मनु० १.३२

७ दे० भा० २.२७

८ वा० रा०, किष्किन्धा कांड २४.३८

ही, उस भेद में अभेद को, नाना रूप में एक, अद्वितीय, अरूप को निर्दिष्ट करना इसकी विशेषता है। जब स्त्री और पुरुष का मूल आधार एक है, फिर जाति रूप से स्त्री और पुरुष का संघर्ष कैसा ? दोनों के पृथक्-पृथक् युद्ध कैसे ? दोनों के सम्बन्ध विघटन नहीं, संघटन को बढ़ानेवाले होने चाहिए। उनके कार्य विरोध की भावनाओं से नहीं, सहयोग की भावना से अनुप्राणित होने चाहिए। इससे जीवन-साहित्य के अमूल्य ग्रन्थों में जिनका उद्देश्य जीवन को सर्वांगीण बनाना है स्त्री और पुरुष को रथ के दो पहियों की उपमा दी गयी है और कहा गया है कि दोनों पहियों के समान रूप से चलने पर संसार रूपी रथ पर बैठकर जानेवाले स्थान पर पहुँच सकते हैं। सारी पृथ्वी को कुटुम्ब समझनेवाले प्राचीन विचारकों को किसी भी रूप में स्त्री और पुरुष के प्रति पक्षपात की भावना से धर्मसूत्रों का नियमन करने का आरोप न केवल असत्य है बल्कि उनके प्रति अन्याय भी है। जिनके मन में इस तरह के सन्देह उठते हैं उनकी विचारशीलता में त्रुटि है अथवा आधुनिक अर्थमय विचारों और प्रवृत्तियों के कारण वे अपनी सारी खीझ और अदूरदर्शिता उन विचारकों के ऊपर प्रकट करते हैं। ये धारणाएँ बिलकुल तथ्यहीन और हीनतासूचक हैं। इससे पारिवारिक उपेक्षा और सामाजिक वर्ग-संघर्ष को प्रश्रय मिलता है। यह स्थिति अपने उस आदर्श से कितनी दूर है जिसमें मनुष्य को देवताओं तक के सहयोग से अपने व्यवहार चलाने की शिक्षा दी गयी है। (दे० गीता ३. १०. ११)

परन्तु प्रतीक के रूप में स्त्री और पुरुष के एक स्वरूप होने का तात्पर्य यह नहीं है कि प्राकृतिक भेद से जो अनिवार्य और प्रत्यक्ष हैं उनके सभी व्यवहार भी समान हों। दोनों की शरीर रचना, आकृति और प्रधानतया यौन भेद के कारण इनमें एक दूसरे से भिन्नता अवश्य है। ये ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण दोनों के कार्य क्षेत्रों में बहुत कुछ अन्तर पड़ जाता है, अर्थात् कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें जितनी सुगमता एवं कुशलता से स्त्री कर सकती है उस प्रकार पुरुष से सम्भव नहीं है। इसी तरह कुछ काम ऐसे होते हैं जहाँ नारी की अपेक्षा पुरुष की विशेषज्ञता के प्रयत्न इतने निश्चित हैं कि उसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। इस हेतु प्रकृति के स्वभावानुसार स्त्री और पुरुष के कार्यों के विभाग हो जाते हैं। उन्हें धर्मशास्त्रों में उनके सामान्य धर्म की संज्ञा दी गयी है। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि स्त्री के कार्य जैसे शिशु-पालन तथा गृह-कार्यों का प्रबन्ध इत्यादि घर के भीतर हैं और कृषि, सैनिक सेवा जैसे उद्योग पुरुषों के उपयुक्त हैं जिनका क्षेत्र घर के बाहर है; यद्यपि प्रत्येक साधारण धर्म अथवा नियम के विलोम होते हैं और जैसा इतिहास से ज्ञात होता है विशेष परिस्थितियों

में स्त्रियों ने अनेक कार्यों को बड़ी योग्यता के साथ संपादित किया है जो प्राय: पुरुषोचित समझे जाते रहे हैं।

परन्तु यह आधुनिक सभी खोजों और वैज्ञानिक धारणाओं से भी सिद्ध हो चुका है कि स्त्री और पुरुष के सभी क्षेत्र सर्वथा समान नहीं हैं। सभ्यता जब तक पूर्णतया यांत्रिक नहीं हो जाती विज्ञान भी उनके कुछ कार्यों को विभिन्न क्षेत्रों में होता देखने का समर्थक रहेगा। प्रत्येक बात में अधिकार और आग्रह की बुद्धि से काम नहीं चलेगा। कर्तव्य के क्षेत्र में कर्तव्यग्राही बुद्धि होनी चाहिए जिसकी सार्थकता संघर्ष में नहीं, प्रयत्न की पूर्णता में है।

इस सम्बन्ध में नीतिशास्त्र यह नहीं कहता कि बुद्धि से काम न लिया जाय और न यही सिखाता है कि नई रोशनी को न आने देने के लिये समस्त खिड़कियाँ बन्द रखी जायँ। महाकवि ने जोर देकर कहा है कि कोई बात पुरानी है इसीलिए वह अच्छी नहीं हो जाती और न केवल नयी होने के कारण त्याज्य है। किसी प्रणाली के अच्छे और बुरेपन को बुद्धि की कसौटी पर कसना चाहिये।

श्रेष्ठ परम्पराओं, मूलभूत आदर्शों और तत्वों को विस्मृत अथवा उपेक्षित करने से संस्कृति का ह्रास होता है। इसलिए इन सभी उपादानों की रक्षा अवश्य होनी चाहिए। इस तरह का प्रयत्न संस्कृति में हुआ है जिसमें स्त्री और पुरुष विषयक मूलभूत एकता या एकरूपता को महत्व दिया गया; उससे उनके अथवा शरीर रचनात्मक प्राकृतिक विभेदों के कारण उनकी कार्य-प्रक्रियाओं और उपलब्धियों में किसी तरह का संघर्ष नहीं हुआ। प्रत्युत जन-जीवन में एक मधुर स्वारस्य का स्थापन हुआ और न केवल धार्मिक कृत्यों में बल्कि सांसारिक व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों में भी कन्धे से कन्धे मिलाकर उन्हें बढ़ते तथा देश कालानुसार एक दूसरे के स्थान की पूर्ति करते पाया जाता है।

अध्याय २

पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध : प्रजनन के सिद्धान्त

पति और पत्नी का सम्बन्ध जो विवाह संस्कार के द्वारा स्थापित होता है एक धार्मिक बन्धन है। इसका आधार एक श्रेष्ठ आदर्श है। अन्य संस्कृतियों की तरह यह सम्बन्ध किसी निबन्ध अथवा एकरार का परिणाम नहीं है। इस आदर्श में काम-तृप्ति अथवा वासना की भावना नहीं बल्कि धर्म साधन इसका मुख्य प्रयोजन है जो आपस्तंब धर्माधिकरण के इस वचन से व्यक्त है कि पति पत्नी का सम्बन्ध धर्म के द्वारा होता है।[1] इस निर्वचन का मूल आधार ऋग्वेद है। विवाह के उपक्रम में पत्नी को संबोधित करता हुआ पति कहता है कि 'मैं सौभाग्य के लिए तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ, शरीर में प्राण रहते तुम्हारा मेरा साथ स्थिर रहे। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि देवताओं ने तुमको मुझे इसलिए दिया है कि इससे गृहपति के कर्तव्यों का संपादन हो।'[2] अथर्ववेद में भी यही बात कही गयी है। यहाँ भी पति पत्नी से कहता है कि 'देवताओं ने गृहपति के कार्यों के निर्वाह के लिए मुझे तुमको दिया है। धर्म के माध्यम से तुम मेरी पत्नी के धर्म का पालन करो और मैं तुम्हारे प्रजापति का।'[3] इसी तरह मनु के अनुसार विवाह प्रणालियों में प्रशस्त प्राजापत्य विवाह के समय कन्या का पिता वर वधू को उद्दिष्ट करके मंत्रोच्चार करता है कि 'तुम दोनों सम्मिलित रूप से धर्मानुष्ठान करो।'[4]

पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों के विषय में वैदिक मत इसे स्वीकार करता है कि यज्ञ प्रधान वैदिक क्रियाओं के सम्पादन में दोनों का समान रूप से अधिकार है। प्राचीन काल में व्यवहार में गार्हपत्याग्नि की प्रतिष्ठा अनिवार्यतः होती थी। विवाह के समय जिस अग्नि के सम्मुख पाणिग्रहण संस्कार किया जाता है उसे पति अपनी भार्या के साथ ले जाकर अपने घर में स्थापित करता है और पत्नी

---

१ आप० २.१३.१२
२ ऋ० १०.८५.३६
३ अथर्व० १४.१.५०.५१
४ मनु० ३.३०

का यह धर्म होता है कि उसे आमरण प्रज्वलित रखे और कभी बुझने न दे। पत्नी उसी से पाक क्रिया करती थी और पति पत्नी सम्मिलित रूप से उसमें प्रातः सायं 'अग्निहोत्र' करते थे। ऋग्वेद के ५वें मण्डल के १७३ वें सूक्त के अनुसार उसमें प्रातः सायं अग्निहोत्र करते थे। पति के पत्नी के साथ देवताओं को हवि अर्पित करने का विधान था।[५] गार्हपत्याग्नि में देवताओं को उद्दिष्ट करके जो हवन सामग्री छोड़ी जाती है उसे हवि कहते हैं। पति पत्नी के इस सहकार्य सम्बन्ध को ध्यान में रखकर स्मृति ने प्रजनन क्रिया के लिए स्त्री की और सन्तान के लिए पुरुष की रचना बतलायी है और श्रुति के अनुसार पत्नी के साथ सामान्य धर्मों का उदय माना है।[६] इस सम्बन्ध की उपमा प्रायः रथ से दी गयी है और कहा गया है कि पति और पत्नी रथ को चलाने वाले अश्व हैं और उनके एक साथ जुड़ने पर ही रथ चल सकता है।[७]

इस धारणा का विकास अवान्तर साहित्य में बड़े स्पष्ट ढंग से इतिहास, धर्मशास्त्र और महाकाव्यों में हुआ है। पति-परायणता पर जोर देने के लिए जब मनु ने यह कहा कि पति शीलहीन हो, कामाचारी हो अथवा गुणहीन हो फिर भी साध्वी स्त्री को उसकी सेवा देवता के समान करनी चाहिए[८] उस समय उन्होंने पति के लिए स्वेच्छाचारिता की छूट नहीं दे दी। इसके विपरीत मनुस्मृति और महाभारत का कथन है कि पति को स्त्री का न केवल पालन बल्कि सम्मान भी करना चाहिये। जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवताओं का वास होता है, जिस कुल में वह समादृत नहीं होतीं उस कुल में ऐश्वर्य नहीं रह जाता और वह निरन्तर क्षय की ओर अग्रसर होता है। जिस स्त्री को जीवन में सुरक्षा और सम्मान मिलते हैं वह वस्तुतः ऐश्वर्यशालिनी है।[९]

शाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति कण्व के इस उपदेशात्मक आदेश में कि पति की बहुमता (मान्या) बनो[१०] इस तत्त्व की सार्थकता है जिसका केवल विधेयात्मक स्वरूप ही नहीं है वह एक यथार्थ तथ्य है।

वैदिक धर्म में सपत्नीक होना अनिवार्य माना गया है। बिना पत्नी के किसी धर्म-कार्य को सम्पन्नता नहीं मानी जाती। तैत्तरीय ब्राह्मण का वचन है कि

---

५ ऋ० ५.१.१७३.२

६ मनु० ९.९६

७ ऋ० ८.३३.१८

८ मनु० ५.१५४

९ म० भा०, अनुशासन ४६.५.९.१५ ; मनु० ३.५७.५८

१० शाकु० ७,२९।

उस पुरुष को यज्ञ का अधिकार नहीं है जिसे पत्नी नहीं है ।[११] पाणिनि ने सम्भवतः इसी आधार पर 'अष्टाध्यायी' में पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है 'जो यज्ञ में पति का साथ दे'।[१२] अथर्व वेद (५.७.३६) में पत्नी से सम्भाषण करता हुआ पति कहता है कि 'हम दोनों की आँखें मधुमय हों, हमारे मुख तेल समान हों, मुझे अपने हृदय में स्थापित करो। हमारे मन एक साथ हों, दाम्पत्य की यह भावना पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्धों को मधुर बनाती है जिसके समकक्ष संसार की अन्य किसी जाति के साहित्य में ऐसी सुन्दर कल्पना नहीं मिलेगी। इस भावना में प्रेम का स्थान यद्यपि मुख्य था, उसकी साधना वासनात्मक न होकर 'धर्मार्थ प्रजोत्पत्ति' के लिए थी। उत्तर वैदिक युग के मान्य आदर्शों में जिनका विशेष सम्बन्ध इक्ष्वाकु वंशी राजाओं से था कालिदास ने भी सन्तान के लिए (प्रजयायै गृहमेधिनाम्) विवाह की उपयोगिता बतलाई है।[१३]

वाल्मीकीय रामायण में सीता और राम के विवाह के वर्णन में कहा गया है कि जब राम अग्नि के अभिमुख बैठे थे उनसे राजा जनक ने कहा कि 'मेरी यह कन्या सीता तुम्हारी सहचरी होती है। इसे स्वीकार करो। यह भाग्यवती पतिव्रता होकर छाया के समान तुम्हारा अनुगमन करे।' यह कहकर राजा ने मन्त्रपूत जल छोड़े।[१४]

तैत्तरीय ब्राह्मण में अपत्नीक को जो यज्ञानुष्ठान का अनधिकारी बतलाया गया अथवा रामायण के उक्त वचन में सहधर्मचारिता का जो सिद्धान्त निर्दिष्ट है उसका निर्वाह राम के चरित्र में पूर्णतः पाया जाता है। सीता की निर्वासितावस्था में यज्ञ के सम्पादन में उनकी स्वर्णमयी मूर्ति अपने पार्श्व में रखना राम के एक पत्नीव्रत का परिचायक होने के अतिरिक्त उक्त आदर्श के परिपालन में उनकी दृढ़ निष्ठा की भी सूचना देता है। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के साथ उसकी राजमहिषी के अभिषिंचन की प्रथा वैदिक थी। रामचन्द्र और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक पर सीता और द्रौपदी का क्रमशः उनके पार्श्व में सिंहासनाधिरूढ़ होना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जो स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की महत्ता के प्रमाण हैं। यह एक महत्त्व की बात है कि भारतीय समाज में इस आदर्श का पालन अद्यावधि होता आ रहा है।

तैत्तरीय ब्राह्मण (३.३.३५) में पत्नी को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया है

---

११ 'अयज्ञीयो वा योऽपत्नीकः'—तै० ब्रा०

१२ अष्टा० ४.१.३३

१३ रघु० १.७

१४ वा० रा०, अयोध्या काण्ड ७३, ३२-३३-३४

और इस विचारधारा का निर्वहन समग्र संस्कृति में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (५.२.१.१०) में जहाँ पत्नी के विना पुरुष की अपूर्णता बतलायी गयी है वहाँ उसका यह अर्थ है कि पत्नी के साथ धर्म में लगे रह कर पुरुष को परमतत्त्व प्राप्त करना चाहिए।

ऋग्वेद से प्रजनन सम्बन्धी कुछ ऐसे तथ्य हमारे सामने आये हैं आधुनिक यौनशास्त्र के उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त (Law of Eugenics) से जिनका आश्चर्यजनक समर्थन होता है। ऋग्वेद (५.३.४.३४) में इस तरह आता है कि पत्नी पति का घर है। वाजसनेय ब्राह्मण में यही बात इस प्रकार कही गयी है कि यह पुरुष आत्मा का आधा ही है जब तक कि वह जाया की प्राप्ति न कर ले और जब तक प्रजोत्पत्ति न करे। उसकी पूर्णता इसी में है। इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मण कहते हैं कि जो भर्ता है वही भार्या है।[१५]

इस विचार को मनुस्मृति में इन शब्दों में रखा गया है कि मनुष्य की पूर्ति तीन के समन्वय से होती है—आत्मा (स्वयं), उसकी स्त्री और सन्तति। जो भर्ता है उसे ही भार्या अथवा अंगना भी कहते हैं।[१६] इस सिद्धान्त से मनुस्मृति ने एक यह भी तत्त्व निर्धारित किया कि 'हम इस धर्म को जानते हैं कि प्रजापति ने पहले ही यह निश्चित कर दिया है कि निष्क्रय और परित्याग के द्वारा भार्या और भर्ता का सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता।'[१७] पति पत्नी की एकता वाल्मीकि की दृष्टि में वेदशास्त्रों का निचोड़ है। उन्होंने यह मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि शास्त्रों के प्रयोग एवं विविध वेदों से यह व्यक्त है कि दारा पुरुष की अनन्य-रूप है और संसार में कन्यादान से बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है।[१८] इस विषय में स्मृति के मत में पुत्र रूप में आत्मा के जन्म लेने का उल्लेख मिलता है। इन मतों का सार तत्त्व जाति की सनातनता है। अंग्रेजी भाषा में इसे ही जाति का अजस्र प्रवाह (Continuity of the race) कहते हैं।

वेदों को ज्ञान का विश्वकोश यों ही नहीं कहते। जाति की जिस अजस्रता का आविष्कार ऋषियों ने अनन्त काल पूर्व किया था उसे आधुनिक युग के प्राणि विज्ञान ने प्रत्यक्ष किया है। इस शास्त्र के पण्डित प्रोफेसर जुलियन एस हक्स्ले अपने एक निबन्ध में लिखते हैं कि 'प्राणमय पदार्थों का एक अत्यन्त स्पष्ट लक्षण यह है कि वे अपने आपको जायमान करते हैं। इतना ही नहीं,

---

१५ वाज० ब्रा०

१६ मनु० ९.४५

१७ मनु० ९.४६

१८ वा० रा० किष्किन्धा काण्ड २४.३८

प्रत्येक प्रकार का जीवधारी पदार्थ सामान्य रीति से स्वयं प्रजायमान होता है। माता पिता के जीव तत्व का अंश यथार्थतः संतति के शरीर का प्रथम आरम्भ है। प्रजोत्पत्ति के सभी प्रकारों में यह सामान्यता होती है कि संतति के आद्य प्रारम्भ की खोज करने पर यह पाया जाता है कि वह प्रजायक का ही पिण्ड है, जिसका आधान वह होता है और फिर वह स्वतः विकास करता है। अक्षरशः वह पुराने स्थूण का ही टुकड़ा है।'[१९]

१९ 'One of the most obvious characteristics of living things is that they reproduce themselves. Not only this, but that every kind of living thing…reproduces itself in the same general way part of the living substance of the parent or parents actually becomes the first beginning of the body of the offspring. ..All methods of reproduction have this in common that the offspring when traced back to its first beginnings is found to be simply a part of the parent which becomes deposited and then grows up, on its own account. It is quite literally a chip of the old block.'–

(Professor Julian Huxley :
The Streams of Life, London 1929).

अध्याय ४

समाज में स्त्री की स्थिति

धर्म ग्रन्थों में स्त्रियों को आदि शक्ति के नाना रूपों में देखने की परम्परा हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में नारी का अभिचित्रण उसके कर्मठ जीवन, त्याग, उत्सर्ग आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके गौरव के सर्वथा अनुरूप हुआ है। स्त्री को माता का आदर न केवल साहित्य की वस्तु रही है समाज के दैनिक व्यवहारों और आचरणों में हम उसे इसी प्रकार पूजनीय पाते हैं। लोगों की सामान्य बोलचाल की भाषा में जहाँ स्त्रियाँ देवी कहलाती हैं पुरुषों को कभी देवता कह कर अभिहित नहीं किया गया। आगे चलकर कुछ नियम पुरुषों की विशेष सुविधाओं को ध्यान में रखकर बनाये गये परन्तु उनका अभिप्राय स्त्रियों की अवहेलना नहीं था। ऐसा कदाचित् विशेष परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार हुआ होगा। इसके लिए पुरुषों की नियामकता अथवा स्वार्थ परायणता की बात करना उपयुक्त नहीं है। समाज में स्त्रियाँ सदैव आदर की पात्र रही हैं।

प्राचीन साहित्य में स्त्रियों को समस्त विद्याओं और कलाओं के साथ देवी का स्वरूप कहा गया है[1] और धर्मशास्त्रों में उन्हें अवध्य माना गया है। स्त्रियाँ किसी भी अवस्था में वध्य नहीं थीं, इस धारणा का उदय समाज व्यवस्था के प्रारम्भ में ही हो गया था जिसका उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' जैसे वैदिक ग्रन्थों में हुआ है। यथा—'स्त्री वैषा यच्छ्रीर्न वै स्त्रियं घ्नन्ति' (शतपथ ११.४.३.२)। शतपथ ब्राह्मण की इस उक्ति में स्त्रियों को श्री संज्ञा से भी अभिहित किया गया है जिससे उनके ऐश्वर्यशालिनी रूप की प्रतिष्ठा हुई है। देवी के जितने रूप हैं उन सभी का आविर्भाव नारी में माना गया है। वह विद्या से सम्पन्न, सामर्थ्यवती, दानशीला, अन्नपूर्णा और अक्षय सुख शान्ति का आगार कही गयी है।

महाभारत में पति का क्षेम चाहने वाली ऋजु स्त्रियों को 'लाक माताएँ' कहा गया है और बतलाया गया है कि उनके कारण ही वनस्पतियों से भरी वसुधा

---

१ विद्याः समस्तास्तवदेवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकलाजगत्सु।
मा० पुराण, दुर्गा सप्तशती ११.६

स्थिर है।[२] जिस देश में स्त्रियाँ कष्ट पातीं वहाँ का शासन असफल माना जाता था। ऐसे अधार्मिक राज्य में प्रजा का सुखी रहना असम्भव है। आदर्श स्त्रियों की स्थिति के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में केकय नरेश अश्वपति का उद्घोष मिलता है जिसके अनुसार उनके राज्य में चरित्र हीन स्त्री का सर्वथा अभाव था। अश्वपति के इस कथन में कि 'न मे स्तेनोजनपदे नकदर्यो न मद्यपः नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'[३] में स्त्री चारित्र्य की प्रतिष्ठा के साथ शासन एवं उच्च कोटि की संस्कृति का आदर्श भी मिलता है। उसमें यह सूचना भी मिलती है कि नारी जाति में स्वैरिता न फैले इस दृष्टि से राज्य का कर्तव्य पुरुषों को कामाचार से बचाना है। इसी प्रकार स्त्रियों पर बलात्कार न करने में राज्य के स्थायित्व का कारण बुद्ध के बतलाये 'अपरिहाणि धर्म' में इस प्रसंग में मिलता है कि बज्जियों के गणतन्त्र राज्य को हड़पने के लिए लोलुप मगध सम्राट अजातशत्रु ने उनसे सलाह ली जिस पर भगवान् बुद्ध ने उसे समझाया कि जब तक बज्जियों में सात गुण वर्तमान रहेंगे उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता। इन्हीं सात में बज्जियों की यह विशेषता थी कि वे अपनी कुल स्त्रियों और कुल कुमारियों पर जोर जबरदस्ती नहीं करते थे।

सामाजिक नियमों की श्रृंखला जब रूढ़ि नहीं हो पायी थी उस समय ऐसी आदर्श स्त्रियों का होना यह बतलाता है कि हमारा उस समय का समाज कितना विकासोन्मुख था।

शासन में स्त्रियों की सुख सुविधा का ध्यान रखने के लिए विभिन्न प्रकार के नियम बने हुए थे। आदर्श रूप में इन नियमों का पालन हमें रामायण की इस व्यवस्था में मिलता है कि जहाँ स्त्रियों के सुख-दुःख पर पूरा ध्यान रहता है वैसे राष्ट्र को सुखी राष्ट्र समझना चाहिए और जहाँ उन्हें कष्ट दिया जाय उनकी जितनी भी निन्दा की जाय कम है।[४]

स्त्रियों की अवध्यता का एक प्रमाण यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम को जाते हुए राक्षसी ताड़का का वध करने के समय स्वयं राम के मन में इस विषय में विमर्श उठ खड़ा होना और उसका काफी चिन्तन के बाद समाधान ढूँढ़ निकालना है।[५] महाभारत में असुर बक के प्रसंग में किसी स्त्री के मुख से राक्षसों को भी धर्मज्ञ होने के कारण स्त्री पर हाथ न उठाने की बात

---

२ म० भा० १३.७८.२३

३ छान्दो० उप० ५.११.५

४ वा० रा०, लंका काण्ड ११४.६५

५ वा० रा०, बाल काण्ड २९.३

कहलायी गयी है।[६] यह एकचक्रा के एक ब्राह्मण परिवार की कहानी है जो बक की बलि होने के लिए विवश था। इसी तरह लंका में प्रवेश करने के समय हनुमान का मार्ग रोकनेवाली नगरदेवी का आख्यान है जिसके अनुसार उन्होंने उसके प्राण न लेकर उसे केवल मूर्छित कर के छोड़ दिया था। आख्यानों के दृष्टान्त अनेक हैं।

मनुस्मृति में स्त्री की हत्या करनेवाले के लिए कठोर राजदण्ड का विधान है। उसके अनुसार राजा के नाम पर कूट शासन करनेवालों, प्रजा में राजद्रोह फैलानेवालों तथा स्त्री, बालक और ब्राह्मणों का वध करनेवालों और राष्ट्र के शत्रुओं से मिल जानेवालों को प्राणदण्ड देना चाहिए।[७]

पञ्चतन्त्र में जिसमें कहानियों के रूप में राजनीति और समाजशास्त्र के आदर्श स्थिर किये गये हैं स्त्री वध को पाप और उसकी रक्षा स्वर्गप्रद बतलायी गयी है।

यह व्यवहार की एक सामान्य बात थी कि लोगों का स्त्रियों को समूह और भीड़ के बीच एवं सामान्यतः मार्ग पर प्रथम निकल जाने की सुविधा देना कर्तव्य माना जाता था।[८] यात्रा में उसे कष्ट में देखकर उसकी रक्षा का उपाय भी एक आवश्यक कर्तव्य समझते थे। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि घाट की चुंगी से स्त्रियाँ मुक्त थीं। और आत्मीय संरक्षकों के अभाव में उनकी सुरक्षा और सुविधा का ध्यान रखना शासन का अनिवार्य कर्तव्य था। जिन अपराधों के लिए पुरुषों को कड़े दण्ड दिये जाते थे, स्त्रियाँ साधारण दण्ड पाकर छुटकारा पा जाती थीं।

स्त्रियों के विषय में शासन के जो कुछ ढीले अथवा व्यक्त रूप में पक्षपात-पूर्ण सूत्र पाये जाते हैं उनके कारण सर्वथा व्यावहारिक थे। इन सूत्रों को स्त्रियों की शारीरिक बनावट, विशेष परिस्थिति की निःसहायावस्था, समाज का बहुत बड़ा बोझ उठा रखने की क्षमता और साथ ही उनके सम्मानित व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर विनियोजित किया गया था।

स्त्रियों के वन्द्य रूप के विषय में 'उत्तर रामचरित' में महाकवि भवभूति ने अपनी मधुमयी वाणी में जनक जैसे ब्रह्मविद् कर्मयोगी से वनवासिनी स्वदुहिता सीता के प्रति कहलाया है कि 'तुम मेरी कन्या हो या शिष्या, यह ध्यान देने की बात नहीं है। तुम्हारा आचरण अपनी पूर्ण परिणति को पहुँचा हुआ

---

६ म० भा०, आदि पर्व १५८.३१

७ मनु० ९.२३२

८ गौतम ध० सू० ६.२१.२२ तथा आप० ध० सू० २.५.११.५९ और म० भा०, वनपर्व १३३.१

है जिससे मुझमें तुम्हारे प्रति विशेष श्रद्धा हो रही है। स्त्री रूपिणी अथवा अवस्था में कम होने पर भी तू जगद्वन्द्य है, क्योंकि गुणियों का आदर उनके गुणों से होता है न कि जाति (लिंग) या अवस्था भेद से।' स्वयं भवभूति के शब्दों में इस भावना का मार्मिक विकास इस प्रकार हुआ है—

'शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा,
विशुद्धे रुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वंद्यासि जगतां,
गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः॥'[९]

जनक ने इसी प्रकार वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती की वन्दना करते हुए और उन्हें उषा की भाँति 'जगद्वंद्या' एवं 'देवीमुषसमिव' बतलाते हुए एक प्रकार से सकल स्त्रियों को, जिनमें सौभाग्य और सौख्य वर्तमान हैं और जो शुद्ध उत्कर्ष वाली हैं, स्मरण किया है।[१०] बाद में आचार्यों ने भी स्त्रियों को मान प्रदान करने में पूर्ण उदारता दिखायी है। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र का अपने शास्त्रार्थ में भारती को मध्यस्थ नियुक्त करना स्त्री-सम्मान का अद्वितीय उदाहरण है। अपनी मेधाविनी कन्या लीलावती के नाम पर अपने गणित के अमूल्य ग्रन्थ लीलावती की रचना करके भास्कर द्वितीय ने इसी गुण का परिचय दिया है। इसी तरह अपने समय के वेदान्त के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक वाचस्पति मिश्र (नवीं शती) ने ब्रह्म सूत्र के ऊपर 'शांकर भाष्य' की 'भामती' टीका अपनी पत्नी भामती के नाम पर रचकर अपनी स्त्री और पर्याय से स्त्री-जाति के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया है।

समाज में नारी के स्थान का निरूपण करने में और उसका यथार्थ स्वरूप दिखलाने में समस्त वैदिक अथवा लौकिक वाङ्मय में केवल प्रशंसात्मक विवरण ही नहीं मिलते, कहीं-कहीं किन्हीं गुह्य आख्यायिकाओं अथवा साम्प्रदायिक धारणाओं के कारण उनकी तीव्र आलोचनाएँ भी मिलती हैं। हमें इस विपरीत पक्ष का भी उल्लेख करके देखना चाहिए कि क्या उन धारणाओं में कुछ तथ्य भी है अथवा ये बिलकुल असम्बद्ध और निराधार हैं। संस्कृत भाषा और उसकी परम्परा से अनभिज्ञ जन बहुधा केवल गोस्वामी तुलसीदास को आलोचना का लक्ष्य बनाकर अपने संकुचित विचारों की अभिव्यक्ति किया करते हैं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि साहित्य में स्त्री के असम्मान में कहे गये वाक्यों की समालोचना बिना उनके सन्दर्भ और पात्रों के अन्तर्भाव को देखे उपयुक्त नहीं है। ऋग्वेद में द्यूत (जुआ) को निन्दा करते हुए ऋषि की

९ उत्तर राम० ४.११
१० वही ४.१०

मर्मभेदी दृष्टि में यह बात कभी शायद उठी ही न रही होगी कि उससे आगे चलकर इतिहासकार द्यूत-क्रीड़ा को समाज का एक साधारण व्यसन मान लेंगे। स्फुट उक्तियों के तात्पर्य को न समझकर तत्सम्बन्धी सूक्तकार अथवा साहित्य की आलोचना करने लग जाना किसी प्रकार उचित नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में कहीं कहा गया है कि 'स्त्रियों का मन व्यर्थ की बातों में लगता है। इससे जो नृत्य या गान में लगे रहते हैं उनमें ये शीघ्र ही परिचय प्राप्त कर लेती हैं।'[११] मैत्रायणी संहिता में एक स्थल पर स्त्री को अनृत करनेवाली, पति के द्वारा क्रीत होकर दूसरों का प्रसंग करनेवाली कहा गया है।[१२] इन उक्तियों से भी बढ़कर तीक्ष्ण विचार कहीं-कहीं पर ऋग्वेद में भी मिलते हैं—वे सच्ची मित्र नहीं कही गयी हैं और उनके हृदय की तुलना भेड़ियों से की गयी है।[१३] ऋग्वेद का वह प्रसंग जिसमें स्त्रियों के ऊपर आक्षेप किया गया है पुरूरवा के मुख से निकला है जिसकी प्रेयसी उर्वशी उसे छोड़कर स्वर्ग चली जाती है। आवेश में आकर पुरूरवा उसे 'भेड़िया' कह देता है। इसी तरह मैत्रायणी संहिता का वह मन्त्र भी जिसमें स्त्री निन्दा हुई है आचरणहीन स्त्रियों के लिए आया है। इसलिए हम इन उक्तियों के कारण सभी स्त्रियों की प्रकृति पर आक्षेप निर्मूल समझते हैं। अच्छी स्त्रियों की प्रशंसा से वैदिक मन्त्रों के स्वर आप्लावित हैं और उनके 'उषा' जैसे स्तवन इसके प्रमाण हैं।

वैदिक स्थापनाओं के आधार पर मनुस्मृति में जहाँ सच्ची स्त्रियों की प्रशंसा पायी जाती है, असाध्वी के बारे में कहा गया है कि 'वह न रूप देखती है न अवस्था, न पुरुष के सौन्दर्य पर झुकती है और न उसके कुरूप होने का विचार करती है, चित्त की प्रवृत्ति के कारण भोग की इच्छा से और स्वभाव से स्नेह-शून्य होकर घर में रोकने पर भी पति के विरुद्ध आचरण करती है।[१४] पुराणों और महाभारत में भी जहाँ कहीं इस तरह के विचार मिलते हैं,[१५] उनसे स्त्रियों के गुण और स्वभाव की इयत्ता नहीं मान लेनी चाहिए। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास के 'बिनु अवसर भयते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई' में हमें सभी नारियों के प्रति सावधान नहीं किया गया है। जहाँ 'ढोल गँवार सूद्र

---

११ शत० ब्रा० ३.२.४.६

१२ अनृतं स्त्री अनृतं वैपा करोति या पत्युः क्रीता सती अथान्यैश्चरति।
—मैत्रा० सं०

१३ न वै स्त्रैणानि सख्या सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः। ऋ० १०.९५.१५

१४ मनु० ९.१४.१५

१५ म० भा० १३.७३.१७; पद्म पु०, स्त्री खण्ड ४९.२०

पसु नारी' को दण्ड देने का विधान गोस्वामीजी ने निरूपित करने का प्रयत्न किया है वहाँ भी उसका प्रसंग देखकर हमें उसकी आलोचना करनी चाहिए। मर्यादावादी वैरागी की उक्ति होने के कारण जिनका ध्येय समाज की आदर्श व्यवस्था था इस कथन के भीतर अवस्थित आरोप को क्षमा करना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि समाज को फटकार बताने में तुलसी और कबीर एक थे। कदाचित् मध्ययुगीन सन्तों की समाज को सुव्यवस्थित बनाने के लिए उसे फटकारते रहने की एक परम्परा चल पड़ी थी। उनकी अटपट बानियों का यही रहस्य जान पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण में आदि कवि ने कैकेयी के स्वार्थ परायण स्वभाव का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि वैसा स्वभाव सभी स्त्रियों का हो, ऐसा नहीं है—'धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थ परायणाः। न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरः ॥'[१६]

जिन ग्रन्थकारों ने स्त्रियों के केवल दोष गिनाये हैं उनकी दृष्टि अवश्य एक-पक्षीय और संकुचित थी। मनुष्य के भीतर जिस तरह की कमजोरियाँ पायी जाती हैं वे प्रायः स्त्री और पुरुष में समान रूप से होती हैं। अतः स्त्री निन्दा के आधार पर कोई सच्चरित्र बनने का अधिकारी नहीं है और न आचार की प्रतिष्ठा के लिए स्त्री-निन्दा साधन ही है।

काममूलक वासनाओं और विचारों को रोकने की ओर कुछ विचारकों ने इतना अधिक ध्यान दिया कि समाज के एक बड़े अंश पर उसका प्रभाव सदा अच्छा ही नहीं पड़ा बल्कि प्रवृत्तियों और भावनाओं के 'पर्युत्थान' (Sublimation) और कामवासनाओं के नियंत्रण के रूप में स्त्रियों के प्रति अनुदार विचारों में कोई भेद ही न रहने दिया। उन्होंने प्रवृत्ति मार्ग की भी निन्दा की और इसके लिए यह आवश्यक था कि वे समस्त भोगों, ऐश्वर्यों और स्त्रियों की निन्दा करते। ऐसे विचारकों की वराहमिहिर (५०५-९७ ई०) ने बड़ी भर्त्सना की है। उसके अनुसार जिन लोगों को स्त्रियों के केवल दोष दिखायी देते हैं और गुण दिखायी नहीं देते, वे असाधु हैं और उनका कथन सद्भावना द्योतक नहीं है।[१७] वराहमिहिर यथार्थवादी थे। उन्हें स्त्री निन्दा सहन नहीं हुई। उन्होंने ऐसे विचारकों को फटकारते हुए कहा है कि 'शास्त्रों में यह बतलाया गया है कि न स्त्री-पुरुष का व्यतिक्रमण करे और न पति पत्नी का। परन्तु जब पुरुष को इसकी चिन्ता नहीं, फिर स्त्री श्रेष्ठ है। काम की पूर्ति सौ वर्षों में भी नहीं होती। उससे पुरुष उस समय निवृत्त होता है जब उसमें शक्ति का अभाव होने लगता है।

१६ वा० रा०, अयोध्या काण्ड १२.१००
१७ वराहमिहिरः बृहत्संहिता ७४.५

स्त्रियाँ धीरज से काम लेती हैं और पाप से विमुख रहती हैं। एकान्त में पुरुष कामिनी को प्रसन्न करने की चेष्टाएँ करता है परन्तु वह कृतज्ञता के लिए इन बातों को गोपनीय रखती है। दुष्ट व्यक्ति निष्पाप स्त्रियों की बुराई करते हैं।'[१८] वराहमिहिर की तरह भवभूति ने कुछ इसी तरह की उपाधियों से स्त्री-निन्दक पुरुषों को स्मरण किया है। ग्रन्थकारों की रचना की विशिष्टताओं पर ऊटपटांग आक्षेप करनेवाले स्त्री-निन्दक दुर्जनों के समान हैं,[१९] यह उसका कथन है।

काम मूलक प्रवृत्तियों को जीतने के लिये दार्शनिक एवं योगमार्गी धर्मग्रन्थों और शास्त्रों के साथ-साथ बौद्धों तथा सिद्धों और जैनियों के अनेक सिद्धान्तों में स्त्री-निन्दा विस्तार से की गयी है। मनु ने इसके लिए स्त्री निन्दा को साधन न मानकर अपनी माता, बहिन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त में आसन न ग्रहण करने का नियम बना दिया है और इसका कारण यह बतलाया है कि 'इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वे ज्ञानियों को भी वश में कर लेती हैं।'[२०] एक चीनी ग्रन्थकार ने स्त्रीनिन्दा से बचने के लिए यह उक्ति रखी है 'जब हम यह सोच लेते हैं कि बिना माता के इस संसार में कोई नही आया हमारी धारणा अत्यन्त उदार हो जाती है और हम निन्दा करने का साहस नहीं करते।'[२१] ये विचार बहुत सम्भव है महात्मा गांधी के इस कथन से लिये गये हैं कि मातृ पद को ग्रहण कर लेने पर नारी अपने चरित्र के विषय में निःशंक हो जाती है। स्वयं गांधीजी 'मातृवत्परदारेषु' वाली शिक्षा के समर्थक और अनुयायी थे जिसमें हमारे समाज शास्त्रियों की स्त्री-विषयक शालीन दृष्टि का पर्यवसान हुआ है। वस्तुतः साहित्य में जहाँ स्त्री के दोष गिनाये गये हैं पुरुषों पर भी आरोप मिलते हैं। इसका एक उदाहरण हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के उस प्राकृत अंश में मिलता है जहाँ मालविका पर अग्निमित्र का अनुराग देखकर उसकी रानी इरावती आवेश में आकर पुरुषों को अविश्वसनीय बतलाती हुई और यह कह कर कि' व्याध के गीत सुनकर हरिणी जिस तरह अपनी सुध खोकर निश्चेष्ट होकर उसके जाल में फँस जाती है उसी प्रकार मैं इनकी प्रवंचनामय बातों में आकर इनके फन्दे में फँस जाऊँगी यह मैं नहीं जानती

---

१८ वही ७४

१९ भवभूति : उत्तर रामचरित

२० मनु० २.२१४

२१ No man can speak disparagingly if he realises that no one has come into the world without a mother.—
Lin U Tang : Importance of Living.

थी"[२२] इस प्रकार पुरुष में वंचना का आरोप करती है। इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य की थेरी गाथाओं में भी थेरियों द्वारा दुष्ट पुरुषों की पर्याप्त निन्दा हुई है।

शास्त्रों के अनुसार सही दृष्टि वह थी जिसमें पुरुष का स्त्री पर और स्त्री का पुरुष पर निराधार आरोप करना मान्य नहीं था। वासनाओं को रोकने का एक उदाहरण चीनी यात्री इत्सिंग (सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने भारत भ्रमण वृत्तांत में नालन्दा के राहुल मित्र नामक भिक्षु के आख्यान में दिया है जो अपनी माता और बहिन के सिवाय अन्य किसी स्त्री की ओर आँख नहीं उठाता था। सांसारिक रागों से भरे होने के कारण उसने ऐसा अपनी इन्द्रियों को वश में रखने के लिए आवश्यक समझा था और स्वयं अपने ऊपर संयम रखकर उसने सचाई का आदर्श रखा। धार्मिक व्यवस्थाओं में इसी तरह इन्द्रिय निग्रह पर अधिक जोर दिया गया है; स्त्री अथवा पुरुष विषयक आरोपों को समग्र रूप से उनके सामान्य आचरण या प्रवृत्ति का विधान नहीं बनाया गया।

कन्या उपेक्षिता नहीं

स्त्री की सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में बहुचर्चित इस धारणा पर भी विचार करना चाहिए कि भारतीय संस्कृति में कन्या वांछित नहीं मानी गयी है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम वेदों में उपलब्ध प्राचीनतम कथनों पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। अथर्व वेद का मंत्र उद्धृत कर जिसमें गर्भस्थ कन्या को पुत्र में परिणत करने का विधान हुआ है एक लेखक ने यह अनुमान किया है कि वह मंत्र जिस समय की रचना है उस समय कन्या की उत्पत्ति अच्छी नहीं मानी जाती थी।[२३] किन्तु वह निष्कर्ष बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि गर्भ की स्थिति के विशेषज्ञ कन्या अथवा पुत्र की उत्पत्ति निश्चयपूर्वक बतला सकते हैं एवं यह तथ्य है कि उपयुक्त उपचार से गर्भ का स्वरूपपरिवर्तन सम्भव है। यह व्यक्तिगत सुविधा और आवश्यकता पर निर्भर है कि कोई पुत्र अथवा कन्या की कामना करे। इससे स्पष्ट है कि उक्त मन्त्र में जहाँ गर्भस्थ जीव को कन्या से पुत्र में परिवर्तित करने की विधि बतलायी गयी है उससे कन्या मात्र की अवांछनीयता का आरोप नहीं हो सकता। स्वयं उसी लेखक ने ऋग्वेद के एक मन्त्र का यह

---

२२ मालविकाग्नि मित्र, अंक ३ : 'अविस सणीआ पुरिसा। अत्तणो वंचण वअणं पमाणी करिअ आक्खिताए वाहजण गीद गहीद चित्ताए विअ हरिणीए एदं ण विण्णदं मए'।

२३ बी० एस० उपाध्याय : विमेन इन ऋग्वेद

तात्पर्य बतलाया है कि द्यावा और पृथ्वी की उपमा दो बहिनों से दी गयी है और उन्हें अपनी माता और पिता के अंग का भूषण कहा गया है[२४] जो कन्या के जन्म की सराहना है। इस मन्त्र से द्यावा और पृथ्वी को कन्याओं के रूपक में दो कन्याओं का जन्म बहुत अच्छा माना जाने का बोध होता है। इस बात का समर्थन इस स्पष्ट उल्लेख से होता है कि 'वह पुरुष धन्य है जिसे कई पुत्रियाँ हों'[२५] और ऋग्वेद के इस मन्त्र से कि 'पुत्र से पिता को जो आनन्द मिलता है वही पुत्री से माता को, बल्कि उससे भी अधिक'[२६] कदाचित् यह मंत्र यथास्थिति का परिचायक है।

चिन्तन प्रधान उपनिषदों में भी इस वेदोक्त भावना की व्यञ्जना हुई है। वृहदारण्यक उपनिषद् में विदुषी और आयुष्मती पुत्री पाने के लिए घी में तिल और चावल पकाकर खाने की विधि कही गयी है।[२७] मनुस्मृति में पिता के उत्तराधिकार (दाय) का जो भाग पुत्री को देने का विधान है उसका हेतु ध्यान देने योग्य है। 'पुत्री को पुत्र के समान समझना चाहिए' ऐसा उसका आदेश है जिसका कारण यह बतलाया गया है कि 'जिस प्रकार आत्मा पुत्र रूप से उत्पन्न होता है उसी प्रकार वह पुत्री के रूप में भी जन्म लेती है।'[२८] महाभारत में संन्यास लेने की अनुमति उसी गृहस्थ को है जिसने अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए सभी कर्तव्यों को पूरा कर लिया है और इन कर्तव्यों में अपनी पुत्रियों का विवाह कर देना भी सम्मिलित है।[२९]

विवाह की चिन्ता ने ही कदाचित् इस सम्बन्ध में ऐसी व्यंजनाओं को जन्म दिया जिनसे कुछ विद्वानों ने समाज में कन्या-उपेक्षा की धारणा कल्पित कर ली! इस कल्पना के लिए पंचतंत्र का एक वाक्य बहुधा प्रयुक्त किया जाता है। पंचतन्त्र के कथन—'पुत्रीति जाता महतीति चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः। दत्तासुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम्'[३०]—अर्थात् कन्या के उत्पन्न होते ही बड़ी चिंता घेर लेती है—इसे किसे देंगे यह महान् वितर्क उपस्थित हो जाता है। दे देने पर भी वह सुखी होगी अथवा नहीं।

२४ ऋग्वेद १.१८५.५
२५ ऋग्वेद ६.७५.५ इषुधि परक (सा॰भा॰)
२६ ऋग्वेद ३.३१.१.२
२७ बृ॰ उप॰ ६.४.१७
२८ मनु॰ ९.१३०
२९ म॰ भा॰, उद्योग पर्व ३६-३९
३० पंचतन्त्र १.२२२

सचमुच कन्या का पिता होना ही कष्ट है—ने उक्त धारणा को अच्छा हथकंडा सुलभ कर दिया है।

डॉ० अल्तेकर ने इस कष्ट का समाधान इस तरह किया है कि पिता की चिंता पुत्री के पालन-पोषण में लग जाने के कारण स्थायी नहीं रहती और वह उसे हर प्रकार योग्य बनाने में लग जाता है।[३१] पंचतन्त्र की पुत्री विषयक चिंता की चर्चा करते हुए कन्या जन्म को समाज में दुःख का कारण समझे जाने की बात डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी के 'प्राचीन भारत के इतिहास में' भी देख पड़ती है।[३२]

सम्भवतः अल्तेकर के समाधान में समाज की भावना की सही अभिव्यक्ति हुई है; तथापि जिस प्रसंग में पंचतंत्र का कथन प्रयुक्त हुआ है उस पर ध्यान देने पर कन्या- पितृत्व को कष्टमूलक मानने की प्रवृत्ति में अतिशयोक्ति देख पड़ेगी। किसी राजा की अविवाहिता पुत्री के अवरोध-गृह में रहने पर भी किसी जार के जाल में फँसकर भ्रष्ट-शील हो जाने के रहस्योद्घाटन से उसके पिता का अत्यन्त क्षुब्ध मनस्ताप उक्त उद्‌गार में उमड़ पड़ता है और उसके उपरान्त ही वह कह पड़ता है कि—

'नद्यश्च नार्यश्च सदृक् प्रभावा
स्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम्
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः'[३३]

अर्थात् नदियों और नारियों का समान प्रभाव होता है, उनके कूल और कुल समान हैं, नदियाँ जल से अपने तटों को और नारियाँ दुष्कर्म से अपने कुलों को गिरा देती हैं। पंचतन्त्र के इस विचार में चिरन्तन भारतीय विचार-धारा का अनुसरण हुआ है जिसमें स्त्री-चारित्र्य प्राचीनों की परम चिंता का विषय रहा है। इस पृष्ठभूमि में क्षुब्ध पिता के उद्‌गार में कन्या-जन्म को सर्वथा अवांछनीय मानना एकांगी दृष्टि होगी। यों विवाह की चिन्ता और 'सामर्थ्य से बाहर दहेज' के कारण लोकगीतों तक में पुत्री जन्म से घर की विषम परि-स्थिति का अभिचित्रण हुआ है। एक भोजपुरी लोकगीत में यह परिस्थिति इतनी पराकाष्ठा को पहुँच गयी है कि पुत्री के जन्म के समय सास और ननद ने घर

---

३१ डॉ० ए० एस० अलतेकर : पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन।
३२ डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ४०।
३३ पंचतंत्र १.२२३

में अँधेरा रहने दिया और पति ने सीधे मुँह बात नहीं की। जब पुत्री के विवाह की बात चली उस समय मन में यही विचार हुआ कि किसी को पुत्री न हो। लड़की की माँ यह कहती है कि यदि वह पहले से जानती कि कन्या जन्म लेने-वाली है और उससे संताप होगा फिर उसे गर्भ में पलने ही न देती और कड़वी मिर्च 'मरिचझरार' के सेवन से उसे मार डालती।

इस लोकगीत में मातृ-व्यथा का कारण पुत्री के प्रति माता में वात्सल्य का अभाव नहीं है, बल्कि ये उद्गार दहेज प्रथा के दुष्परिणाम के द्योतक हैं जिनसे समाज शताब्दियों से पीड़ित चला आ रहा है और जिसने अनेक बुराइयों को जन्म दिया। इससे यह कहना कि समाज में लड़कियाँ अवांछित हैं उचित नहीं। न यह तर्क से सिद्ध है और न किसी प्रकार बुद्धि इसे स्वीकार करने को तैयार है। पिता के वात्सल्य का आदर्श हर युग की एक मान्य आस्था रही है जिसके कारण रामायण में जनक ने कहा है कि 'जिस सीता को मैं प्राणों से बढ़कर चाहता हूँ उसे राम को सौंपकर मेरी वीर्य-शुल्क की प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।'[३४] हमारे यहाँ सनातन से यह विश्वास रहा है कि पुत्र अपने पिता, पितामह इत्यादि पितरों को नरक से तारता है और इसी प्रकार दौहित्र अपने नाना को। महाभारत में गांधारी का उदाहरण पुत्री की अभिलाषा का प्रतीक है जिसने सौ कौरवों को जन्म देकर 'कन्या-स्नेह' के निमित्त एक कन्या के जन्म की इच्छा की थी। ✓ उसका यह भी मत था कि कन्या से पुत्र होकर उसके पति (धृतराष्ट्र) का उद्धार करेगा।[३५] यह धार्मिक विश्वास आज तक हिन्दू समाज में प्रचलित है। इसकी प्रतिष्ठा महाभारतकालीन राजवर्ग में ही नहीं थी समाज में ऊँचे-नीचे सभी वर्गों में यह मान्यता वर्तमान थी। एकचक्रा के एक निर्धन किन्तु विचार-शील ब्राह्मण ने जिन शब्दों में अपनी कन्या को असुर बक की भेंट होने से रोका और कुटुम्ब की रक्षा के लिए उसके आग्रह को अस्वीकार किया था वे पुत्री के प्रति पिता के वात्सल्य भाव का चित्रण करने के साथ ही समाज की एक सामान्य स्थिति का बोध कराते हैं। उसके इन शब्दों में स्वयं महाभारतकार के विचारों की प्रतिध्वनि पायी जाती है कि 'यद्यपि कुछ मनुष्यों का अधिक स्नेह पुत्र में होता है और कुछ पुत्री को अधिक चाहते हैं किन्तु मेरे लिए दोनों समान हैं।'[३६] तत्कालीन समाज में कभी-कभी जिन्हें पुत्र नहीं होते थे उनका विशेष अनुराग कन्या पर दिखायी देता है। इसीलिए कुन्ती को पुत्री रूप में अपने

३४ वा० रा०, बालकाण्ड ६७.२३
३५ म० भा०, आदि पर्व ११६.९.११
३६ म० भा०, आदि पर्व १५७-३७

सम्बन्धी शूरसेन से लेकर कुन्तिभोज ने अत्यन्त स्नेह से पाला था और मणिपुर के राजा चित्रवाहन ने अपनी एकमात्र सन्तान चित्रांगदा को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया था।

वात्सल्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण महर्षि कण्व का है जिन्हें अपने आश्रम में पाली हुई पुत्री शकुन्तला को दुष्यन्त के पास विदा करते समय आत्म-स्वरूप का ज्ञान भूल-सा गया था और भाव की आर्द्रता में आँसुओं को रोकने की क्षमता नहीं रह गयी थी। उनके इस कथन में कि 'आज शकुन्तला चली जायगी यह सोचकर मुझ जैसे वनवासी का चित्त व्यग्र हो रहा है, फिर कन्या-विछोह सामान्य गृहस्थों के लिए कितना असहनीय है'[३७]—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया
कंठः स्तम्भित वाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः—

समाज की सच्ची अवस्था का परिचय मिलता है। भारतीय संस्कृति में कन्या कितनी मान्य है इसके लिए शास्त्र के महत्तम व्याख्याता व्यास ने समग्र महाभारत सुनने का एक मधुर फल भाग्यशालिनी कन्या का जन्म निर्दिष्ट किया है।[३८]

इस प्रश्न के समाधान से समाज और नारी के चित्र का संश्लिष्ट रूप सामने आता है जिसकी छाप समग्र भारतीय संस्कृति पर पड़ी है जिससे सभ्यता के विकास में अत्यधिक सहायता मिली है। संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों और उपादानों में हम स्त्रियों के व्यष्टि एवं समष्टि रूप से उन्नति करने और सभ्यता को आगे बढ़ाने के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

---

३७ शाकुन्तल २.६
३८ म० भा०, स्वर्गारोहण पर्व ५-५२

अध्याय ५

मातृत्व : शिशु संरक्षण, संस्कार और माता का आजीवन मार्ग-दर्शन

'वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयांसि'—ऋ० ५.४७.६ माताएँ अपने पुत्र के लिए कपड़े बुनती हैं और शिशु के लिए सुविचारों और सत्कर्मों की शिक्षा देती हैं।

वस्तुतः मनुष्य को ईश्वर ने जो ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं उन्हें वह प्रारम्भ से ही काम में ले आने लगता है। शिशु उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से अपने भीतर ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करता है जिसके कुछ तत्त्व बुद्धिगम्य और कुछ अनुभवात्मक होते हैं यद्यपि अनुभव भी बुद्धि का एक आवश्यक अंग है। यह ज्ञान अनेक संवेदनाओं और प्रतिक्षण की घटनाओं के प्रभाव से जन्य होने के कारण संस्कार को जन्म देने में प्रधान कारण होता है। संस्कारों का संघात शिशु को विकसित करता है। वातावरण का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा में बुद्धि, संस्कार और वातावरण का इतना तीव्र संवेद्य प्रभाव होता है कि आज के शिक्षा-शास्त्री उनके एकीकरण सम्बन्धी तत्वों की खोज में बराबर लगे हुए हैं और विभिन्न पद्धतियों पर जोर दे रहे हैं।

शिक्षा के विषय में कौटिल्य का मत है कि पाँच वर्ष की अवस्था तक पुत्र का प्यार-दुलार करना चाहिए। उसके पश्चात् दस साल तक उसे कठोर अनुशासन में रखना चाहिए और जब वह आयु के सोलह वर्ष में प्रवेश करे, उसके साथ मित्र के समान वर्ताव करना चाहिए। इससे यह अनुमान निकलता है कि कौटिल्य के मत में विद्यालयीय शिक्षा के आरम्भ के लिए छठवाँ वर्ष उपयुक्त है। परन्तु अधिक मान्य मत स्मृतिकारों का जान पड़ता है जिनकी व्यवस्था के अनुसार साधारणतः ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में कर के गुरुकुल भेज देना चाहिए। उनके मत में वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश का समय आयु का आठवाँ साल उपयुक्त है। बालक तथा बालिका दोनों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाँचवें वर्ष की समाप्ति पर प्रायः बालकों के पाठशाला में प्रवेश के लिए सामान्य नियम बन

गये हैं और आधुनिक शिक्षा-शास्त्री विद्यारम्भ के लिए इस अवस्था को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त मानते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्र के अन्तर्गत समाज अथवा शासन का कोई भी प्रयत्न माता के सांस्कारिक शिक्षण का स्थान लेने में अक्षम है। माता द्वारा बात बात में दी गयी शिक्षा और प्रत्येक उलझन से बचने के उपाय ही नहीं, उलझनों में पड़ जाने पर उनसे छुटकारा पाने और हर प्रकार की सुख-सुविधा का ध्यान वह आवश्यक कर्तव्य है जिसकी ओर उदासीन न होते हुए भी राष्ट्र उस सीमा तक कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ हो जाता है। राष्ट्र के सामने इतनी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं कि अनेक बड़े प्रश्नों के बीच दैनिक जीवन की छोटी छोटी बातों और समस्याओं की ओर उसका ध्यान नहीं जा पाता। वातावरण का प्रभाव संस्कार रूप में इतनी दृढ़ता से पड़ता है कि शिशु की प्रारम्भिक अवस्था से ही उस पर ध्यान रखना चाहिए। इस वातावरण की पवित्रता और उसका सहज स्नेह से भरा होना बच्चे में दृढ़ विश्वास, कार्यक्षमता और निश्चिन्तता आदि गुणों का सृजन करता है। माता से इस प्रकार के जो संस्कार बीज रूप में जम जाते हैं उससे उसका शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक हर तरह का विकास होता है।

बच्चा माता के दूध के साथ ही मातृभाषा सीख लेता है। इसमें पुत्र-पुत्री का भेद नहीं है। दोनों को ही समान स्नेह और मनोयोग उससे मिलता है। पिता प्रत्येक दिशा में सन्तान के प्रति अपना कर्तव्य करने के साथ-साथ शिशु के आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों को घर के वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। परन्तु वह शिक्षा जो साधन-सम्पन्न राष्ट्र भी देने में असमर्थ रहता है माता अपनी स्वाभाविक क्षमता से देती है। इस कर्तव्य का पालन वह शिशु के गर्भ में आने के समय से ही करने लगती है। उसी क्षण से शिशु की रक्षा का भार उसके ऊपर पड़ता है। गर्भ-स्थिति में माता उसका प्रधान अवलम्ब होती है।

आधुनिक विचारकों ने शिशु-पालन को यद्यपि स्त्री-शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान दिया है तथापि व्यावहारिक रूप में उसके अनुसार समाज में कोई व्यवस्था स्थापित नहीं हो पायी है। अनेक पढ़ी-लिखी नवयुवतियों में मातृत्व के प्रति उदासीनता के भाव देखने में आते हैं और कहीं कहीं यह भाव-उपेक्षा का भी रूप ग्रहण कर लेता है। स्वास्थ्य-शास्त्र के अनुसार माता का दूध अमृत और महान औषधि है और सक्षम होते हुए भी उससे शिशु को वंचित करना अपराध है। यदि साधारण पढ़ाई द्वारा यान्त्रिक मनुष्य का गठन ही शिक्षा का

ध्येय हो तो इन आरम्भिक दिनों की उपेक्षा की जा सकती है। परन्तु मनुष्य का लक्ष्य इससे भिन्न और बहुत ऊँचा है और इसलिए शैशव अवस्था और उसके वातावरण की अवहेलना नहीं की जा सकती। जैसा हम कह चुके हैं यह बात स्पष्ट है कि इस वातावरण को पवित्र तथा शिशु के लिए उपयोगी बनाने में सबसे बड़ा और प्रभावयुक्त हाथ माता का है और इसीलिए कहते हैं कि माता आद्य गुरु है। इससे एक बात यह निष्पन्न होती है कि स्त्रियों की शिक्षा में शिशु-पालन की शिक्षा को विशेष स्थान देना चाहिए, क्योंकि शिशु बालिका ही किसी दिन मातृत्व पद को ग्रहण करती है।

धीरे-धीरे लोग समझते जा रहे हैं कि शिक्षा में घर के वातावरण को महत्व-पूर्ण स्थान देना चाहिए। प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने इस विषय की विशेष रूप से गवेषणा की है। आधुनिक शिक्षाविद् इस बात पर या तो विचार ही नहीं करते अथवा इसे अनावश्यक समझते हैं कि जन्म के पूर्व की स्थिति पर भी ध्यान देना चाहिए। परन्तु जिस संस्कृति का यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जीव यों ही नहीं उत्पन्न होता बल्कि पूर्व जन्मों के उपार्जित संस्कार लेकर गर्भ में प्रवेश करता है उसमें इन बातों को बहुत महत्व दिया गया है एवं अनेक धार्मिक संस्कारों को आवश्यक बतलाया गया है। प्रारम्भिक संस्कार गर्भाधान है जिसका प्रयोजन रज-वीर्य के दोष को शुद्ध करना और गर्भ में उत्तम संस्कारों का बीजा-रोपण माना गया है। गर्भावस्था में माता के माध्यम से गर्भस्थ जीव पर जो विविध संस्कार पड़ते हैं तथा जन्म के पश्चात् वातावरण के द्वारा जो संस्कार पड़ते हैं वे चिरस्थायी होते हैं और पाठशालीय शिक्षा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इसे शिक्षा के अन्तर्गत समझना तथा सांस्कारिक शिक्षा कहना चाहिए।

इस सम्बन्ध में धाय की उपयोगिता पर ध्यान देना चाहिए। यह बात नहीं है कि धाय का रखना कोई बुरी बात है। अच्छी धात्रियों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे उसका स्वस्थ, कुलीन, अच्छे आचरणवाली और कर्तव्य-परायण होना धाय के आवश्यक गुण प्रतीत होते हैं। पन्ना जैसी धात्रियाँ बहुत नहीं मिलेंगी जिसने अपने कर्तव्य पालन के लिए अपने बच्चे के प्राणों का मोह न कर संग्राम सिंह के लड़के उदयसिंह के स्थान पर अपने बच्चे को सुलाकर आत-तायी बनवीर के क्रूर हाथों से उसकी रक्षा की थी। पन्ना एक अभिजात राजपूत वंश की लड़की थी। इसी प्रकार रघुवंश में कालिदास ने भी राम, लक्ष्मण आदि कुमारों के लिए धात्रियों का उल्लेख किया है।[१] और उनके पहले दिलीप के

१ रघु० १०.७८

द्वारा रघु के लिए धाय के प्रबन्ध का वर्णन किया है जो रघु को आचार सिखाया करती थी। अत्यन्त अल्प अवस्था में रघु मस्तक झुकाकर बड़ों को अभिवादन करना सीख गये थे[२] जो अच्छी धात्री की शिक्षा का परिणाम था।

वस्तुतः अशिक्षित एवं असंस्कृत धाय (आया) जो आधुनिक समाज में कई संभ्रान्त घरों में एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है शायद ही कभी अच्छे गुणों का संचार कर पाती हो। वात्सल्य की उसमें कोई विशेष भावना सोचना तो अकल्पनीय है ही शुद्धाचार और कुल की मर्यादा की रक्षा और उसकी शिक्षा देने की उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती।

साहित्य में वात्सल्य एक शृंगार है। शिशु संरक्षण के लिए वात्सल्य अत्यन्त आवश्यक है। साहित्य में जहाँ मातृ-वत्सलता के उदाहरण मिलते हैं, पिता द्वारा धूल-धूसरित अपनी सन्तान को देखकर महर्षि कश्यप के आश्रम में पलता हुआ भरत जो दुष्यन्त से विस्मृत की गयी शकुन्तला के साथ आश्रम में बढ़ रहा था, सहसा दुष्यन्त द्वारा उसके आत्म-सम्बन्ध की अनभिज्ञता में भी स्नेह से गोद में उठा लिया जाता है। उस समय शिशु भरत सिंह के बच्चों के साथ खेल रहा था। दुष्यन्त के मुख से कवि ने यह कहलाया है कि 'यह चञ्चल बालक मुझे न जाने क्यों बड़ा प्यारा लग रहा है, वे लोग धन्य हैं जिनकी गोद में फूल की कली के समान कुछ-कुछ छलकते हुए दाँतोंवाले, अवर्णनीय ढंग से तुतला कर बोलने वाले और अपने सारे अंग में धूल लपेटे हुए शरीर से खेलनेवाले बच्चे उनकी गोद को मलिन करते हैं—'

आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीय वचःप्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनी भवन्ति[३]॥

महाभारत में उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हुए भीष्म की जीवन-संध्या को लक्ष्य कर अर्जुन की इस उक्ति में कि 'जब मैं बचपन में पितामह को तात कहकर बुलाता तो ये यह कहकर कि 'मैं तुम्हारा तात नहीं तुम्हारे पिता का तात हूँ', मेरा बड़ा दुलार करते थे' स्नेह की स्वाभाविक वृत्ति की व्यञ्जना पायी जाती है। इसी तरह सन्तान-स्नेह की स्निग्धता का एक हृदयग्राही वर्णन महाकवि भवभूति ने उत्तर रामचरित के एक आख्यान की कल्पना में किया है

२ रघु० ३.२५
३ शाकुन्तल ७.१७

जिसके अनुसार कुछ समय के लिए लवकुश का भी जंगल में भगवती सीता से विछोह हो गया था। उस समय उनकी बारहवीं वर्षगाँठ के अवसर पर उनका स्मरण होते ही माता के स्तनों से दूध की धारा बह चली। कवि की इस वाणी में लोकजीवन का एक मार्मिक भाव अभिव्यक्त हुआ है—'अन्तःकरण तत्वस्य दंपत्योः स्नेह संश्रयात्। आनन्द ग्रन्थिरेको यमपत्यमिति पठ्यते।'[४]

वात्सल्य के साथ जिस विशेष गुण की आवश्यकता का माता अनुभव करती है वह सुविचारों की शिक्षा एवं अच्छे संस्कारों की छाप है जिसका मुख्य प्रयोजन बच्चे का सर्वाधिक कल्याण है। जीवन में प्रत्येक बात को अपने अनुभव से जानने के अभ्यस्त महात्मा गांधी के निम्नलिखित विचार यहाँ दे देना उपयुक्त होगा। 'मैं अच्छी तरह अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं'[५] और 'मैं अनुभव से यह कह सकता हूँ कि बालक की शिक्षा की शुरुआत तो माता के उदर से ही शुरू हो जाती है। गर्भाधान के समय की माता-पिता की स्थिति का प्रभाव बच्चे पर अवश्य पड़ता है। माता की गर्भ-कालीन प्रकृति, माता के आहार-विहार के अच्छे-बुरे फल को विरासत में पाकर बच्चा जन्म पाता है। जन्म के बाद वह माता-पिता का अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो असहाय होता है, इसलिए उसके विकास का दारोमदार माता-पिता पर ही रहता है।'[६]

विकास की अवस्था

गर्भावस्था में जीव पर संस्कार पड़ते हैं और उनका प्रभाव जीवन में प्रतिफलित होता है इसके अनेक दृष्टान्त भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध हैं। इसका एक साहित्यिक उदाहरण भवभूति के उत्तररामचरित में मिलता है। लक्ष्मण ने सीता और राम के विश्रामगृह में एक कुशल कलाकार से एक भित्ति चित्र बनवाया। एक समय जब दोनों वहाँ विश्राम कर रहे थे लक्ष्मण ने प्रवेश किया और उनका ध्यान उस चित्र की ओर आकर्षित किया। उसके एक दृश्य को देखकर सीता ने बड़ी उत्सुकता के साथ लक्ष्मण से यह जानना चाहा कि ये दोनों कौन हैं जो परस्पर सटे हुए आर्य पुत्र (राम) की स्तुति कर रहे हैं। लक्ष्मण ने विनय-पूर्वक उत्तर दिया 'देवि! ये मन्त्र युक्त जृंभक अस्त्र हैं। भगवान् कृशाश्व ने इन्हें विश्वामित्र को दिया था और ताड़का वध के अवसर पर विश्वा-

---

४ उत्तर राम० ३.१७

५ महात्मागांधी : आत्मकथा, अष्टम संस्करण, पृ० ३९

६ वही, पृ० २३५

मित्रजी ने इन्हें आर्यपुत्र को दिया।' उस समय सीता गर्भवती थीं और इस चित्र-दर्शन का गर्भ पर ऐसा अमिट संस्कार पड़ा कि लव और कुश को जन्म से ही जृंभक अस्त्र के संप्रयोग और संहार का विज्ञान मालूम था। इनका लालन-पालन और शिक्षा दीक्षा वाल्मीकि के आश्रम में हुई थी परन्तु कहीं यह वर्णन नहीं आता कि वहाँ पर जृंभकास्त्र की शिक्षा इन बालकों को मिली थी। बाद को जब इसी आश्रम में राम के अश्वमेघ के घोड़े को इन ब्रह्मचारियों ने पकड़ लिया और अयोध्या की सेना से उनका भयंकर युद्ध हुआ उस समय इसी अस्त्र से सारी सेना को लव ने चेतना-शून्य कर दिया था।[७]

प्रह्लाद में भक्ति का बीज उनकी गर्भावस्था में ही पड़ा था। श्रीमद्भागवत में यह कथा आती है कि नारद ने प्रह्लाद की गर्भवती माता को भक्त वत्सल भगवान के गुणानुवाद बड़े मनोयोग से सुनाये थे और उन्हें गर्भस्थ प्राणी ने घूँट घूँट पी लिये थे।[८] इसी प्रकार महाभारत में और्व ऋषि का वर्णन आता है। किसी समय बहुत से क्षत्रियों ने मिलकर भृगुवंशियों का समूलोच्छेद कर देने की ठान ली। उन्होंने एक-एक करके बड़ी क्रूरता के साथ उनका नाश किया जिससे उनकी स्त्रियों के करुण क्रन्दन से पशु पक्षी भी रो पड़े। इन्हीं में एक स्त्री गर्भवती थी जिसके गर्भ पर इस महा विलाप का भयंकर प्रभाव पड़ा। जन्म लेते ही बच्चे ने उन क्षत्रियों को मिटा देने का विचार प्रकट किया। किन्तु उसके क्षमाशील पितरों ने उसकी मनोदशा को जानकर अदृश्य रूप से उसकी प्रतिशोध की अग्नि को शांत कर दिया। यही शिशु आगे चल कर और्व ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ[९]। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ क्षमा के अवतार तथा ब्रह्मबल के धनी माने गये हैं जिनके जीवन की एक विचित्र घटना के प्रसंग में गर्भ की स्थिति में संस्कार के प्रभाव पर प्रकाश पड़ता है। वसिष्ठ के सौ पुत्रों की शत्रुओं ने हत्या कर डाली जिससे उन्हें अत्यन्त पुत्र-शोक हुआ और उन्होंने प्राण त्याग कर देने की ठान ली। अपने प्राण देने के लिए वे पर्वत की चोटी से कूदे, धधकती आग में प्रवेश किया और प्रबल वेग से बहती हुई व्यास तथा सतलुज (शतद्रु) की धाराओं में अपने को फेंक दिया। परन्तु पृथ्वी उनके लिए कोमल हो गयी, अग्नि शान्त हो गयी और नदियों की गति सहसा मन्द पड़ गयी। अपनी मृत्यु को अपने वश में न देखकर वे अपने आश्रम को लौट पड़े। वहाँ से वे थोड़ी ही दूर पर रहे होंगे कि पीछे से वैदिक स्तवन सुनकर

---

७ उत्तर राम०

८ भाग० ७.७

९ म० भा०, आदि पर्व, अ० १७८-१७९

आश्चर्य में पड़ कर उन्होंने पूछा 'यह शक्ति के स्वर में मिलती जुलती वेद-ध्वनि कहाँ से आ रही है।' शक्ति वसिष्ठ के एक पुत्र का नाम था जिसे उसके दूसरे भाइयों के साथ शत्रुओं ने मार डाला था। उसकी विधवा का नाम अदृश्यन्ती था जो गर्भवती थी और मुनि के स्वागत के लिए उनके पास पहुँच कर उनके पीछे चल रही थी। उसने उत्तर दिया 'तपोनिधि! यह शक्ति के दिये हुए गर्भ की वेद-ध्वनि है। इसकी मैं बारह वर्षों से रक्षा करती आ रही हूँ।'[१०] बात यह थी कि शक्ति जब वेदाध्ययन करता था गर्भवती अदृश्यन्ती उसे ध्यान से सुनती थी और स्वरों के संस्कार गर्भ पर पड़ते जाते थे। इस दृष्टान्त से यह प्रकट होता है कि गर्भ पर स्वरों का आघात होता है जिससे संस्कार बनता है। इसी प्रकार महाभारत में गर्भ के बोलने तक का उल्लेख पाया जाता है। महर्षि उद्दालक के शिष्य कुहोड़ अत्यन्त गुरुभक्त और मेधावी थे। इसलिए उनसे उद्दालक ने बहुत प्रसन्न होकर उन्हें बहुत थोड़े समय में वेदों में पारंगत करके अपनी कन्या व्याह दी। समय आने पर जब वह गर्भवती हुई एक दिन उसके भीतर से ये शब्द बाहर सुनायी पड़े 'पिता जी! आप रात भर वेदाध्ययन करते हैं परन्तु जैसा चाहिए वैसा आपको बोध नहीं होता।'[११] कुहोड़ वेदाभ्यास करते थे और उनकी स्त्री मन लगाकर सुनती जाती थी। पिता को टोकनेवाला बालक उत्पन्न होकर बाद को महात्मा अष्टावक्र के नाम से विख्यात हुआ जिसके नाम की अष्टावक्र गीता अध्यात्म की एक अमूल्य निधि है।

अभिमन्यु की कथा लोक प्रसिद्ध है। किसी रात अर्जुन ने गर्भवती सुभद्रा को 'चक्रव्यूह' बनाने और उसमें प्रवेश करने की विद्या सुनायी, पर उस समय जाने अजाने उसे यह सुनाना शेष रह गया कि किस योग से चक्रव्यूह के भीतर से सकुशल बाहर निकल सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जन्म के पश्चात् अभिमन्यु को चक्रव्यूह तोड़ कर उसके भीतर घुसने का ज्ञान तो बना रहा पर उसे बाहर निकल जाने की कला ज्ञात न थी। युद्ध में जिस दिन द्रोणाचार्य ने दुर्योधन को दिये गए अपने एक भीषण वचन को पूरा करने के लिए चक्रव्यूह की रचना की उसकी विद्या के ज्ञाता श्री कृष्ण और अर्जुन मुख्य युद्ध-स्थल से दूर संशप्तकों के साथ युद्ध में फँस गये थे, या यों कहना चाहिए कि एक चाल चल कर विपक्ष ने उन्हें उलझा दिया था। इधर द्रोणाचार्य ने महाप्रचंड रूप धारण कर पांडव सेना का विनाश करना आरंभ

१० म० भा०, आदि पर्व, अ० १७७.१२.१५
११ म० भा०, वन पर्व, १३२.१०

कर दिया था। युधिष्ठिर की सेना में केवल अभिमन्यु को चक्रव्यूह का ज्ञान था। संहार से बचने के लिए बड़ी अन्तर्वेदना के साथ धर्मराज युधिष्ठिर ने सोलह वर्ष के इस वीर शिरोमणि युवा को चक्रव्यूह तोड़कर सेना की रक्षा करने का आदेश दिया। जिस अप्रतिम शौर्य और रण कौशल से अभिमन्यु ने द्रोणाचार्य की सेना में घुस कर उसका सर्वनाश आरंभ किया, उससे उसे अजेय देखकर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण इत्यादि सात सेनानायकों ने अकेले अभिमन्यु पर युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर एक साथ आक्रमण किया और वह वीराग्रणी अंतिम दम तक शत्रुओं के छक्के छुड़ाता रहा जो शौर्य के इतिहास की एक अमर गाथा है।[१२]

प्राचीन गर्भ-विद्या के विशेषज्ञ यह अच्छी तरह जानते थे कि गर्भ पर माता के द्वारा अनेक प्रकार के संस्कार पड़ते हैं और इनका प्रभाव अमिट होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महाभारत का उपसंहार करते हुए व्यास ने महाभारत सुनने के जहाँ कई उत्तम परिणाम बतलाये हैं यह अनुरोध किया है कि गर्भवती स्त्री को उसका श्रवण करना चाहिए। इससे उसे पुत्र अथवा भाग्यशालिनी कन्या उत्पन्न होती है।[१३] विदुला के आख्यान में भी यह सूचना मिलती है कि यदि गर्भवती स्त्री इस आख्यान को सुना करे तो वह निश्चय वीर पुत्र को जन्म देगी।[१४] ऐसे कथानक सुनने का फल इसी लिए बतलाते हैं कि गर्भिणी स्त्री ध्यान पूर्वक जो कुछ सुनती है वह गर्भ के हृदय पर सीधे जाकर जम जाता है। गर्भ-स्थिति में एक ऐसा समय आता है जब गर्भ के हृदय में गति आती है और उसके तथा माता के हृदय में पृथकता का अभाव सा होता है। इसीसे माता को दौहृदिनी अथवा दो हृदयवाली कहते हैं।

यह आवश्यक है कि गर्भावस्था में माता तथा गर्भ दोनों के शरीर और मन की बड़ी सावधानी के साथ रक्षा हो। इसके लिए वातावरण स्वस्थ, पवित्र और सांस्कृतिक होना चाहिए। गर्भवती को सत्संग और सुविमल विचारों की सुविधा प्रदान करनी चाहिए। उसके आवास सदन में सुरुचिपूर्ण, मनोरंजक और उपदेशप्रद साहित्य तथा संत महात्माओं, वीरों और त्याग शीलों के चित्रों की सजावट करनी चाहिए तथा बुरे मनुष्यों की दृष्टि से उसे सर्वथा बचना चाहिए एवं वीभत्स, कुरुचिपूर्ण चित्र अथवा साहित्य से सदैव दूर रहना चाहिए।

---

१२ अधिक विवरण के लिए देखिए धर्मराज युधिष्ठिर, तृतीय संस्करण १९५७, श्री गोविन्द मुद्रणालय, बुलानाला, वाराणसी

१३ म० भा०, स्वर्गारोहण पर्व, ५.५२

१४ म० भा०, उ० पर्व, १.३६.१९

दुराचार की प्रवृत्ति बढ़ानेवाले अथवा उद्वेगकारी सिनेमा इत्यादि से गर्भावस्था में विशेष हानि की आशंका है। गर्भवती को क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए इसका उसे ज्ञान होना एक आवश्यक बात है।

आधुनिक समय में विज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ जान पड़ता है और शरीर विज्ञान तथा प्राणि-विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई है, किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में ही हमारे यहाँ इन विषयों की बड़ी छानबीन हुई थी, जिसका सार अनुभव के आधार पर साहित्य में वर्तमान है। इस प्रकार का विज्ञान हमें गर्भोपनिषद् में मिलता है जिसमें यह वर्णन आता है कि जीव का प्रवेश गर्भ के सातवें महीने में होता है, आठवें मास में वह सब लक्षणों से युक्त हो जाता है और नवें महीने में उसमें सभी ज्ञानेन्द्रियां सम्पूर्ण हो जाती हैं। इस समय जीव को अपने पूर्व जन्मों के कृत, अकृत एवं शुभ और अशुभ कर्मों का स्मरण हो आता है। गर्भ के कष्टों का अनुभव करता हुआ जीव सोचता है कि एक बार इन से छुटकारा पालूँ तो ऐसे कर्म करूँगा जिससे पुनर्जन्म के जाल में न पड़ूँ।[१५]

याज्ञवल्क्य स्मृति के आरंभ में याज्ञवल्क्य को योगीश्वर के नाम से स्मरण किया गया है। उन्हें नाड़ियों का विशद ज्ञान था। जीव के गर्भ में आने और उसके क्रमशः विकास का उन्होंने विवरण विस्तारपूर्वक दिया है कि जीव की उत्पत्ति का कारण आधिभौतिक नहीं आध्यात्मिक है। स्त्री पुरुष के संयोग होने पर शुद्ध शुक्र तथा शोणित के सम्मिश्रण पर पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन तत्वों अथवा धातुओं को स्वयं प्रभु ग्रहण करता है।[१६] यह विचार गीता के इस सिद्धान्त से मिलता है कि जीव ईश्वर का अंश है।[१७] जीवोत्पत्ति का क्रम याज्ञवल्क्य के अनुसार इस प्रकार है कि पहले महीने में पृथ्वी इत्यादि पंच तत्वों में क्षीर नीर की तरह घुली मिली हुई द्रव दशा रहती है, दूसरे मास में कुछ कुछ कठिन मांस पिंड का रूप आता, तीसरे में जीव आकाश से लघुत्व, सूक्ष्मत्व, शब्द, श्रोत्र, बल इत्यादि आकाश के गुण, अग्नि से दर्शन, पाचन शक्ति, उष्णता, गौर इत्यादि रूप और प्रकाश, जल से रस-ठंडक, चिकनाहट, क्लेद और मृदुता, पृथ्वी से गंध, घ्राण, गुरुता और मूर्ति तथा वायु से उसके गुण स्पर्श, चेष्टा, व्यूहन, रुक्षता इत्यादि को ग्रहण करता है। इसी महीने में गर्भ में हृदय बनता है। इसीलिए गर्भवती स्त्री को दौहृदिनी कहते

---

१५ गर्भ० उप०

१६ याज्ञ०

१७ गीता, १५.७

हैं। इस समय से गर्भ की रक्षा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है। इस अवस्था में गर्भिणी की इच्छाओं को भी पूरी करना अत्यावश्यक हो जाता है क्योंकि ऐसा न करने से उसके हृदय को जो आघात होता है वह गर्भ के हृदय पर भी चोट करता है। उसके विरूप हो जाने तथा मर जाने तक का भय उत्पन्न हो जाता है। गर्भ में हृदय के बन जाने से इसी महीने से पवित्र वातावरण इत्यादि की जो बातें ऊपर लिखी गयीं उनका ज्ञान आवश्यक है।

गर्भ के चतुर्थ मास में स्पन्दन क्रिया होने लगती है तथा जिन अवयवों का निर्माण तीसरे में आरंभ होता है वे चौथे में पुष्ट होते हैं। पांचवें महीने में शोणित की उत्पत्ति होती है तथा छठे में शक्ति, वर्ण, नख और रोम आते हैं। सप्तम मास में गर्भ में अंतःकरण तथा ज्ञान का उदय होता है। वह वायुवाहिनी नाड़ियों तथा वायु, पित्त और कफ वाहिनी स्नायुओं से युक्त होता है। अष्टम मास में त्वचा और मांस का निर्माण होता तथा स्मरण शक्ति जाग्रत होती है। इस समय एक प्रकार का ओज कभी गर्भ को तो कभी गर्भिणी को चंचल करता रहता है। इस चंचलता के कारण आठवें महीने में पैदा हुए बच्चे का जीवन सर्वथा निरापद नहीं होता। नवम अथवा दशम मास में प्रसविणी वायु प्रबल होकर बच्चे को बड़े कष्ट के साथ गर्भाशय से बाहर निकालती है। निरुक्तकार का कथन है कि माता के शरीर से बाहर आते ही जीव का वायु से स्पर्श होने पर वह जन्म मरण तथा पूर्व जन्मों के कर्म भूल जाता है।

गर्भोपनिषद् में यह कथन है कि गर्भस्थ जीव गर्भ में आने का पश्चात्ताप करता है और याज्ञवल्क्य स्मृति में यह बतलाया गया कि उत्पत्ति के अनंतर जीव अपने पूर्व जन्म के संस्कारों को विस्मृत कर देता है। इसका संबंध कर्म विपाक के उस सिद्धांत से है जिसे शास्त्रीय अभिमत प्राप्त है कि शुभ-अशुभ पाप-पुण्य अथवा भले बुरे कर्मों का ही फल जन्म मरण का चक्कर है। यह सिद्धांत वैदिक धर्म तथा उससे निकले बौद्ध और जैन धर्मों में भी मान्य है। वस्तुतः हमारी संस्कृति की मान्यता इतनी ही नहीं है कि गर्भावस्था में जो संस्कार जीव पर पड़ते हैं उनसे वह बाद में प्रभावित होता है, बल्कि वह पूर्व जन्मों के संस्कारों के संघात से भी अछूता नहीं रहता।

ऊपर कहा गया है कि उत्पन्न होने के साथ ही जीव अपने पूर्व जन्मों को भूल जाता है। साधारणतया यही तथ्य है। किन्तु अनेक जात-स्मर देखे जाते हैं, एवं साहित्य के वर्णनों से जानते हैं कि महान् विभूतियों तथा अवतारी पुरुषों को पहले जन्मों अथवा अवतारों की सम्पूर्ण कथाएँ स्मरण रहती हैं। भगवान् बुद्ध को उनके पूर्व जन्मों की कथाओं का स्मरण था। इसी प्रकार

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि 'मेरे और तुम्हारे बहुत जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ तू नहीं जानता'[१८] इस कथन से यह भी प्रकट है कि श्री कृष्ण अर्जुन के जन्मों की बातें भी जानते थे एवं इस प्रकार के महापुरुष दूसरों की पूर्व जन्म-कथाएँ जान सकते हैं। महाभारत में एक अत्यंत गंभीर युधिष्ठिर-अजगर संवाद का वर्णन हुआ है जिससे हम जानते हैं कि अजगर को यह स्मरण था कि वह पूर्व जन्म का राजर्षि नहुप है और अगस्त्य ऋषि के शाप के कारण सर्प योनि में पड़ गया है।[१९] इसी प्रकार श्री मद्‌भागवत् से ज्ञात होता है कि किसी शाप के कारण राजर्षि नृग को कृकलास होना पड़ा था जिससे उनकी मुक्ति श्रीकृष्ण के दर्शन से हुई। इस योनि में उसे स्मरण था कि उसे अपनी एक चूक के फलस्वरूप यह पतित अवस्था प्राप्त हुई थी।[२०]

इन कथाओं पर प्रत्यक्षवादियों को आस्था नहीं हो सकती। परन्तु जात-स्मरों के अस्तित्व से उन्हें भी यह मानने को विवश होना पड़ेगा कि इस जन्म के साथ पूर्वावस्था के संस्कार लगे हुए हैं। अल्पावस्था के शिशु देखे गये हैं जिनके परिवार में अंग्रेजी अथवा संस्कृत का ज्ञाता एक भी व्यक्ति नहीं था और न जिनको मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा को सुनने का अभी तक अवसर मिला, किन्तु वे संस्कृत के श्लोक सुनाते या अंग्रेजी में धड़ल्ले के साथ बोलते पाये गये। ऐसे भी जात-स्मर देखे गये हैं जो किसी ग्राम में उत्पन्न हुए और जब घरवालों ने बिना किसी प्रसंग के उनके मुँह से उनके किसी दूसरे ग्राम अथवा नगर में इसके पहले जन्म लेने की बातें सुनीं तो शिशु के साथ वहाँ जाकर उन बातों अथवा घटनाओं का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त किया जिन्हें शिशु ने व्यक्त किये थे।[२१]

यह विज्ञान से ही सिद्ध है कि रजवीर्य के विकारों का संतान में संसरण होता है और इससे कुष्ट, क्षय, दमा और उपदंश आदि पैतृक रोगों से वह

---

१८ गीता ४. ५

१९ म० भा०, वन पर्व : अजगर-युधिष्ठिर संवाद

२० भागवत० अ० ६४, उत्तरार्ध दशमस्कंध।

२१ पश्चिम में भी पुनर्जन्म विषयक अनुसंधान हो रहे हैं। वर्जीनिया (अमेरिका) विश्वविद्यालय के डॉक्टर स्टेवेन्सन, चेयरमैन डिपार्टमेंट ऑव साइकॉलॉजी ऐंड न्यूयोरॉलॉजी पुनर्जन्म संबंधी जातस्मरों की बातें जानने के लिए भारत भ्रमण पर निकले हैं। उन्होंने छातानगर (मथुरा) के प्रकाशचंद्र वार्ष्णेय के पिता से उसके विषय में पूछताछ की है जिसे कहा जाता है, अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण हैं।

आक्रांत हो जाती है। किसी भी भौतिक पदार्थ जैसे पौधे और खान से निकले हीरे में संस्कार से उत्कृष्टता आती है। इसी प्रकार शास्त्रीय संस्कारों से पैतृक दोष को हटाने का प्रयत्न होता है। परन्तु शारीरिक दोषों के अतिरिक्त इन संस्कारों के द्वारा नैतिक अथवा आध्यात्मिक संस्कार उत्पन्न करने का उद्देश्य भी ध्यान में रखा जाता है। कोई भी महत्व का कार्य ऐसा नहीं जिसके संपादन में सांसारिक कल्याण के साथ पारलौकिक कल्याण पर दृष्टि न रखी गयी हो। इस विषय में मनुस्मृति का कहना है कि 'वेद विहित कर्मों के द्वारा द्विजातियों को क्रमशः गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार करने चाहिए। इससे इहलौकिक तथा पारलौकिक पवित्रता आती है। गर्भाधान, होम, जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ सम्बंधी दोष दूर हो जाते हैं।'[२२]

जिन मनीषियों ने पाश्चात्य सभ्यता के ज्ञानोपार्जन के साथ भारतीय संस्कृति के आधार भूत विचारों और संस्कारों को अपने जीवन में समाविष्ट किया है उन्हें इन संस्कारों का महत्व स्वीकार है। महात्मा गांधी के वे विचार रखे जा चुके हैं जिनमें उन्होंने यह प्रकट किया है कि 'गर्भाधान के समय की माता पिता की स्थिति का प्रभाव बच्चे पर अवश्य पड़ता है।'[२५] इसी प्रकार गांधीजी के ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि ग्यारह व्रतों की मीमांसा पर विचार करते हुए स्वर्गीय राष्ट्रपति डाक्टर राजेंद्र प्रसाद लिखते हैं : 'जीवन के सभी पहलू विचार और गुण तीन श्रेणी में विभक्त किये गये हैं— सत्व, रज और तम—महात्मा गांधी जी के बताये हुए ग्यारह व्रत इसी सिद्धान्त के अनुसार बने हैं। वे व्रत सबके सब नये नहीं हैं। वे हमारे शास्त्रों में बहुत करके पाये जाते हैं। उनका पालन बचपन से ही सिखाया जाता है या यों कहें कि जन्म के पूर्व से ही सिखाया जाता था तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि संतान उत्पन्न करने के कृत्य में भी संयम और नियम बताये गए हैं। स्त्री पुरुष का संसर्ग केवल क्षणिक शारीरिक सुख के लिए नहीं, पर संसार चलाने के लिए भी आवश्यक मानकर वह नियमों द्वारा नियंत्रित किया गया था। इसलिए जो संतान उत्पन्न होती थी वह संयम नियमों के साथ संस्कारी तथा सुसंस्कृत होती थी। संतान का संस्कार एक प्रकार से जन्म के पहले ही, माता पिता के संसर्ग के समय ही, आरंभ हो जाता था। जन्म से मरने

---

२२ मनु० २६-२७

२३ पृ० पिछला ३८

तक और मरने के बाद भी, कितने ही संस्कार हुआ करते थे, जिनका विधान जीवन को सम्पूर्ण बनाने के उद्देश्य से हुआ करता था।'[२४]

माता आजीवन पथ प्रदर्शन करती है—

महाभारत के इस कथन में 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः नास्ति मातृसमो गुरुः'[२५] माता के गौरव की प्रतिष्ठा हुई है एवं माता में भक्ति भावना रखने से मनुष्य यह लोक और परलोक भी जीत लेता है इस उक्ति के साथ माता की भक्ति पिता अग्नि, गुरु और आत्मा के समान करने का उपदेश भी हुआ है।[२६] मनु ने इसी से माता को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। मनुस्मृति में आचार्य उपाध्याय से दस गुना बड़ा, पिता आचार्य से सौ गुना और माता पिता से हजार गुना बड़ी बतलायी गयी है।[२७] इसी प्रकार तैत्तरीय उपनिषद् में दीक्षांत उपदेश में जिन लोगों के प्रति श्रद्धावान रहने की शिक्षा दी गयी है उनमें माता को अग्र स्थान दिया गया है।[२८]

संतान के लिए माता जो भी प्रयत्न करती है—उसकी देखरेख, उसकी मंगल कामना और अपनी स्नेहमयी बुद्धि के अनुसार उसे अच्छे जीवन पथ पर स्थिर रखने का कार्य—उसे वह अपने जीवन भर करती रहती है। जिस तरह स्त्रीत्व की परिणति मातृत्व में है, मातृत्व की आकांक्षाएँ संतान के पोषण में प्रतिफलित होती हैं। माताओं से जीवन में सच्ची प्रेरणाएँ, प्रेम आर सद्भावनाएँ प्राप्त होती हैं। माता की प्रतिष्ठा समस्त स्त्री जाति का सम्मान है। औपनिषदिक विचारकों ने इसीलिए समावर्तन के अवसर पर स्नातक को जहाँ धर्म, स्वाध्याय, वेद, देव और पितृ कार्यों में प्रमाद न करने का आदेश दिया है वहीं उसे आजीवन सच बोलने और मातृनिष्ठ एवं पितृनिष्ठ होने के लिए कहा गया है।[२९]

माता अपनी संतान को किस प्रकार सच बोलनेवाली बना सकती है इसका एक दृष्टान्त छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। उस समय ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश चाहनेवाले को अपने गोत्र का परिचय देना पड़ता था। सत्यकेतु जाबाल नामक किसी बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हुई, उसके

---

२४ राजेन्द्र प्रसाद : बापू के कदमों में, पृ० २१९
२५ म० भा०, शांति पर्व, ३४२.१८
२६ म० भा०, वन पर्व—१५९.१४
२७ मनु० २.१४५
२८ तैत्त० उप०, शिक्षा वल्ली ११.२
२९ वही

अपनी माता जबाला से अपना गोत्र पूछने पर उसने उत्तर दिया कि 'पुत्र! मैं यह नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मैं परिचर्या किया करती थी और मेरी युवाअवस्था में तुम उत्पन्न हुए। इससे मैं यह नहीं कह सकती कि तुम किस गोत्र के हो। जबाला मेरा नाम है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। तुम अपने को सत्यकाम जाबाल बतला देना।'[३०] जबाला चाहती तो अपने आचरण पर पर्दा डालने के लिए किसी कल्पित गोत्र का नाम सत्यकाम को बतला देती। मिथ्या भाषण करके उसका चरित्र भ्रष्ट करना उसने उचित नहीं समझा और अपने चरित्र की दुर्बलता को छिपाकर उसने असत्य का आश्रय नहीं लिया और अपने पुत्र को सत्यवादिता का मार्ग दिखलाकर उसे सन्मार्ग पर चलने का मंत्र दिया। सत्यकाम ने गौतम गोत्रिय हारिद्रुमत के आश्रम में जाकर ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की अभ्यर्थना की और गोत्र विषयक प्रश्न के उत्तर में माता ने जो बात बतायी थी उसे ज्यों की त्यों बतला दी। कुलपति ने भी उसकी अमिथ्या-वादिता से संतुष्ट होकर उसे ब्राह्मण कुमार मान कर अपना शिष्य बना लिया।

ध्रुव को भक्ति के मार्ग पर आरूढ़ करनेवाली उसकी माता सुनीति देवी थी जिसकी मनोरंजक कथा भागवत में इस प्रकार दी हुई है कि राजा उत्तान-पाद के दो रानियाँ सुनीति और सुरुचि थीं। वह सुरुचि पर प्रेमासक्त था जिससे उसने पति को वश में कर रखा था। किसी दिन राजा को सुरुचि के पुत्र उत्तम को लाड़ प्यार करते देख ध्रुव भी जिसका जन्म सुनीति के गर्भ से हुआ था पिता की गोद में जाकर लिपट गया। इस पर सुरुचि का संकेत पाकर राजा ने इस बालक को फटकार दिया और विमाता ने झिड़ककर उससे कहा, राजा की गोद में बैठने के लिए तुम्हें मेरे पेट से जन्म लेना चाहता था। ऐसी इच्छा है फिर पहले तप द्वारा भगवान को प्रसन्न कर उनके अनुग्रह से मेरे औरस पुत्र बनो। ध्रुव यद्यपि एक पाँच वर्ष का शिशु था परन्तु विमाता का व्यंग्य उसे चुभ गया।

सुनीति की ईश्वर-भक्ति असाधारण थी। सौत ने केवल व्यंग्य कसने के लिए ध्रुव को परमेश्वर से वर प्राप्त करने की बात कही थी, किन्तु सुनीति जो तप का प्रभाव जानती थी ध्रुव में सच्ची भगवद्भक्ति जाग्रत करने में प्रवृत्त हो गयी। अंतर्वेदना वैराग्य अथवा भक्ति भाव उत्पन्न करने का प्रायः कारण होती है। इससे लाभ उठाकर उसने ध्रुव के आँसू पोंछ दिए और उससे कहा कि सुरुचि का कहना सच है। तुम को यों समझना चाहिए कि मुझे भार्या तक मानने में राजा को लज्जा आती है। उत्तम की तरह तुम भी राजा की गोद

३० छान्दो० उप० ६.४.२

में खेलना चाहते हो वह अच्छी बात है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्रभु की आराधना करने से न मिले। वह विश्व का कल्याण करने वाला है। उसी की कृपा से ब्रह्मा ने 'परमेष्ठी' की पदवी पायी। तुम्हारे लिए तुम्हारे पितामह मनु ही एक बड़े उदाहरण हैं जिन्होंने अत्यन्त मनोयोग से यज्ञों का संपादन कर प्रभु की प्रसन्नता से असाधारण सुख तथा दिव्य लोक प्राप्त किये। अतः तुम भी अनन्य भाव से उस भक्तवत्सल की शरण में जाओ। माता के इस उपदेश को मान कर ध्रुव ने सच्चे भाव से इतना कठोर तप किया कि उसने ईश्वर को प्रसन्न कर लिया और उत्तानपाद ने उसे राज्य सौंप दिया।[३१]

साहित्य में आजीवन मार्ग प्रदर्शन के ऐसे कितने दृष्टांत मिलते हैं और माता की प्रेरणाओं से संतान की आनुषंगिक उन्नति होती दिखाई देती है। यहाँ हम कुछ थोड़े से और भी उदाहरण देंगे।

ऐसी नारी रत्नों की प्रतिष्ठा भी हमारे देश में अत्यंत हुई है। विदुला की कथा सुनने का माहात्म्य समाज के हृदय में जमा दिया गया है। वह अपने पुत्र की ही पथ प्रदर्शिका न थी। भारतीय नारी मात्र पर वह एक अमिट छाप छोड़ गयी है। उसके चरित्र का प्रभाव कुन्ती पर भी गहरा पड़ा था। इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि मातृरूप में कुंती का स्थान बहुत ऊँचा है। पांडवों के शैशव काल में ही पांडु का देहान्त हो गया, माद्री ने भी उनका सहगमन किया और कुंती पर इन छोटे छोटे बालकों का सारा भार आ गया। उस हिम शिखर पर कुंती साहस का संबल लेकर खड़ी हुई। वहाँ के तपस्वी ऋषियों के साथ वह हस्तिनापुर आयी और उन महात्माओं के प्रमाण पर भीष्म पितामह और धृतराष्ट्र ने बालकों को पांडु के पुत्र मानकर उनके यथोचित पालन तथा शिक्षा की व्यवस्था भी कर दी।

परंतु इससे क्या ! बाहर से पांडवों के लिए सारे सुख साधन सम्पन्न किये गये थे, परन्तु भीतर से उनकी स्थिति निरापद न थी। अब तक दुर्योधन समझता था कि वही विशाल हस्तिनापुर राज्य का एक मात्र अधिकारी है; परन्तु उसकी महत्वाकांक्षा पर पानी फिर गया जब उसने यह देखा कि राज्य का असली अधिकारी उसके मार्ग का कंटक सहसा आ धमका। उस काँटे को जिस किसी तरह उखाड़ फेंकना दुर्योधन का लक्ष्य हुआ और उससे उन बालकों की रक्षा करना माता कुंती का अत्यन्त सतर्कतापूर्ण नित्य का काम हो गया। उसने यह देख लिया कि बालक युधिष्ठिर में असाधारण समझ और गांभीर्य है। इसलिए उसने इस बालक को सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता

---

३१ भागवत० ४.७

बतला दी और निरंतर भय से बचते रहने का उपाय बतलाती रहती थी। पुत्रों को उचित शिक्षा देने में वह कभी चूकती न थी। लाक्षागृह के जलाये जाने पर जब पुत्रों के साथ कुंती एकचक्रा नगर में रहती थी उसने अपने आश्रयदाता ब्राह्मण परिवार की. बकासुर से रक्षा करना अपना धर्म समझा और भीम को प्रेरित करके उसने बक राक्षस का बध कराकर न केवल ब्राह्मण परिवार की, एकचक्रा नगर की भी रक्षा कर ली और पुत्रों को यथार्थ पाठ दिया कि उपकार का बदला कैसे चुकाया जाता है। पांडवों ने भी प्रत्युपकार की शिक्षा को कभी विस्मृत न किया।

विदुला ने स्त्री जाति के लिए जो मातृधर्म की शिक्षा का उदाहरण छोड़ा था उसे कर दिखाने का भी कुंती को अवसर मिला। वह अच्छी तरह से जानती थी कि युधिष्ठिर धर्म के मार्ग से कभी विचलित नहीं हो सकते। साथ ही वह युधिष्ठिर के हृदय को भी पहचानती थी और कभी कभी आशंका करती थी कि वह इतना आर्द्र और कोमल है कि संभव है कि युद्ध के विभीषिका-मय परिणामों को सोचकर युधिष्ठिर क्षात्रधर्म को त्याग कर कहीं भैक्ष्य धर्म संन्यास को न स्वीकार कर लें। जब हस्तिनापुर में श्रीकृष्ण अपने दौत्य में विफल हुए और दुर्योधन का यह कोरा उत्तर पाकर कि सुई की नोंक के बराबर भी भूमि युधिष्ठिर को न दूँगा उपप्लव्य को लौटने लगे उन्हें विदा करते समय कुंती ने युधिष्ठिर को जो मार्मिक संदेश भेजे वे भारतीय नारी के उदात्त भावों के पूर्ण परिचायक हैं। इस संदेश में विदुला के उपदेश को अग्र स्थान देकर उसने प्रकारांतर से उसका महत्व बढ़ाया है।

साधारण लोग काल अथवा परिस्थिति के दास होकर निष्क्रिय हो जाते हैं, उसके प्रवाह में बहते चले जाते है और भाग्य के सहारे बैठे रहते हैं। किन्तु महापुरुष या जिन्हें किसी विशाल राज्य की स्थापना अथवा शासन करना होता है.काल की गति को भी मोड़ देते हैं। ऐसे पुरुषों के निर्माण करने वाली स्त्रियों में विदुला, कुंती और जीजी बाई जैसी माताओं के उपदेश प्रेरणा-प्रद रहे हैं।

यहाँ हमारा तात्पर्य इन कहानियों का विस्तार दिखलाना नहीं है, अपितु प्रासंगिक होने से और ऐतिहासिक सचाइयों के रूप में इनका सदैव महत्व है।

विदुला का आख्यान गीता के समान क्षात्रधर्म, कर्तव्य पालन अथवा कर्म योग की प्रतिष्ठा स्वरूप ही है। विदुला के पुत्र संजय को बालक और असहाय जानकर राज्य के पुराने शत्रु सिंधुराज ने उस पर सहसा आक्रमण

कर उसका राज्य छीन लिया था। युद्ध भूमि से भागकर संजय हताश होकर एक कोने में जा छिपा। विदुला ने उस समय उसे क्षात्र धर्म की ओर प्रवृत्त किया और समर भूमि में पीठ न दिखाकर लड़ते हुए मारे जाने की श्रेष्ठता और उसका मर्म बतलाकर उसकी कुंठित चेतना को जाग्रत किया। उसने संजय के वात्सल्य जन्य मोह अथवा करुणा की ओर तनिक ध्यान नहीं दिया। वह हिमालय की तरह अपने विचारों पर दृढ़ रही और संजय में साहस और स्फूर्ति भरते हुए शरीर और प्राण का मोह त्याग कर उसे आत्मा की अमरता का बोध कराया। उसकी अमर वाणी जाति के उद्बोधन में आज भी सहायक है कि 'उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूति कर्मसु। भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥'[३२] माता की प्रेरणा से संजय ने न केवल युद्ध किया बल्कि सिन्धु-राज को परास्त करके ही लौटा।

महाभारत में जिस तरह विदुला का आख्यान प्रसिद्ध है और स्त्री जाति के लिए मातृ धर्म की शिक्षा के कारण एक पर्व बन गया है कुंती के उदाहरण में भी उसी भावना का प्रसार हुआ है।

महाभारत के दो प्रसंगों का उल्लेख यहाँ आवश्यक है जो कुंती को श्रेष्ठ पुरुषों और स्त्रियों के समकक्ष रखते हैं। अपने अलौकिक व्यक्तित्व और असाधारण वाग्मिता का प्रयोग करके भी जब कृष्ण अपने संधि-संस्थापन के दौत्य कार्य में विफल हो गए और दुर्योधन का 'सूच्यग्रेण न दातव्यं विना युद्धेन केशव' कोरा उत्तर पाकर कुंती से विदा होने लगे, उसने उनके द्वारा युधिष्ठिर को क्षात्रधर्म पर दृढ़ता के साथ चलने की प्रेरणा दी। उसके ये शब्द कि 'यदर्थे क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः'[३३] न केवल वीर क्षत्रियों के लिए बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को कर्तव्य के पालन में प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहने की शिक्षा देते हैं। कुंती ने युधिष्ठिर को कहला भेजा कि शांति से अपना स्वत्व पाने की इच्छा छोड़ दो और अनुकूल समय की प्रतीक्षा में समय नष्ट न करो। राजा अथवा तेजस्वी पुरुष परिस्थितियों का दास नहीं होता वरन् उनका वह स्वयं सृजन करता है। कुंती के इस नीति वचन को महाभारत में इस प्रकार वाक्यबद्ध किया गया है।

'कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम्' ॥[३४]

---

३२ म० भा०, उद्योग पर्व १३५. २९. ३०
३३ म० भा०, उद्योग पर्व १३७.१०
३४ वही १३२.१६

पुत्रों को यह उद्धर्षण देने में कुंती का प्रयोजन अपने अथवा पांडवों के लिए सांसारिक सुख की प्राप्ति न था बल्कि उसका एक मात्र ध्येय अन्याय को मिटाना था, क्योंकि वह धर्म युद्ध करके कौरवों से अपना राज्यांश प्राप्त करना पांडवों का मुख्य कर्तव्य समझती थी। इस बात को कुंती ने पांडवों को दिए गए अपने जीवन के अंतिम उपदेश में स्वयं व्यक्त किया है।

महाभारत युद्ध के पन्द्रह वर्ष बाद बिदुर और गांधारी के साथ धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ की तैयारी की जिस पर युधिष्ठिर बड़े सोच विचार के बाद सहमत हुए। उनके साथ वन जाने का अपना विचार कुंती ने किसी पर प्रकट न होने दिया और जब धृतराष्ट्र इत्यादि ने वन के लिए प्रस्थान किया, कुंती सहसा उनके साथ चल पड़ी। इस पर पांडवों को और विशेषतः युधिष्ठिर को अत्यंत आश्चर्य और दुःख हुआ। किन्तु उनके अत्यन्त आर्तभाव से बारबार आग्रह करने पर भी जब कुंती ने वन जाने का निश्चय नहीं छोड़ा, युधिष्ठिर ने यह उलाहना दिया कि यही करना था तो फिर तरह तरह के उपदेश देकर हमें युद्ध के लिए क्यों उत्साहित किया। कुंती उस समय संसार के सब मोहों का त्याग कर चुकी थी और उसने युधिष्ठिर को जो उत्तर दिया उसे हम ऊपर दे चुके हैं। अन्त में पुत्रों से अन्तिम विदा लेते हुए उसने उन्हें यह उपदेश दिया कि धर्म में तुम्हारी आस्था दृढ़ रहे और तुम्हारा मन ऊँचा हो—'धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च'—जो किसी भी व्यक्ति का जीवनादर्श हो सकता है। ऐसे उदात्त उपदेश देने वाली माताओं पर किसी भी जाति का मस्तक गर्व से ऊँचा हो सकता है।

ऋतुध्वज की रानी मदालसा थी जिसने योग साधन में पूर्णता प्राप्त कर ली थी। उसके चार पुत्र थे और उसने सभी को स्वयं शिक्षा दी। उसने उन्हें अपने ढाँचे में ढाल दिया और वे सब के सब अध्यात्म मार्ग में प्रवृत्त हो गए। संतान को सच्चा मार्ग दिखानेवाली नारी विभूतियों में सुमित्रा का नाम सदैव आदर के साथ लिया जायगा। भ्रातृभक्त लक्ष्मण सीता और राम के साथ चौदह वर्ष के लिए वन जाने के पूर्व अपनी माता सुमित्रा की आज्ञा और आशीर्वाद लेने जाते हैं; वह यह नहीं कहती कि भरत से मिल कर अयोध्या पर राज्य करो। इसके विपरीत वह लक्ष्मण के मन को यह कहकर दृढ़ करती है कि 'यह तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम राम के अनुरागी हो। तुम्हारा जन्म वनवास के लिए हुआ है। पुत्र! तुम्हारे भाई रामचन्द्र बन जा रहे हैं उनके प्रति किसी प्रकार का प्रमाद न करना। तुम्हें दुःख हो अथवा सुख, तुम्हारा मार्ग यही है। बड़े भाई का अनुगामी होना संसार में सत्पुरुषों का धर्म है। इस इक्ष्वाकु

वंश का सनातन धर्म है यज्ञ करना, दान देना, और युद्ध लड़कर शरीर त्याग करना। तुम राम को दशरथ समझो। सीता को मेरे स्थान में तथा वन को अयोध्या समझना। सुख पूर्वक चले जाओ।'[३५] वाल्मीकीय रामायण के समान भाव गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस आदर्श नारी के मुख से प्रकट कराये हैं। सुमित्रा ने लक्ष्मण को इन शब्दों के साथ बिदा किया :

> 'उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
> पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति वन बिसरावहीं।
> तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
> रति होउ अविरल अमल सिय रघुबीर पद नितनित नई।'[३६]

गांधारी उन स्त्री रत्नों में है जिनका स्थान अपने चरित्र, दीर्घदर्शिता, न्याय-निष्ठा इत्यादि सद्गुणों के कारण संस्कृति के इतिहास में अमर है। यहाँ हमें पुत्रों के प्रति उसके कर्तव्य पालन पर विचार करना है। गांधारी की एक बड़ी विशेषता उसकी न्यायप्रियता थी। पांडवों के प्रति न्याय करने के विषय में उसके कई विचार विमर्श दुर्योधन के साथ हुए और हर बार उसने उसे अन्याय का त्याग कर नीति मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। वह बड़ी बुद्धिमती भी थी और दुर्योधन को अपनी शक्ति देखकर चलना चाहिए ऐसा उसे समझाया करती थी। उसका यह विश्वास था कि कृष्ण भगवदवतार हैं और उनका वरद हस्त पांडवों के ऊपर है जिसके कारण जब चाहेंगे पांडव दुर्योधन को हरा कर अपना राज्य ले लेंगे। कई अवसरों पर गांधारी को राज सभा में जाना पड़ा। जिस समय धृतराष्ट्र का दूत संजय उपप्लव्य से लौट कर युधिष्ठिर का सारगर्भित उत्तर सभा में सुना रहा था दुर्योधन ने क्रोध में आकर तथा विश्वस्त अनुयायियों के साथ बाहर निकल कर सभा का तिरस्कार किया। इसी प्रकार जब धृत-राष्ट्र की विशेष रूप से आयोजित महती सभा में कृष्ण संधि स्थापन के लिए अपना ऐतिहासिक भाषण कर रहे थे दुर्योधन ने अपना उद्धत स्वभाव प्रकट किया। प्रत्येक अवसर पर भीष्म पितामह, विदुर और द्रोणाचार्य सरीखे महात्मा उपस्थित थे परन्तु दुर्योधन ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया और विवश होकर उसे मनाने के लिए धृतराष्ट्र ने गांधारी को बुलवाया। परिवार के लोगों में यदि किसी का कोई प्रभाव उस पर था, वह गांधारी का ही और इसीलिए उसकी उद्धतता और अदूरदर्शिता की बातों पर नियन्त्रण के लिए एक

---

३५ वा० रा०, अयोध्या काण्ड, ४०२-६,७,१०

३६ वा० रा०, अयोध्या कांड

अत्यन्त विकट परिस्थिति में उसने दुर्योधन को न्यायोचित मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। महाभारत युद्ध के प्रथम दिन युद्ध भूमि में जाने के पूर्व दुर्योधन माता का अभिवादन करने और उससे अपनी विजय का आशीर्वाद लेने गया। यह बात एक दिन नहीं, युद्ध के अठारहों दिन इसी क्रम से होती गयी। अपने और पुत्र के सांसारिक लाभ का ध्यान न कर गांधारी ने धर्म और न्याय को प्रधानता देकर प्रत्येक बार दुर्योधन को आशीर्वाद देते समय एक वीर माता की तरह उसे अदम्य उत्साह के साथ युद्ध करने और भूल कर भी पीठ पीछे न करने की प्रेरणा दी, परन्तु एक बार भी यह आशीर्वाद न देकर कि तुम्हारी विजय हो आशीर्वचन के अंत में सदा यही कहती 'यतोधर्मस्ततोजयः।'

प्राचीन परंपरा का यह क्रम कभी विशृंखल न हुआ। मुगल युग की ऐसी माताओं की प्रतिनिधि साहस का पुतला जीजाबाई थी। छत्रपति शिवाजी के चरित्र निर्माण में जहाँ समर्थ गुरु रामदास का बहुत बड़ा हाथ था उसमें जीजाबाई का भी भाग कम नहीं था। घोड़े पर सवार होकर जीजाबाई ने रातों-रात घर से निकल कर गर्भस्थ शिशु की रक्षा की। माता जीजाबाई से ही धर्मोद्धार की प्रथम प्रेरणा शिवाजी को मिली। राजपूतों का इतिहास जहाँ उनके अनेक विशिष्ट गुणों से प्रदीप्त है वह ऐसी राजपूत माताओं का स्मरण करता है जिन्होंने ऐन वक्त पर अपने पुत्रों को कर्तव्य का पालन कर कीर्ति के मार्ग पर आरूढ़ किया। इस प्रसंग में चित्तौड़ के आमलनेर जनपद के शासक की माता का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अपने प्राण प्यारे शिशु के प्राण वनवीर के कराल करों में देकर राणा सांगा के छः वर्षीय शिशु उदयसिंह की प्राण-रक्षा जिस चतुराई के साथ उसकी त्यागमयी धाय पन्ना ने की उसकी कहानी लोक प्रसिद्ध है। बच्चे उदयवीर को छिपाये हुए अनेक स्थानों में शरण की असफल अभ्यर्थना करते हुए जब आमलनेर जनपद के शासक की गोद में पन्ना ने शिशु को डाल दिया, वह भय से बगलें झाँकने लगा। उस समय उसकी माता ने जिन शब्दों में उसे फटकार सुनायी उसे जेम्स टॉड ने अपने 'राजस्थान का इतिहास' में स्थान दिया है। वह कहती है 'स्वामिभक्ति भय अथवा कठिनाइयों को कभी नहीं देखती। ये तुम्हारे स्वामी हैं, सांगा के पुत्र हैं। ईश्वरानुग्रह से परिणाम यशस्कर ही होगा।'

इस विषय को समाप्त करने के पूर्व भारतीय संस्कारों के विशुद्ध प्रवाह में धौत एक आधुनिक माता का स्मरण करना चाहिए। अक्षरज्ञानी जिसे अशिक्षिता कहेंगे वह मोहनदास करमचन्द गांधी की माता कठोर संयम के नैतिक जीवन पर आरूढ़ एक पतिपरायणा, ईश्वर में अटूट श्रद्धा और विश्वास रखने

वाली नारी थी जिसके चरित्र का महात्मा गांधी के निर्माण में विशेष हाथ था। तत्कालीन समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल वातावरण में केवल १९ वर्ष के युवक गांधी जब १८८८ ई० में बैरिष्टरी के लिए इंगलैण्ड प्रस्थान करने लगे उनकी धर्मनिष्ठ माता ने उनसे तीन वचन लिए : १ मत्स्य-मांस न खाऊँगा, २ मद्यपान न करूँगा, ३ स्त्री-प्रसंग न करूँगा।

विलायत-प्रवास में कठिनाइयों का सामना करते हुए गांधीजी ने इनका पूर्णरूपेण पालन किया और यह कहना नितांत अनावश्यक है कि इन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव उनके जीवन पर स्पष्ट और अटूट रूप से पड़ा।

अध्याय ६

सामाजिक विकास का आधार : वर्ण, आश्रम और शिक्षा

वर्ण : आश्रम

समाज के मूल तत्वों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भारतीय समाज को विघटन से बचाने वाली उसकी संस्कृति में कुछ ऐसी शक्तियाँ और मौलिक स्थापनाएँ हैं जिनके द्वारा उसका बराबर विकास होता चलता है।

पश्चिमी विचारक इस विचार से अत्यन्त क्षुब्ध हैं कि उनके समाज संबंधी अनेक अनुसंधान समाज के भीतर अवस्थित अशांत वातावरण में स्थिरता ले आने में क्यों नहीं सफल होते। सामाजिक स्थिरता के स्थान पर यूरोप और अमेरिका में बराबर वर्ग-भेद और अनेक जन समूहों के बीच उत्क्रांतिमूलक एवं विस्थापन की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। और यही स्थिति भारत के बाहर एशिया एवं संसार के दूसरे भागों में भी है।

सामाजिक तत्वों में सबसे महत्व के तत्व आचारविषयक होते हैं जिन पर भारत ने बराबर ध्यान दिया है।

आचार की शिथिलता (जिसमें स्वछंद यौन प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं) और अर्थ मूलक स्थिति के कारण पश्चिमी समाज जीवन का शाश्वत स्वरूप ग्रहण करने में असमर्थ है।

भारत में वैदिक युग में ही समाज संबंधी गवेषणाएँ इतनी परिमार्जित हो गयी थीं कि समाज को चार 'वर्णों' ('रंगों' नहीं, जैसा कि कुछ पाश्चात्य विद्वान् व्याख्या करते हैं) में उनके गुण और कर्मों के आधार पर विभक्त किया गया था। और इसी प्रकार 'आश्रम' (जिनकी संख्या भी चार निर्धारित कर दी गयी थी) जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक बने। उस समय से लेकर आज तक भारत में सारी शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों का विकास प्रायः इन्हीं स्थापनाओं के आधार पर होता चला आ रहा है।

भारतीय परंपरा के अनुसार सृष्टि के आरंभ में एक महामहिमामय विराट पुरुष के रूप में समाज के आदर्श की एक अलौकिक और दिव्य-कल्पना की गयी जिसकी अभिव्यक्ति ऋग्वेद के मंत्र में इस प्रकार हुई :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत[१] ॥

अर्थात् उस विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य, जंघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। उनकी इस प्रस्थापना को समस्त वैदिक साहित्य में बल मिला और जहाँ मनुस्मृति[२] और महाभारत में इस कथन को प्रायः अक्षरशः दोहरा कर उसका उपबृंहण किया गया भगवान् श्रीकृष्ण ने 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'[३]—गुण और कर्म के विभाग द्वारा मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की—कह कर उस व्यवस्था को सनातन और ईश्वरीय विधान की संज्ञा दी।

पाश्चात्य तथा उनके पदानुगामी कुछ भारतीय विचारक उक्त मंत्र की रचना एवं वर्णव्यवस्था को बहुत बाद की मानते हैं। जो भी हो, चारों वर्णों के एक साथ और एक विराट पुरुष से उत्पन्न होने के कारण उनकी स्वरूपतः वही अन्योन्याश्रित अवस्था है जो शरीर के मुख, बाहुओं, जंघों और पैरों में होती है। जिस तरह इन शरीरावयवों के कार्य में संपूर्णतया एकी-भाव होने से ही शरीर और आत्मा का सम्यक् विकास हो सकता है वैसे ही समष्टि अथवा समाज की सुख और शांति चारों वर्णों के सह-अस्तित्व और पारस्परिक सहयोग पर अवलंबित है। शरीर के मुखादि अंगों में भेद होने के कारण उनमें ऊँच-नीच का आरोप जिस प्रकार अकल्पनीय है उसी तरह वैदिक कल्पना में सिद्धांततः ब्राह्मणादि वर्णों में उच्च-नीच के भेद का स्थान नहीं है और साहित्य के उपादानों एवं लोक-व्यवहार में इस प्रकार की भावनाएं जहाँ भी व्यक्त हों वह मूल सिद्धांत से असंगत हैं।

जैसा कि प्रथम अध्याय में देख चुके हैं भारतीय संस्कृति में मनुष्य का अंतिम जीवनोद्देश्य पूर्ण पुरुषत्व की प्राप्ति अर्थात् परमात्मा में लीन होना माना गया है। इसे दृष्टि में रख कर श्री मद्भगवद्गीता में वर्ण धर्म का एक तात्विक और वैज्ञानिक स्वरूप-निरूपण इस सिद्धांत पर हुआ है कि संसार की रचना ही ऐसी है कि वह सत्व, रजस्, तमस् रूपी त्रैगुण्य के ताना-बाना में पिरोयी हुई है और कोई सत्व उनसे असंपृक्त नहीं है। इन गुणों के न्यूनाधिक विकास के कारण पुरुषों में कार्य-क्षमता के विषय में न्यूनाधिक भेद हो जाना स्वाभाविक है। किसी प्रगतिशील समाज के कार्य-समूह मोटे तौर पर ज्ञान,

१ ऋ०, पुरुष सूक्त
२ मनु० १.३१
३ गीता ४. १३

शक्ति, अर्थ संपदा और श्रम में विभक्त होते हैं और जब गुणों के तारतम्य पर उनका विभाजन करते हैं तो मनुष्य का चार श्रेणियां अथवा वर्णों का एक स्वाभाविक समाज निर्माण होता है। इसे ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की शास्त्रीय अभिधा दी गयी है।

इस व्यवस्था के अनुसार एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के नियत कर्मों में हस्तक्षेप न करके अपने वर्ण के नियत कर्म को स्वधर्म समझता हुआ उसे निष्ठापूर्वक संपन्न करता है और उसे परमेश्वर को समर्पण करके समाज की स्थिति को स्थिर रखता हुआ सांसारिक अभ्युदय के साथ अंत में जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[४]

चातुर्वर्ण्य और चार आश्रमों की यह व्यवस्था भारतीय समाज की अपनी एवं अद्वितीय निधि है। यूरोपीय दर्शन में प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपने अमूल्य ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में इस प्रकार के एक ऐसे समाज की कल्पना की थी परन्तु उसे मूर्त रूप देने का कोई प्रयास वहाँ नहीं हो सका।

शिक्षा

वैदिक जीवन में वर्णों के कर्तव्य-भेद स्थापित हो जाने से शिक्षा के प्रक्रम में भी कतिपय विभेद किये गये और कदाचित् इसीलिए यद्यपि शूद्र विद्या के अधिकारी माने गये, उनके लिए वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य आश्रम आवश्यक कर्तव्य नहीं हुआ और द्विजाति मात्र तक सीमित रहा, जैसा कि मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों से प्रकट है। शिक्षा में यद्यपि दूसरे विषयों का स्थान था, पर वेदाध्ययन उसका मुख्य और अनिवार्य अंग था जिसमें ब्रह्मचर्य-पालन पर अत्यधिक आग्रह था। इसीलिए इस शिक्षा को ब्रह्मचर्य प्रणाली कहते हैं और यह शिक्षा ज्यादा करके गुरुकुलों में ही दी जाती थी इससे इसे 'गुरुकुल प्रणाली' की भी संज्ञा दी जाती है।

प्राचीन काल में ऋषियों के बड़े-बड़े आश्रम वनों में, परन्तु गाँवों अथवा नगरों से बहुत दूर नहीं, होते थे जो न केवल तपस् और आध्यात्मिक चिन्तन के केन्द्र होते, वरन् विश्वविद्यालयों के समान विविध विद्याओं की शिक्षा देते थे। इन गुरुकुलों में गुरु अथवा आचार्य बहुधा गृहाश्रमी होते थे और ब्रह्मचारी उनके परिवार वर्ग का सदस्य-सा होकर गुरु और गुरु-पत्नी के प्रति निष्ठावान् रहता था। इस परिवार में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जहाँ उसे सच्चा मानव बनने का अवसर मिलता गुरु और गुरु-पत्नी से माता-पिता के स्नेह और

४. गीता १८. ४०–४६

शुभाकांक्षा की सुधाधार प्राप्त होती रहती। किसी किसी आश्रम में अनेक आचार्य और उपाध्याय होते थे और कोई इतने बड़े होते कि उनके विद्यार्थियों की संख्या दस हजार तक पहुँच जाती थीं और उनके प्रधान अधिष्ठाता को 'कुलपति' कहते थे। महर्षि कण्व जिनके आश्रम में शकुन्तला की उत्पत्ति और शिक्षा हुई ऐसे ही एक प्रख्यात कुलपति थे। महर्षि कश्यप उन्हीं के समकालीन थे जिनके आश्रम में भरत वंश के प्रवर्तक दौष्यंति भरत का संवर्धन हुआ था जो आगे चलकर भारत के प्रसिद्ध सम्राट् हुए।

रामायण काल में महर्षि विश्वामित्र, वसिष्ठ, वाल्मीकि और अगस्त्य इत्यादि के लोकविश्रुत नाम मिलते हैं जिनके गुरुकुलों में विविध विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं। महाभारत काल के कुछ आश्रम महर्षि वेदव्यास, भरद्वाज, शौनक इत्यादि के प्रसिद्ध गुरुकुल थे। शौनक एक अत्यन्त विख्यात कुलपति थे जिनका आश्रम नैमिषारण्य के निमिष क्षेत्र में ऋषियों के आवास के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। यहाँ पर कुलपति शौनक ने, जो असाधारण दीर्घजीवी महात्मा थे, एक बारह वर्षों तक समाप्त होनेवाला यज्ञ किया जिसमें उग्रश्रवा ने ऋषियों को 'महाभारत' की कथा सुनायी थी। हरद्वार में महर्षि भरद्वाज का गुरुकुल था जहाँ वेदों की शिक्षा के साथ क्षात्र विद्या, जिसमें धनुर्वेद की प्रधानता थी, विशेष रूप से बतलायी जाती थी। महर्षि भरद्वाज से धनुर्वेद में आचार्यत्व प्राप्त कर ऋषि अग्निवेश ने यह विद्या इसी गुरुकुल में द्रोणाचार्य तथा द्रुपद को पढ़ायी थी। अवंती (वर्तमान उज्जैन) में ऋषि सांदीपनि का गुरुकुल भी विख्यात था जहाँ अकिंचन सुदामा के साथ श्रीकृष्ण ने वेदों की शिक्षा प्राप्त की। ऋषियों के आश्रमों में, जहाँ एक ओर अनेक ऋषि ब्रह्मचिन्तन करते और योग्य शिष्यों को 'ब्रह्म विद्या' बतलाते थे जिससे आरण्यकों और उपनिषदों का निर्माण हुआ, दूसरे अनेक ऋषि अनेक शास्त्रों के प्रणयन एवं शोध के अमूल्य कार्य करते थे। इसी परम्परा के अनुसार व्यास ने अपने आश्रम में चारों वेदों का सम्पादन करके वैशंपायन, जैमिनि, सुमंतु और पैल इत्यादि प्रधान शिष्यों को वेद-प्रचार का कार्य-भार दिया था।

महाभारत काल में वनों के गुरुकुलों के अतिरिक्त हस्तिनापुर जैसे बड़े नगरों में बड़े विद्यापीठों का भी होना पाया जाता है। कौरव-पांडवों की शिक्षा आरंभ में हस्तिनापुर में ही आचार्य कृप के विद्यालय में हुई थी और यहीं पर भीष्म के अनुरोध पर द्रोणाचार्य ने उन बालकों को क्षात्र विद्या की विशेष शिक्षा के लिए एक बहुत बड़ी पाठशाला स्थापित की जिसने अपनी ख्याति के कारण दूर दूर के नवयुवकों को आकर्षित किया।

इस विद्यापीठ की एक विशेषता यह देख पड़ती है कि द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की परीक्षा स्वयं लेने के उपरान्त उसका सार्वजनिक रूप से एक महान प्रदर्शन भी किया जिसके प्रेक्षण में संभ्रांत पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी पूरी अभिरुचि दिखायी।

प्राचीन विश्वविद्यालय : तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला और वल्लभी

जान पड़ता है कि महाभारत-काल में तक्षशिला के महान् विश्वविद्यालय की जड़ जम चुकी थी जैसा कि महाभारत में उसके आचार्यों में प्रमुख धौम्य का पता चलता है जिनके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद की गुरुभक्ति के उदाहरण आज भी दिये जाते हैं।

रावलपिंडी से लगभग बीस मील पश्चिम तक्षशिला रेलवे स्टेशन के समीप उस विश्वविद्यालय के खंडहर आज भी उसकी मूक गाथा सुना रहे हैं। संभवतः तक्षशिला की स्थापना उस प्रदेश के तत्कालीन शासक भरत के पुत्र तक्ष ने की थी और उन्हीं के नाम पर उसका यह नाम पड़ा। रघुवंशियों का विद्या-प्रेम बहुत बढ़ा-चढ़ा था जिसके प्रमाण में रघु का इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'लोगों में इस प्रवाद का नया अवतार न सुनायी पड़े कि गुरु-दक्षिणा की याचना रघु से करके एक भग्नमनोरथ वेद-पारंगत-स्नातक किसी दूसरे के पास चला गया।'[५] यहीं पर आगे चलकर जनमेजय का नागयज्ञ सम्पन्न हुआ जिसमें वैशंपायन ने प्रथम बार सामूहिक रूप से महाभारत की कथा सुनायी थी।

तक्षशिला विश्वविद्यालय की ख्याति ईसवी पूर्व सातवीं शताब्दी में भारतव्यापी हो चुकी थी और उसमें देश के विभिन्न भागों से विविध विद्याएँ सीखने के लिए विद्यार्थी आते थे, यहाँ तक कि कतिपय विषयों में विशेष योग्यता के लिए वह काशी, उज्जयिनी और मिथिला जैसे प्रसिद्ध विद्या-केन्द्रों को आकर्षित करता था। भगवान् बुद्ध (ई० पू० ६ठीं शती) के समकालीन कोशल के राजकुमार प्रसेनजित ने तक्षशिला में शिक्षा पायी और यहीं पर संसार के सर्वश्रेष्ठ व्याकरण-रचयिता पाणिनि ने शिक्षा प्राप्त की और संभवतः यहीं 'अष्टाध्यायी' की रचना भी की। अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य (कौटिल्य) इसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे और यहीं पर बिम्बिसार का दासी-पुत्र जीवक आयुर्वेद और सर्जरी में पारंगत हुआ।

यूनानी लेखों से पता लगता है कि अलेक्जेंडर के भारत-आक्रमण के समय (३२७ ई० पू०) तक्षशिला एक महान विद्या-केन्द्र था, विशेषतः भारतीय दर्शनों

५ · रघुवंश ५.२४

का। विद्या के शत्रु बर्बर हूणों के लगातार आक्रमणों ने तक्षशिला को ध्वस्त कर डाला जिससे ईसवी पाँचवीं शताब्दी में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने उसे देखा, तो उसे वहाँ विद्या-विषयक कोई महत्त्व की बात नहीं मिली। बर्बर हूणों के द्वारा उसका ज्ञान-दीप बुझ चुका था।

तक्षशिला की भारी क्षति की कुछ पूर्ति पाँचवीं शताब्दी में पाटलिपुत्र के दक्षिण लगभग चालीस मील की दूरी पर नालन्दा में एक विश्वविद्यालय की स्थापना से हो गयी। बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त के जन्म तथा निधन का स्थान होने से यह स्थान बौद्ध संसार में आकर्षण का हेतु था ही विद्या का केन्द्र हो जाने से बौद्ध-धर्म और साहित्य के अनुष्ठान तथा परिशीलन का शीघ्र केन्द्रबिन्दु भी बन गया। गुप्तसम्राट यद्यपि सनातन धर्मावलंबी एवं वैदिक धर्म और साहित्य के पुनरुद्धारक थे, फिर भी उन्होंने बड़ी सहिष्णुता तथा उदारता के साथ इस विश्वविद्यालय के विकास, संवर्धन और संरक्षण में पूरी शक्ति लगा दी।

इतिहासकारों का कहना है कि गुप्त-काल (३१९ ई० से लगभग ६ठीं शती का उत्तरार्ध) भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था जिसमें समस्त विद्याओं और कलाओं की श्री वृद्धि अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुई। यों तो साहित्य के विविध अंगों, शिल्प और ललित कला की अभिवृद्धि साम्राज्य के सभी भागों में देख पड़ी, नालंदा विश्वविद्यालय में उनका विकास विशेष रूप से हुआ। डॉ० अग्रवाल लिखते हैं कि युवान् च्वाङ् ने उत्तर भारत की कई ऐसी बृहदाकार मूर्तियों का उल्लेख किया है जिन्हें उसने अपनी आँखों देखा था। इन्हीं में भगवान् बुद्ध की ८० फुट लंबी ताम्र मूर्ति थी जिसे राजा पूर्ण वर्मा ने सातवीं शती के आरंभ में नालंदा में स्थापित किया था।[६] आज वह मूर्ति तो नहीं रही, किंतु नालंदा के खोदाई में जो बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं—जैसे किन्नर और कमल के सौंदर्यपूर्ण विन्यास युक्त अलंकारपूर्ण अभिचित्रण एवं सैकड़ों उत्कीर्ण पट्टिकाएँ—प्रवृद्ध कलाभिचित्रण के चिरस्थाई प्रमाण हैं।

भारतीय पुरातत्व के उत्खनन से पता लगा है कि उसके केन्द्रीय विद्यालय में सात-आठ विशाल हाल थे, एवं छोटे छोटे तीन सौ व्याख्यान-कक्ष थे। उनके प्रवेश खंड में प्रमुख स्थान पर बुद्ध की विशाल प्रतिमा स्थापित थी जो प्रवेशार्थी को धर्म के प्रति सतत जागरूक रहने की प्रेरणा देती रही होगी। भवनों पर कई अट्टालिकाएँ थीं जो आकाश को चूमती थीं और जिनकी प्रशंसा में कवि का

६ वी० एस० अग्रवाल : स्टडीज़ इन इंडियन आर्ट, पृ० २५३ : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९६५

कथन है कि 'उनके शिखर बादलों को छूते थे और ऐसे मनोहर थे मानो ब्रह्मा ने उन्हें अपने हाथों से बनाया है।'[७] बौद्ध विहार अलग ही थे जिनमें बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ अध्ययनशील थीं। सातवीं शती में जब इत्सिंग ने नालन्दा को देखा इन बिहारों की संख्या सात सौ तक पहुँच गयी थी। भारत के विभिन्न भागों एवं विदेशों से साधारण जिज्ञासु ही नहीं धुरंधर विद्वान् भी नालन्दा में आकर अपनी शंकाएँ मिटाते और अपने ज्ञान का कोश बढ़ाते थे। चीनी यात्री फाहियान, युवान् च्वाङ् और इत्सिंग के सिवाय चीन के कई अन्य यात्री एवं कोरिया, तिब्बत इत्यादि से बहुत-से जिज्ञासुओं ने आकर नालन्दा की ज्ञान-गंगा में स्नान किया।

विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत विशाल था जो तीन बड़े भवनों में, जिन्हें 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्न-रंजक' कहते थे, सजाया गया था। जिस कक्ष में यह पुस्तकालय अवस्थित थे उसका पूरा नाम 'धर्म-गर्भ' था। इसके मुख्य व्याख्यान कक्ष में आठ सहस्र श्रोता आसानी से बैठ सकते थे और इसके अंतर्गत छः विद्यापीठ थे एवं प्रत्येक में चार वरिष्ठ आचार्य होते थे। भारतेतर देशों से भी विद्यार्थी विविध विद्याओं के अर्जनार्थ यहाँ प्रविष्ट होते थे। शिक्षा न केवल निःशुल्क थी, बल्कि विद्यार्थियों के आवास तथा भोजनादि की व्यवस्था भी विश्वविद्यालय ही करता था।

तक्षशिला की तरह नालन्दा का मूलोच्छेद करनेवाले भी विदेशी आक्रमणकारी ही थे। बारहवीं शती के अन्तिम दिनों में धर्मान्ध बख्तियार खलजी ने बौद्ध विहारों के साथ ही विश्वविद्यालय को भी तलवार के बल पर नष्ट कर दिया, भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया और अमूल्य पुस्तकालय को अग्नि में भस्मसात् कर दिया। पुस्तकें कई दिनों तक धुआँ और अग्नि के रूप में आँसू बहाती रहीं। इस धर्मान्ध बर्बरता के कारण कितनी ही कलाएँ और विद्याएँ अतीत के गर्भ में विलीन हो गयीं।

नालंदा के समान ही उड़ीसा का उदंतपुरी विश्वविद्यालय भी ख्याति प्राप्त कर रहा था एवं नालन्दा की ख्याति जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी आठवीं शताब्दी में बंगाल में राजा धर्मपाल ने विहारों की स्थापना के साथ ही विक्रमशिला नामक विश्वविद्यालय की नींव डाली। चार सौ वर्ष तक वह फलता-फूलता रहा। किन्तु १२०३ ई० में उसी बख्तियार खलजी ने विश्व-

७ यस्याम्बुधरावलेहि शिखरश्रेणी विहारावली।
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवि॥
ए० एस० अलतेकर : एजुकेशन इन एंश्येंट इंडिया

विद्यालय, उसके विशाल पुस्तकालयों और बौद्ध विहारों को एक साथ ही जला-कर राख कर दिया और सैकड़ों भिक्षुओं के रक्त से अपनी धर्मान्धता को तृप्त किया। नालन्दा के महत्व से मिलता-जुलता काठियावाड़ का वल्लभी विश्व-विद्यालय था जिसमें देश के कोने-कोने से विद्यार्थी प्रविष्ट होते थे। पाँचवीं शती के मध्य से बारहवीं शताब्दी तक यह शिक्षा का महान् केन्द्र बना रहा। ७७७ ई० में अरबों के आक्रमण के कारण एक बार उसकी नींव हिल भी गयी; किन्तु इस धक्के को सहन कर कई सौ वर्ष तक उसका अस्तित्व बना रहा। परन्तु इसके बाद जब से भारत में मुसलमान शासन की प्रधानता हुई, लगभग एक सहस्र वर्ष तक बड़े विश्वविद्यालयके अनुरूप किसी संस्था का निर्माण नहीं हुआ।

औपनिषदिक काल में मिथिला भारत-विख्यात विद्या-केन्द्र थी जिसकी स्पर्धा काशी का विशाल विद्या-केन्द्र करता था जो बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित दृप्त बालाकि के प्रति काशिराज अजातशत्रु की इस उक्ति से ज्ञात होता है कि 'जिसे देखो वही जनक जनक कहता उनके पास दौड़ा चला जाता है।'[८] इसी तरह पंचाल में भी विद्या और ब्रह्मचर्य की कम धूम नहीं थी। वस्तुतः उस समय विद्या का प्रसार देशव्यापी था और जान पड़ता है कि कुछ जनपदों में एक भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं था जिससे केकय नरेश अश्वपति ने बड़े गर्व के साथ यह कथन किया कि 'मेरे जनपद में न कोई चोर है न कोई कंजूस, न कोई मद्यपी और न अनाहिताग्नि, न कोई अविद्वान् और न दुराचारी, फिर दुराचारिणी कहाँ।'[९] कालान्तर में यद्यपि विशाल गुरुकुल अथवा विश्वविद्यालयों की व्यवस्था न रह गयी, पर यह कम गर्व की बात नहीं कि इस सुदीर्घ काल में काशी और मिथिला ने विद्या के प्रदीप को कभी बुझने नहीं दिया एवं अयोध्या, नदिया, पाटलिपुत्र, कांची, धारा, उज्जैन, मालखेड़, तंजोर और कल्याणी इत्यादि विद्यापीठों में भी बिना किसी राज्याश्रय के विद्यादानियों ने अपने त्यागमय जीवन से ज्ञान के प्रकाश को जगमगाता रखा।

देश के प्रत्येक भाग में, मुख्यतः दक्षिण भारत में, अनेक मठों और मन्दिरों से संलग्न पाठशालाएँ विद्यादान के कार्य करती आयीं और ऐसे निर्लोभी अध्यापकों की कभी कमी न हुई जो कर्तव्य-बुद्धि से विद्यार्थियों का अध्यापन अवैतनिक करते आये। बहुतेरे अध्यापकों ने विद्यार्थियों के आवास तथा भोजन-वस्त्र का भी स्वयं प्रबन्ध कर संस्कृत विद्या और भारतीय संस्कृति की रक्षा का

---

८ बृह० उप० २.१

९ छांदो० उप० ५.११.५

प्रशंसनीय कार्य किया एवं साधारण जनता ने इसे एक पुण्य कार्य समझकर उनकी यथाशक्ति सहायता की।

वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्याश्रम के नियम

वेदों के अध्यापन का कार्य ब्राह्मणों का प्रधान कर्तव्य था और गुरुकुल-प्रणाली में विद्या-केन्द्रों के अध्यापक ब्राह्मण ही होते थे। वे अध्यापन के बदले कोई वेतन नहीं लेते थे, बल्कि इसका ग्रहण वे वेद का बेचना तथा पाप कर्म समझते थे। ब्रह्मचारी चाहे वह निर्धन ब्राह्मणकुमार हो, राजा का पुत्र हो अथवा किसी बड़े सेठ का बालक हो, आश्रम के समीपवर्ती ग्रामों से भिक्षा माँग लाता, गुरु को अर्पित करता और उसीसे उसका तथा गुरुकुल का जीवन-निर्वाह बड़ी सादगी के साथ होता रहता। विद्यार्थी ही वन से यज्ञ के निमित्त तथा पाक-शाला के लिए ईंधन भी लाता था। इस जीवन से ब्रह्मचारियों में धनवान और अकिंचन का वैषम्य भाव उत्पन्न नहीं होने पाता था एवं उनका स्वाव-लम्बन का स्वभाव निरन्तर बनता जाता था।

जो ब्राह्मण बालक विशेष रूप से तेजस्वी होना चाहता उसका यज्ञोपवीत संस्कार पाँचवें वर्ष में, क्षात्र बल में विशेषता चाहनेवाले क्षत्रिय का छठवें वर्ष में और विशेष अर्थ के इच्छुक वैश्य का आठवें वर्ष में, करके उसे गुरुकुल में भेज देने का विशेष नियम था।[१०] वैसे सामान्य रूप से ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रवेश के लिए गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें में क्षत्रिय का और बारहवें में वैश्य बालक का यज्ञोपवीत कर देने का विधान था।[११] यह अवस्था-भेद क्यों किया गया इसका कारण स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता। किन्तु यह अनुमान करना अयुक्त नहीं होगा कि ब्राह्मण को ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्रविष्ट कर देने की कुछ त्वरा इसलिए आवश्यक समझी गयी कि उसमें 'स्वधर्म'—शम, दम, तप, शुचिता, क्षान्ति, ऋजुता, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिक्य[१२]—की वृद्धि हो तथा क्षत्रिय और वैश्य बालक को अपने-अपने वर्ण की कुछ प्रारम्भिक शिक्षा पितृकुल में मिल जाती थी।

ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्रह्मचर्य का पालन विधिपूर्वक तथा कड़ाई के साथ अनिवार्य था। शिक्षा की समाप्ति तक विवाह न करना ही ब्रह्मचर्य का पालन

---

१० मनु० २.३७
११ मनु० २.३६
१२ गीता १८.४२

नहीं माना गया, अपितु अविवाहित जीवन के साथ शरीर-संयम और मनोनिग्रह उसका अभिन्न अंग था। इस श्रुति से कि 'ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया'[१३] तथा गीता के इस कथन से कि 'जिस ब्रह्म को पाने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं'[१४] ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य अमृतत्व अथवा ब्रह्म की प्राप्ति मालूम पड़ता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की अवधि प्रायः बारह वर्ष होती थी जैसा कि 'छांदोग्य उपनिषद्' में अपने पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय को दिये गये ऋषि उद्दालक आरुणि के उपदेश से मालूम पड़ता है। श्वेतकेतु आरुणेय आरम्भ में वेदारंभ की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ जिस पर क्षोभ करके उद्दालक ने कहा कि 'हमारे कुल में आज तक कोई ब्रह्मबन्धु अर्थात् नामधारी ब्राह्मण नहीं हुआ जिसने वेदों का अध्ययन न किया हो।' इससे प्रभावित होकर श्वेतकेतु ने ब्रह्मचर्यपूर्वक बारह वर्षों में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से लौटकर उसके पश्चात् अपने पिता से 'वेदांत' का ज्ञान प्राप्त किया।[१५] कहीं कहीं ४८ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य पालन का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह अवधि अव्यवहार्य समझी गयी जिससे मनु ने यह नियम बनाया कि गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ३६ वर्षों तक तीनों वेदों को पढ़ना चाहिए, अथवा १८ या १९ वर्ष तक। किंतु कितने दिन तक वेदाध्ययन करे इसका कोई कठोर नियम नहीं है, साधारण नियम यही है कि वेदों का बोध हो जाना चाहिए।[१६]

यह ध्यान देने की बात है कि उस समय आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की तरह अध्यापन का कार्य कक्षावार नहीं होता था, अपितु गुरु का वैयक्तिक ध्यान प्रत्येक छात्र पर रहता था जो अपने बौद्धिक विकास के अनुरूप अधिक अथवा न्यून समय में वेदाध्ययन समाप्त कर लेने में स्वतंत्र था। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिए कि वेद-संहिताओं अथवा ब्राह्मण-ग्रंथों में ब्रह्मचर्य-आश्रम का नामोल्लेख नहीं हुआ है जिससे उस समय इस आश्रम के अस्तित्व का अभाव कदापि नहीं समझना चाहिए। 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद में एवं 'ब्रह्मचर्य' शब्द का 'तैत्तरीय संहिता' और 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ ही है।

---

१३ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत

१४ गीता ८.११

१५ छां० उप० ६.१.२

१६ मनु० ३.१

वेदाध्ययन और स्त्री

सैकड़ों वर्षों से हमारे समाज में यह धारणा हो गयी है कि स्त्रियों को वेदाधिकार नहीं है और इस धारणा पर हिन्दू समाज बहुत समय से चलता भी आ रहा है। व्यास ने यह देखकर कि नामधारी ब्राह्मणों, शूद्रों और स्त्रियों के कान में वेद-ध्वनि नहीं पड़ती उनके उपकार के लिए महाभारत की रचना की[१७] भागवत के इस कथन से इस धारणा की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। किंतु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि आरम्भ में अथवा कभी स्त्री का ब्रह्मचर्य-आश्रम अथवा वेदाध्ययन में अधिकार था ही नहीं। वस्तुतः संस्कृति के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि वैदिक युग की स्त्रियाँ न केवल वेदों का अध्ययन करती थीं, बल्कि उनमें कई इतनी मेधाविनी तथा सत्यनिष्ठ थीं कि उन्होंने वेदमंत्रों की रचना की अथवा ऋषियों की तरह मंत्रद्रष्टा हुईं। इन ऋषिकाओं में ऋषि अंभृण की कन्या वाक् ऋग्वेद के देवीसूक्त की ऋषिका थी। इसी तरह घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिकता, सूर्या, इंद्राणी, सर्पराज्ञी, ममता, यमी, रोमाशा, जुहू, निवावारी, उर्वशी, श्रद्धा इत्यादि ऋषिकाओं के नाम हमारी संस्कृति के इतिहास में स्त्री के महत्त्व की घोषणा कर रहे हैं। अत्यंत प्राचीन काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य रखती थीं एवं वेदों का अध्ययन करती थीं। अथर्ववेद के इस मंत्र से कि 'ब्रह्मचर्य की तपस्या से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी को चाहता और ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति प्राप्त करती है'[१८] यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्त्रियों का ब्रह्मचर्य जीवन प्रशस्त माना जाता था।

हारीत धर्म सूत्र में भी स्त्रियों का उपनयन एवं वेदाध्ययन मान्य बतलाया गया है। उसमें ब्रह्मविद्या की दृष्टि से स्त्रियों के दो वर्ग करके कहा गया है कि जो स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी होना चाहें वे उपनयन धारण कर सकती हैं, अग्निहोम कर सकती हैं और अपने घर पर वेदाध्ययन तथा भिक्षाचर्या कर सकती हैं और जो शीघ्र विवाह कर लेना चाहती हैं वे उपनयन मात्र करके ऐसा कर सकती हैं।[१९] इसी प्रकार यम स्मृति के इस कथन में कि 'पुराकल्पे कुमारीणां मौंजी

---

१७ भाग० १.४.२५

१८ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विंदते पतिम् (अथर्व० १२.३.१७.१८)

१९ हारीत ध० सू० ३ ५

वंधनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा॥ पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः। स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते। वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च'—इस बात का प्रमाण मिलता है कि लड़कियों को वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की सुविधा प्राप्त थी यद्यपि इस कथन से यह भी सूचना मिलती है कि पहले की स्थिति में यह परिवर्तन आ गया कि कन्याएँ घर में रहकर ब्रह्मचर्यपूर्वक अपने पिता, भाई अथवा पितृव्य से वेदाध्ययन करें। किंतु स्त्री की सर्वांगीण उन्नति की दृष्टि से इस व्यवस्था को पूर्णतया संतोषजनक नहीं कह सकते।

गृह्यसूत्रों की प्राचीनता को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं जिनकी रचना स्मृतिशास्त्रों के पहले तथा वेद-संहिताओं और ब्राह्मणों के अनंतर हुई। इन गृह्यसूत्रों में प्रसिद्ध गोभिल गृह्यसूत्र तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र से स्त्रियों का उपनयन संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम पालन सिद्ध होता है। गोभिल गृह्यसूत्र में विवाह के प्रसंग में यह विधान मिलता है कि विवाहाग्नि के सम्मुख वधू को, जो यज्ञोपवीतधारिणी है, ले जाता हुआ वर ऋग्वेद के मंत्र 'सोमोऽददद्गंधर्वाय' (ऋ० १०.८५) को जपता है।[२०] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में वेदाध्ययन अथवा ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार के प्रसंग में ब्रह्मचारी के अनुलेपन की विधि में यह कथन मिलता है कि 'दोनों हाथों में अनुलेप करने के पश्चात् पहले ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपने मुख पर अनुलेप करे, क्षत्रिय दोनों भुजाओं को, वैश्य अपने पेट और स्त्री अपने गुह्यांग तथा दौड़ने की क्रिया से जीवन-वृत्ति चलानेवाले अपने जंघों को।'[२१] स्त्री के ब्रह्मचर्य-आश्रम, वेदाध्ययन तथा समावर्तनसंस्कार का औचित्य आश्वलायन के मतानुसार सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के इन उद्धरणों के पश्चात् जब दूसरे आर्ष एवं संस्कृत साहित्य के अमूल्य वचनों को देखते हैं उनसे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक युग में स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वंचित न थीं। राम को यौवराज्य देने की अपनी इच्छा पर जनमत की मुहर लग जाने पर जब दशरथ उसकी तैयारी में लग गये कौसल्या उसकी निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त ईश्वरीय वर प्राप्त करने में प्रवृत्त हो गयीं। इसके वर्णन में वाल्मीकि ने कहा है कि सदैव व्रत-परायणा कौसल्या ने कौशेय वस्त्र धारण करके प्रसन्न चित्त से मांगलिक कृत्य किया और मंत्रपूर्वक अग्नि में हवन किया।[२२] वाल्मीकीय रामायण से

२० पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव हिंदू धर्मशास्त्र, पुस्तक २, भाग १, पृष्ठ, २९४

२१ आश्व० गृ० सू० ३.८.११

२२ वा० रा० अयोध्या काण्ड, २०.१५

हम यह भी जानते हैं कि राम और लक्ष्मण की तरह सीता सन्ध्या कर्म में कभी प्रमाद नहीं करती थीं। उनके वनवास के दिनों का एक वर्णन यह आता है 'उसके पश्चात् शेष बचे जल को ग्रहण करके लक्ष्मण ने भी उपवास किया और तीनों (राम, लक्ष्मण और सीता) ने मौन और सावधान होकर संध्योपासना की।'[२३] सीता के हरी जाने पर उनकी खोज में व्याकुल रामचंद्र ने नदी पर उनके मिल जाने की आशा का जो कारण दिया वह अत्यंत सार-सूचक है। उनके इस कथन में कि 'संध्या का समय हो गया ऐसा समझ कर श्याम वर्ण सुन्दरी श्रेष्ठ जानकी संध्या के लिए इस निर्मल जलवाली नदी पर अवश्य आयेंगी'[२४]—सीता के सायंकाल की संध्योपासना को भी न भूलना पाया जाता है। यह कहना अनावश्यक है कि संध्योपासना में वैदिक मंत्रों का उच्चारण तथा जप उसकी अनिवार्य विधि है।

कालिदास ने भी स्त्रियों के वेदाध्ययन तथा अग्निहोत्र करने का उल्लेख किया है। महादेव को पति रूप में पाने के लिए तपस्या में लीन पार्वती के वर्णन में कालिदास के इस कथन में कि 'जब पार्वती स्नान करके वल्कल धारण कर, हवनपूर्वक वेदमंत्र पढ़ रही थीं उस समय उनके दर्शन की इच्छा से ऋषियों ने उनका अभिवादन किया, क्योंकि धर्म में जो वढ़ जाते हैं उनके वयस् पर ध्यान नहीं दिया जाता'[२५] स्त्रियों के उक्त अधिकार का समर्थन पाया जाता है।

उपनिषत्काल की स्थिति

यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के पूर्व वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य था, यद्यपि मुंडकोपनिषद् के इस मंत्र में कि 'यह ब्रह्मविद्या उन्हीं को बतलानी चाहिए जो क्रियानिष्ठ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हों और श्रद्धापूर्वक एकर्षि नामक अग्नि में हवन करते हों तथा जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का अनुष्ठान किया है'[२६] यह मानने के लिए अवकाश है कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए श्रोत्रिय अथवा वेदाध्यायी होना आवश्यक माना जाता था। यदि यह धारणा संदेहरहित हो तो उन ब्रह्मवादिनियों के संबंध में, जिनके वेदाध्यन के विषय में हमें स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलते, यह कहने में कोई

---

२३ वही, अयोध्या काण्ड, ८७.१९

२४ वही, सुन्दर काण्ड, १४.४९

२५ कुमार सं० ५.१६

२६ मुं० उप० ३.२.१०

बाधा नहीं कि उन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों का अध्ययन किया था। बृहदारण्यक उपनिषद् ने ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी का नाम अध्यात्म विद्या के इतिहास में अमर कर दिया है जिसने अपने महातत्वज्ञानी पति याज्ञवल्क्य के इस प्रस्ताव को कि 'मेरे पास जो कुछ सम्पत्ति है उसे तुममें और तुम्हारी सवत कात्यायनी में विभाजित कर संन्यास लेना चाहता हूँ' इन अविस्मरणीय शब्दों में अस्वीकार कर दिया कि 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँगी, आपको जो ज्ञान प्राप्त है मुझे वही बतलाइये।'[२७] तत्वज्ञान की भूखी मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने उस ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर उसे ब्रह्मज्ञानियों के समकक्ष कर दिया जिसका उद्देश्य उनके शब्दों में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्'[२८]—अरे मैत्रेयि! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और समाधि में साक्षात्कार करना चाहिए, आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान में उसे जान लेने के उपरान्त कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता, आत्मज्ञान की उपलब्धि है।

याज्ञवल्क्य को भी चकित करनेवाली गार्गी वाचक्नवी भी ब्रह्मवादिनी थी। दीर्घ काल तक मिथिला ज्ञान की केन्द्र थी और जनकों के संरक्षकत्व में वहाँ बड़े-बड़े दार्शनिक सम्मेलन हुआ करते थे जिनमें दूर-दूर से तत्वज्ञानी सम्मिलित होकर ब्रह्मविषयक विचार-विमर्श किया करते थे। ऐसे ही एक सम्मेलन में जब याज्ञवल्क्य के तेजस्वी तत्वज्ञान की मीमांसा के सम्मुख अनेक ज्ञानी सिर झुका चुके, गार्गी वाचक्नवी ने उसके सामने प्रश्नों की झड़ी लगा दी और अन्त में याज्ञवल्क्य को उसे यह कहकर चुप करना पड़ा कि 'तू अब जो प्रश्न कर रही है वह रहस्यमय है और इस प्रकार के प्रश्न सार्वजनिक सभाओं में नहीं उठाए जाते।'[२९]

पंचाल में भी इसी प्रकार की एक दार्शनिक परिषद् का उल्लेख मिलता है (बृह० उप० ६.२.१), और काशी में राजा अजातशत्रु ने दृप्त बालाकि को ब्रह्मविद्या का रहस्य बतलाया था, इससे यह पता चलता है कि उस समय ब्रह्मज्ञान केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न रह कर अनेक विद्वान् और क्रियानिष्ठ क्षत्रिय राजाओं में भी पूर्ण रूप से विकसित था। वे ब्रह्मविद्या सहित सकल कलाओं और विद्याओं को प्रश्रय देते थे जो उनके आत्मज्ञान और गुणग्राहकता का द्योतक है। दृप्त बालाकि के ब्रह्मविद्या विषयक प्रश्न का समाधान करते

---

२७ बृह० उप० २, ४, ३
२८ वही २.४.५
२९ उत्तर राम० २-४

हुए अजातशत्रु का यह कहना कि 'ब्राह्मण क्षत्रिय से ब्रह्मज्ञान की प्रार्थना करे यह सर्वथा प्रतिलोम (विपरीत) है (वही २.१.१४), उस समय की राज्य परिषदों की उन्नतावस्था और राजाओं की ज्ञाननिष्ठा का आभास देता है।

दार्शनिक परिषदों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इसका संकेत छान्दोग्य उपनिषद् (५.११.५) में मिलता है जहाँ केकय नरेश अश्वपति को अपने राज्य के विषय में औपमन्यव, सत्ययज्ञ और इंद्रद्युम्न जैसे ब्रह्मवेत्ताओं को 'वैश्वानर विद्या' का रहस्य बतलाते हुए यह कहते पाते हैं कि 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।'

पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी वेदान्त ज्ञान की यह परंपरा वैदिक युग में बराबर बनी रही। इसका एक सुन्दर वर्णन हमें भवभूति के 'उत्तररामचरित' में मिलता है। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जिस समय लव और कुश वेदाध्ययन कर रहे थे और महर्षि वाल्मीकि रामायण की रचना में लग गये थे वहीं पर एक स्त्री आत्रेयी भी अध्ययन कर रही थी। उस आश्रम को छोड़कर वह पर्यटन करती हुई बहुत दूर दंडकारण्य में अगस्त्य के आश्रम में पहुँची। आने का कारण पूछने पर उसने जो उत्तर दिया वह बड़ा ही अर्थसूचक है। उसने स्वीकार किया कि वह पढ़ने में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनकी बराबरी नहीं कर पाती थी, दूसरे, कुलपति रामायण की रचना में व्यस्त रहने के कारण उतना ध्यान नहीं दे पाते थे। आत्रेयी की इस उक्ति में कि 'गुरु जिस तरह बुद्धिमान् छात्र को उसी प्रकार मंद बुद्धि को भी पढ़ाता है, किन्तु दोनों की ग्राहिका शक्ति को वह न बढ़ाता है न मंद ही करता है, परिणाम में बहुत-सा अंतर होता ही है, उसी तरह जैसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति मणि में होती है न कि मिट्टी इत्यादि में'[३०] गुरु में किसी दोष को न देखकर अपने आपमें न्यूनता का अनुभव करना शिष्य का कर्तव्य सूचित किया गया है एवं उसके इस उत्तर में कि 'इस भूभाग में जहाँ बहुत-से ब्रह्मवेत्ता जिनमें अगस्त्य प्रमुख हैं वास करते हैं उनसे वेदान्त-विद्या प्राप्त करने के लिए मैं वाल्मीकि के पास से पर्यटन करके यहाँ आयी हूँ' स्त्रियों की ब्रह्मजिज्ञासा पर प्रकाश पड़ता है।

समावर्तन संस्कार में सहशिक्षा का मूल

स्त्रियाँ बिना पर्दे के पुरुषों के बीच रहकर ज्ञान की प्राप्ति कर सकती थीं।

---

३० वही २.३

वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश के साथ आत्रेयी का अध्ययन उस युग में सहशिक्षा प्रणाली के अस्तित्व का भी द्योतक हो सकता है। ब्रह्मचर्य-प्रणाली के आरम्भ काल में गुरुकुलों में सहशिक्षा का प्रचार था इस धारणा का समर्थन आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित समावर्तन संस्कार की विधि से भी मिलता है। इस विधि में स्नातक के अनुलेपन-क्रिया के वर्णन में जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है बालक और बालिका का समावर्तन संस्कार साथ-साथ सम्पादन होना पाया जाता है। सहशिक्षा किन्हीं कारणों से बन्द हो गयी और उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों को घर पर वेदाभ्यास कराने की प्रथा चल पड़ी।

यद्यपि वैदिक धर्म में उपासना और ज्ञान का पर्याप्त स्थान है तथापि वह मूलतः यज्ञप्रधान अथवा कर्मकांडात्मक है। वेदों में यज्ञ की अपार महिमा बतलायी गयी है और विभिन्न यज्ञों की विधियाँ शतपथ तथा दूसरे ब्राह्मण-ग्रन्थों में निर्दिष्ट हुई हैं। वेदों का पाठ तथा यज्ञीय विधियाँ क्रमशः अत्यन्त जटिल और दुरूह होती गयीं और मनुष्य की मेधा-शक्ति में ह्रास आ गया जिससे यथाविधि वेदमंत्रों का पाठ एक अत्यन्त विषम समस्या हो गयी। यह अनुभव किया जाने लगा कि मंत्रों के पाठ में जरा-से स्वर भेद से अर्थ का अनर्थ अर्थात् इष्टसिद्धि के स्थान में अनिष्ट हो जाता है जिसका एक प्रसिद्ध उदाहरण महर्षि पाणिनि[३१] ने दिया है। पाणिनि का कथन है कि 'जो मंत्र स्वर या वर्ण से हीन होता है अथवा जिसका मिथ्या प्रयोग किया जाय वह उद्देश्य की सिद्धि नहीं करता। वह वाग्वज्र बनकर यजमान को ही मार डालता है जैसे स्वरदोष के कारण वृत्रासुर मारा गया।'[३२]

पाणिनि के इस कथन का आधार एक ऐतिहासिक घटना बतलायी जाती है। इन्द्र को मारने के लिए वृत्रासुर ने एक यज्ञ किया जिसमें मंत्र के शब्दों में 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' शब्द आये जिनका उद्देश्य था कि इन्द्र के शत्रु अर्थात् वृत्रासुर की वृद्धि हो। परन्तु स्वर का अशुद्ध उच्चारण हो जाने के कारण मंत्र का अर्थ हो गया इन्द्र की, जो शत्रु है, वृद्धि हो। इस अशुद्ध उच्चारण की परिणति इन्द्र के स्थान में वृत्रासुर यजमान के वध में हुई। संभवतः इस तरह के अनेक दृष्टान्त सामने आए जिससे समाज में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो

---

३१ गोल्डस्टकर और रामकृष्ण भंडारकर पाणिनि का समय बुद्ध के पहले सातवीं शती बतलाते हैं जब कि आधुनिकतम मत डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वह ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी ठहरता है। (दे० 'पाणिनिकालीन भारत', पृ० ४७९)

३२ मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। पाणिनि शिक्षा ५२

गया और परिणामस्वरूप वेदाध्ययन में शैथिल्य आ गया और स्त्रियों के लिए तो एकदम वर्जित ही कर दिया गया।

मनुस्मृति में जहाँ ब्रह्मचर्य के सविस्तार नियम दिये गये हैं, एक भी वचन ऐसा नहीं मिलता जिसमें उपनयन अथवा वेदों के अध्ययन में कन्या के अधिकार की सूचना मिले। प्रत्युत उसके लिए ये सब अनावश्यक ठहरा दिये गये। जिस समय वर्तमान रूप में मनुस्मृति का संपादन हुआ उसमें यह प्रतिपादित किया गया कि विवाह की विधि ही स्त्री के लिए वैदिक संस्कार है, पति की सेवा उसके लिए गुरुकुल अथवा ब्रह्मचर्याश्रम है और घर-गृहस्थी अग्नि-परिचर्या है।[३३] कन्या के ब्रह्मचर्य की पाबन्दी हटने के कारण उसका विवाह-काल भी नीचे खिसकना आरम्भ हो गया। उसकी बुद्धि और मेधा में ह्रास आने लगा और उसकी वैदिककालीन स्वातन्त्र्य भावना का स्थान पराश्रयत्व लेने लगा।

वैदिक सभ्यता की प्रौढ़ावस्था में स्त्रियों को वेदाध्ययन की स्वतंत्रता थी ही वह तत्कालीन सार्वजनीन संस्थाओं में भी भाग लेती थी। सभा और समितियाँ जहाँ राजनीतिक संस्थाएँ थीं एक प्रसिद्ध संस्था 'विदथ' थी जो प्रायः यज्ञों के साथ सम्पन्न होती थी और जिसे एक प्रकार का धार्मिक सम्मेलन कह सकते हैं। उनमें स्त्रियाँ सम्मिलित हो सकती थीं और उनमें भाषण करना एक सम्मानित गुण माना जाता था। विवाह के अवसर पर प्रयोग में आनेवाले ऋग्वेद के मंत्र में वधू से वर का यह कहना कि 'प्रभावशालिनी तुम विदथ में भाषण करोगी'[३४] सूचित करता है कि इन धार्मिक सभाओं में स्त्रियाँ वक्तृताएँ देकर उन्हें प्रभावित करती थीं और इसका उनके पतियों को गर्व होता था। कालांतर में जब गुरुकुलों में स्त्रियों को भेजना बन्द हो गया कदाचित् उसी समय उनका सभाओं में सम्मिलित होना भी रुक गया जिसका संकेत मैत्रायणी संहिता के इस वचन में मिलता है कि 'इसलिए स्त्रियाँ सभा में नहीं जातीं पुरुष ही जाते हैं।'[३५] संभवतः यह प्रतिबंध रघुवंशी दशरथ के पहले लग गया था, क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में जहाँ हम यह देखते हैं कि उन्होंने राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए चारों वर्णों के लोगों की सभा बुलायी, किसी स्त्री के आमंत्रित किये जाने का पता नहीं लगता। महाभारत के समय तक सभाओं में स्त्रियों का खुले रूप से सम्मिलित होना निःसंदिग्ध रूप से अमान्य हो गया था यह हस्तिनापुर के विनाशकारी

---

३३ मनु० २-६७

३४ वशिनी त्वं विदथमावदासि। ऋ० १०.८५.२६

३५ तस्मात्पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः। मै० सं० ४.७.१

द्यूत-क्रीड़ा के वर्णन से प्रकट होता है। पाँसे पर द्रौपदी को युधिष्ठिर के हार जाने पर जब दुःशासन उसे राजप्रासाद से घसीटता हुआ द्यूत-सभा में ले गया तो द्रौपदी ने जिन शब्दों में इस कुकर्म की भर्त्सना की उनसे इस कथन की पुष्टि होती है। द्रौपदी का यह आरोप कि 'मैंने सुना है कि पहले के लोग धर्म से रहनेवाली स्त्री को सभा में नहीं ले जाते थे, सो वह पुरातन सनातन धर्म कौरवों में नष्ट हो गया'[३६] बतलाता है कि महाभारत के पहले स्त्रियों के सभाओं में सम्मिलित होने की प्रथा बंद हो गयी थी।

यह बतलाना अत्यंत कठिन है कि साधारण जनता में पुरुषों की तुलना में शिक्षित स्त्रियों का क्या अनुपात था; किंतु इतना निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम से कम श्रीमंतों के घरानों में कन्याओं को शिक्षा देने का समुचित प्रबंध था और उनके पढ़ाने का काम प्रायः अनुभवी तथा विद्वान् वृद्ध जनों को सौंपा जाता था। दमयंती के स्वयंवर के समय इंद्र, वरुण, यम और अग्नि देवों ने उसे पाने के लिए नल का छद्म वेष बनाकर प्रत्याशियों के बीच में स्थान ग्रहण कर रखा था। एक रूप के पाँच नलों में से असली नल को वरण करना दमयंती के लिए साधारण समस्या न थी। इस समय दमयंती को जो शिक्षा दी गयी थी उसका उपयोग करके उसने उन देवताओं को भी छका दिया। उसने मन ही मन तर्क किया कि मैंने वृद्धों से सुना है कि देवताओं में कुछ ऐसे चिह्न होते हैं जिनसे वे पहचान लिये जाते हैं।[३७] उन चिह्नों का स्मरण करके दमयंती ने इंद्रादिकों को पहचान लिया और असली नल के गले में जयमाल डाल दी। दमयंती के वृद्धों द्वारा अनुशिष्ट होने का प्रमाण उसके इस कथन में भी मिलता है कि 'वृद्धों से यह शिक्षा सुनी है कि काल के आये बिना कोई नहीं मरता।'[३८] इसी प्रकार अनुभवी और पुराणों में प्रवीण शिक्षक राजकन्याओं को शिक्षित किया करते थे इसकी पुष्टि कुंती के कई प्रसंगों में कहे गये वचनों से होती है। दौत्य-कार्य में विफल श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर से विदा करने के अवसर पर कुंती ने युधिष्ठिर के पास जो संदेश भेजा उस प्रसंग में वह कहती है 'और एक उदाहरण सुनो जिसे मैंने वृद्धों से सुन रखा है।'[३९] इस बात का समर्थन द्रौपदी के वचनों से होता है। द्रौपदी कहती है कि 'भार्या की रक्षा होने से संतान की रक्षा होती है, संतान की रक्षा से आत्मा की रक्षा होती

३६ म० भा०, सभापर्व ६९.९
३७ म० भा०, वनपर्व ५७.१४
३८ म० भा०, वनपर्व ६५.३९
३९ म० भा०, उद्योग पर्व १३.२.८

है। भार्या में आत्मा संतान के रूप में जन्म लेती है, इसी से भार्या को जाया कहते हैं। भार्या को यह चिंता होती है कि उसके उदर में भर्ता किस प्रकार कुशलपूर्वक उत्पन्न हो। इस विचार से भार्या भर्ता की रक्षक होती है। इस वर्णधर्म को मैंने ब्राह्मणों के मुख से सुना है।'[४०] मनुस्मृति तथा दूसरे धर्मशास्त्रों में पुरुष पत्नी का रक्षक बतलाया गया है। इस विचारधारा में द्रौपदी के यह एक नया विचार जोड़ देने से कि 'गर्भ की रक्षा करने के कारण स्त्री पति की रक्षक होती है, स्त्रियों की स्वतंत्र चिंतन-शक्ति का आभास पाया जाता है।' एक अन्य प्रसंग में द्रौपदी ने अपनी धीरता तथा श्रुत ज्ञान का जो परिचय दिया है वह भी इसी प्रकार की शिक्षा का फल है। उसके यह विचार कि 'मनुष्य की सफलता और हार-जीत अनित्य हैं, यह समझ कर मैं अपने पतियों के भाग्योदय की प्रतीक्षा कर रही हूँ और सम्पद्-विपद् गाड़ी के चक्कों की तरह बदलते रहते हैं इसे मन में रखकर मैं उस दिन की राह देख रही हूँ जब मेरे पतियों के दिन लौटेंगे'[४१] उदारतम शिक्षा के ही परिणाम हो सकते हैं।

गृह अथवा कुटीर-उद्योग की शिक्षा भी स्त्रियों को वैदिक काल में दी जाती थी और कदाचित् ही कोई समय आया जब इस क्रम में व्यवधान पड़ा। गृहस्थी का सारा भार प्रायः गृहस्वामिनी ही के ऊपर था। अतः गृह-कार्य की शिक्षा तथा गृहस्थी का हिसाब-किताब रखने की व्यवस्था नारी-शिक्षा का एक विशेष अंग था। इस कार्य में बड़ी स्त्रियों को लघुता का अनुभव नहीं होता था जैसा कि सत्यभामा के साथ एक भेंट में द्रौपदी ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि उसे ग्वालों और गड़ेरियों तक की पूरी जानकारी थी। लड़कियों की शिक्षा में नृत्य, वादित्र, गान और चित्रकला का समावेश बहुत प्राचीन है।

शिक्षा के विषय

मनुस्मृति के इस कथन से कि 'ब्रह्मचारी गुरुकुल में ३६ वर्ष तक, १८ वर्ष तक या ९ वर्ष तक अथवा जब तक समाप्त न कर ले तीनों वेदों का अध्ययन करे'[४२] पाठ्य विषय का एक अधूरा ही परिचय मिलता है। इसका कुछ अधिक ज्ञान हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों से होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वेदा-

---

४० म० भा०, विराटपर्व २१.४०-४२

४१ म० भा०, विराटपर्व २०.३-४

४२ मनु० ३.१

ध्ययन का एक आवश्यक अंग 'अनुशासन'[४३] है जिसका तात्पर्य भाष्यकार सायण ने शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष किया है, जिससे इन विषयों का अध्ययन गुरुकुल-प्रणाली का अनिवार्य अंग समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त औपनिषदिक काल में ही दूसरी विद्याओं का ज्ञान हो चुका था और उनका अध्ययन-अध्यापन साधारण बात हो गयी थी। वेद-वेदांगों की शिक्षा के साथ उन दिनों किन विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी इसका एक अति प्राचीन उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में नारद-सनत्कुमार-संवाद में उपलब्ध है। नारद ने सनत्कुमार के पास जाकर ब्रह्म-विद्या बतलाने की प्रार्थना की जिस पर उनकी योग्यता जानने के लिए सनत्कुमार ने नारद से उन विद्याओं के नाम पूछे जिनका उन्हें ज्ञान हो चुका था। इस पर नारद ने उत्तर दिया कि 'मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण,पितृविद्या, राशि-विद्या, दैवविद्या, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या पढ़ी है।'[४४] छांदोग्य उपनिषद् के इस उद्धरण से हमें ज्ञात होता है कि गुरुकुलों में यद्यपि षडंग वेदाध्ययन अनिवार्य विषय था तथापि शिक्षा में अनेक शस्त्र और शास्त्रों के सिवाय नृत्य, वादित्र और चित्र इत्यादि कलाओं का भी समावेश था। यद्यपि इन समस्त विद्याओं का अपने-अपने स्थान में महत्त्व था, फिर भी सर्वोपरि महत्व ब्रह्म-विद्या का ही था जिसे उक्त संवाद में श्रेष्ठता दी गयी और उसे ही मुंडक उपनिषद् में 'परा' विद्या घोषित करके इतर समस्त ज्ञान-विज्ञान को 'अपरा' विद्या का अभिधान दिया गया।[४५] फलस्वरूप वैशेषिक, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा और वेदांत अध्यापन के विषय हुए और बाद को संवृद्ध होकर दर्शन शास्त्रों के रूप में अस्तित्व में आये। अत्यंत प्राचीन काल में न्याय, योग और सांख्य में कुछ स्त्रियाँ कितनी योग्य हो चली थीं इसका एक उदाहरण महाभारत में असाधारण विदुषी सुलभा का मिलता है जिसने विवाह न करके जीवनपर्यंत ब्रह्मचारिणी रहने का व्रत लिया और अनेक आश्रमों में ज्ञानार्जन करती हुई उस समय के प्रसिद्ध ज्ञानी धर्मध्वज जनक को अपनी विलक्षण वाग्मिता और असाधारण योग-क्रिया के प्रदर्शन से अत्यन्त विस्मित कर दिया।

जटिल एवं दुरूह वैदिक यज्ञविधियों और विधानों की एकवाक्यता करने और उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए मीमांसा जैसे कठिन दर्शन की

४३ शत० ब्रा० ११.५.६८
४४ छांदो० उप० ७.१.२
४५ मुं० उप० १.१. ४.५

रचना हुई जिसके अध्ययन में स्त्रियाँ भी निपुण हुई। इस शास्त्र में काशकृत्स्नानी ने मौलिक तथ्यों में वृद्धि की जिससे उसके नाम से उसमें एक नयी परम्परा चल निकली। मीमांसाशास्त्र पर उसने एक मौलिक ग्रन्थ 'काशकृत्स्नी' की रचना की जिसे स्त्री-छात्राएँ विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए पढ़ती थीं।[४६] स्त्रियाँ अध्यापन का कार्य भी करती थीं यह उपाध्याया शब्द की नयी रचना से स्पष्ट है। जहाँ उपाध्यायिनी शब्द से उपाध्याय की स्त्री का बोध होता आया वहाँ अध्यापन करनेवाली स्त्री के लिए उपाध्याया शब्द का गढ़ना आवश्यक हो गया। वस्तुतः स्त्रियों में न केवल उपाध्याया, वल्कि आचार्या भी होती थीं जिन्हें सांग रहस्य वेदों के अध्यापन एवं माणवकों को उपनयन देने का अधिकार था। यह बात असंदिग्ध है कि पाणिनि और पतंजलि के समयों में स्त्रियाँ वैदिक चरणों में अध्ययन ही नहीं, अध्यापन भी करती थीं।[४७] हर्ष के बाद ७ वीं ८ वीं शती में भी स्त्रियों के अध्यापन कार्य का पता मिलता है। शंकराचार्य से मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ में हार जाने और परिणाम स्वरूप संन्यास ले लेने पर उनकी पत्नी उभयभारती शृंगगिरि में अध्यापकी करने लगी और कहते हैं कि भारती द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही शृंगेरी और द्वारका के मठों का शिष्य संप्रदाय 'भारती' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[४८]

संस्कृत का उन दिनों भी बहुत प्रचार था जिसका साक्ष्य यह कथा देती है कि मंडन मिश्र के स्थान का पता भगवान् शंकराचार्य के माहिष्मती के समीप नदी में स्नानार्थ समवेत स्त्रियों से पूछने पर मंडन मिश्र की दासी ने यह श्लोकबद्ध उत्तर दिये कि—

'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरंति।
द्वारस्थ नीडांतर संनिरुद्धा जानीहि तन्मडन मिश्र धाम॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः कीरांगना यत्र गिरो गिरंति।
द्वारस्थ नीडांतर संनिरुद्धा जानीहि तन्मंडन मिश्र धाम॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीरांगना यत्र गिरो गिरंति।
द्वारस्थ नीडांतर संनिरुद्धा जानीहि तन्मंडन मिश्र धाम॥

४६ Kās'akritsnani had composed a work on Mīmāmsā called kās'akritsni after her, lady students who used to specialise in it were known as kās'akritsna. Dr. A. S. Altaker: Education in Ancient India, 208

४७ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारत, पृ० २८१

४८ रामदास गौड़ : हिंदुत्व, ज्ञानमंडल यंत्रालय काशी, सं० १९९५

अर्थात् 'वेद स्वतः प्रमाण हैं वा परतः प्रमाण, कर्म आप ही फल देता है अथवा ईश्वर कर्म का फल देता है, जगत नित्य है या अनित्य इस प्रकार जिसके द्वार पर पिंजरे में बैठी मैना वाक्य बोलती है उसे ही मंडन मिश्र का घर समझियेगा।'

प्राचीन समय में विद्यापीठों से छात्रावास संलग्न होते थे और पाणिनि के 'छात्र्यादयः शालायाम्'[४९] 'शाला में छात्रा' आदि से मालूम होता है कि पाणिनि के पहले से कन्या-विद्यार्थिनियों के लिए छात्रावास होते थे जो अनुमानतः बालक छात्रों के आवासों से अलग बने होते।

चिकित्सा के क्षेत्र में स्त्रियाँ कुशल हुई हैं और चिकित्सा-विज्ञान पर उनके ग्रंथों का पता लगा है। अरबी भाषा में किसी रूसा का नाम मिलता है जो एक भारतीय महिला थी। धातृ-कर्म पर उसने एक ग्रंथ संस्कृत में लिखा था जिसका भाषांतर अरबी में आठवीं शती में हुआ। प्राचीन काल में स्त्रियों को गणित का ज्ञान कराया जाता था यह पहले कहा ही जा चुका है। बाद को भी उसकी शिक्षा लड़कियों को दी जाती रही इसका सुंदर उदाहरण गणित-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'लीलावती' है जिसकी रचना बारहवीं शती में प्रसिद्ध गणितज्ञ भास्कर द्वितीय ने अपनी कन्या लीलावती को गणित पढ़ाने के लिए की। शंकराचार्य और मंडन मिश्र के शास्त्रार्थ में मंडन मिश्र की धर्मपत्नी उभय भारती की मध्यस्थता जहाँ उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचायक है उसका अपने पति के विरुद्ध निर्णय देना, जिसका निश्चित परिणाम शंकराचार्य के मत को स्वीकार कर संन्यास ग्रहण था, उसकी निष्पक्षता और न्याय-निष्ठा का अनुपम उदाहरण है।

भारतीय नारी की शिक्षा में कला पक्ष को प्राचीन काल से विशेष स्थान मिलता आया है। वैदिक युग में ही नृत्य नारी का भूषण माना जाने लगा था, जब कला पक्ष के विकास के अभाव में शिक्षा अपूर्ण मानी जाती थी। यह कथन निराधार नहीं है कि 'महाकाव्यों के काल तक गान तथा नृत्य की स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त थी।' वेदों में स्त्रियों के नृत्य तथा गान का संकेत मिलता है जहाँ देवी उषा के विषय में कहा गया है कि 'नृत्य करनेवाली बालिका की तरह वह अपने ऊपर भड़कीले वस्त्र डालती है।'[५०] महाभारत से ज्ञात होता है कि विराट ने अपनी राजधानी में अपनी राजपुत्री उत्तरा को नृत्य सिखाने के लिए नृत्य-शाला स्थापित की थी जिसमें नगर की कन्याएँ भी शिक्षा पाती थीं।

४९ पाणिनिः अष्टाध्यायी ६.२.८५

५० डॉ० आल्तेकरः दि पोजिशन ऑव वीमेन इन एंश्येंट इंडियाः दि कल्चरल हेरिटेज ऑव इंडिया; श्री रामकृष्ण सेंटिनरी मेमोरिएल, पृ० २१९

उनके शिक्षक पुरुष भी हो सकते थे, परन्तु उनका नपुंसक होना आवश्यक था, जैसा उत्तरा का शिक्षक नियुक्त करते समय विराट ने परीक्षा कराकर विश्वास कर लिया था कि बृहन्नला (अर्जुन) नपुंसक था। शुंग काल में नाट्य-कला की वृद्धि विशेष रूप से हुई। अग्निमित्र (द्वितीय शती ई० पू०) के प्रासाद में एक संगीतशाला थी जहाँ नाट्यकला की शिक्षा में नियुक्त गणदास और हरदत्त नाम के दो अध्यापकों में कला-विषयक होड़ रहती थी। यह उल्लेखनीय है कि मालविका के नाट्य-शिक्षा की परीक्षा की मध्यस्थता सम्राट अग्निमित्र के आग्रह से एक स्त्री ने की जो विदर्भ के राजा माधवसेन के मंत्री सुमति की बहन थी और अग्निमित्र के यहाँ परिव्राजिका के वेश में छिपकर रहती थी।[५१]

काव्य के क्षेत्र में भी स्त्रियों का कम योगदान नहीं रहा है। दक्षिण भारत की कई नारियाँ—रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, पाहायी, बद्धवाही, शशिप्रभा-इत्यादि उल्लेखनीय हैं जिन्होंने प्राकृत में उत्तम कोटि की कविताएँ रचीं। संस्कृत काव्य में कई स्त्रियों ने कमाल किये हैं। शीलो भट्टारिका का नाम इस क्षेत्र में आदर के साथ लिया जाता है। गुजरात की देवी मुग्धकारी की संस्कृत काव्य-रचना मुग्धकारी होती थी जिसकी प्रशंसा में यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'वह इस संसार में न रहते हुए भी रसिक जनों के हृदयों में विराजमान है, क्योंकि लाटी शैली में शृंगार रस की कलापूर्ण कविता करने में वह सिद्धहस्त थी।' संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञों ने कर्णाटक की विजयांका की भूरिशः प्रशंसा की है और यह सम्मति दी है कि विजयांका कर्णाटक की सरस्वती की तरह विजयिनी है, जिसका कालिदास के बाद वैदर्भी वाणी पर एकाधिकार था। उसके महत्त्व का अनुमान राजशेखर की इस आलोचना से लगाया जा सकता है कि 'दंडी ने यह व्यर्थ ही कहा है कि सरस्वती सर्व-शुक्ला है, क्योंकि वह विजयांका से परिचित नहीं था जो नीले कमल के समान श्याम थी।' डॉक्टर अलतेकर को एक संस्कृत नाटक का, जिसकी रचयिता कोई स्त्री विद्या या विज्जका थी, पता लगा था। उसका नाम 'कौमुदी-महोत्सव' है जिसका कथानक पाटलिपुत्र की एक राजनीतिक क्रान्ति है जिससे स्त्रियों की राजनीतिक अभिरुचि का परिचय मिलता है। सुभद्रा, सीता, मारुला, इन्दुलेखा, भवदेवी, विकटानितम्बा आदि जिनकी काव्य-रचनाएँ लुप्त हो गयी हैं, अच्छी कवयित्रियाँ हो गयी हैं। स्वयं महाकवि राजशेखर की स्त्री भी एक निपुण कवयित्री हो गयी है और समालोचना के क्षेत्र में उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है।

---

५१ मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक

अध्याय ७

विवाह : विवाह के प्रकार, विवाह की पूर्णता, विवाह की अवस्था और वर-कन्या के गुण-दोष

विवाह

यद्यपि जीवन की सार्थकता के लिए सभी संस्कारों की उपयोगिता मानी गयी है, वैवाहिक संस्कार का महत्व अत्यन्त विशिष्ट है। प्राचीन काल में सहस्रों ब्रह्मचारियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया और सांसारिक सुखोपभोग में प्रवृत्त न होकर परलोक साधन में लगे रहे परन्तु यह एक सामान्य अवस्था का द्योतक नहीं है। महाभारत और पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि के आरंभ में अमैथुनी सृष्टि से प्रजापति ने सनक, सनन्दन, सन, सनातन, सनत्कुमार और कपिल इत्यादि पुत्रों को उत्पन्न करके उन्हें संतानोत्पत्ति के द्वारा सृष्टि-चक्र चलाने की आज्ञा दी, परन्तु वैराग्य की भावना से उन्होंने निवृत्ति मार्ग ही को स्वीकार किया और सृष्टि को अग्रसर करने के लिए ब्रह्मा को मरीचि, अत्रि, अंगिरा इत्यादि अन्य पुत्रों को उत्पन्न करना पड़ा।[1] इससे इन ग्रन्थों के मतानुसार सृष्टिकर्त्ता की इच्छा सृष्टि-प्रवाह को अविच्छिन्न रखने की प्रकट होती है। यही विवाह का प्रधान उद्देश्य स्थिर हुआ।

प्रजापति की इच्छा का विचार एक ओर रखकर यदि मानव प्रकृति पर विचार करें, फिर भी ऐकान्तिक निवृत्ति मार्ग सबके लिए साध्य नहीं हो सकता। दूसरे इस प्रकार के महात्मा ब्रह्मचिन्तन में लगे रहकर साधारणतः लोक से दूर अथवा तटस्थ रहते और साधारण जनता के हितार्थ जो लोक कल्याण की भावना अपेक्षित है संसार उससे वंचित रह जाता है। इसलिए निवृत्ति मार्ग के साथ ही प्रवृत्ति मार्ग का उदय हुआ। यह बात नहीं कि इस मार्ग में जीवन का लक्ष्य आत्म कल्याण अथवा ब्रह्मोपलब्धि नहीं है, किन्तु इस पर चलकर मनुष्य की पाशविक अथवा तामसी वृत्तियों पर क्रमशः विजय करते हुए पूर्णावस्था प्राप्त कर लेने पर भी लोक कल्याण की भावना जाग्रत रहती है।

---

१ म० भा०, शान्तिपर्व, अ० ३३९-३४०; भाग० ३. १२. ४; विष्णु पु०, १.७

ब्रह्मचर्याश्रम के कठोर अनुशासन से ब्रह्मचारी का सात्विकता के मार्ग पर चलने का बहुत कुछ स्वभाव बन जाता है। इस प्रकार के आचारनिष्ठ पुरुष से ही विवाह के आदर्श पर चलने की अपेक्षा की जा सकती है। इसीसे इस अवस्था में उसे विवाह करने का धर्मशास्त्रों में आदेश हुआ है। उनकी दृष्टि इस तथ्य से कभी नहीं हटती कि आहार, निद्रा इत्यादि सामान्य धर्मों के कारण मनुष्य में पशुत्व का अंश है जिसे दूर कर देवत्व की अभिव्यक्ति की जा सकती है। और इस स्थिति में पहुँचने के लिए दुर्बलताओं को जीतना आवश्यक होता है। इसमें संदेह नहीं कि इन दुर्बलताओं में कामवासना अत्यंत प्रबल और दुर्दम्य है।

विवाह का एक मुख्य उद्देश्य वासना की उद्दामता को बड़ी नदी के बाँध के द्वारा रोकने की तरह है। भागवत के कथनानुसार इस संसार में किसी से यह कहना नहीं पड़ता कि तुम मैथुन, मांस और मदिरा का सेवन करो; ये बातें मनुष्य को स्वभाव ही से पसंद हैं, इन तीनों की व्यवस्था कर देने के लिए विवाह, सोम याग और सौत्रामणी यज्ञ की योजना की गयी है। तथापि निष्काम आचरण अर्थात् निवृत्ति श्रेष्ठ है।[२] वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में कहीं काम की तृप्ति को विवाह का उद्देश्य नहीं माना गया बल्कि सदैव उसे प्रजातंतु की रक्षा और पूर्ण मानव की स्थिति में पहुँचने का साधन ही मानते रहे और ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर स्नातक को अपने दीक्षांत भाषण में आचार्य इस बात पर जोर देते रहे। इसमें सच बोलने, धर्म पर चलने, धर्म और स्वाध्याय पर बल देने के सिवाय उसे वे विवाह करके 'प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः' उपदेश द्वारा सृष्टि-प्रवाह चलते रहने का भी आदेश देते थे।[३] मनुष्य जीवन के उद्देश्य को लक्ष्य करके उसकी प्राप्ति के लिए स्मृति-शास्त्र ने तीन ऋणों की एक अपूर्व कल्पना करते हुए यह बतलाया है कि जन्म के साथ ही मनुष्य के ऊपर देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋणों का भार आता है जिनसे बिना उबरे मोक्ष की कामना नहीं करनी चाहिए और मोक्ष धर्म में उसे प्रवृत्त होने के लिए ऋणत्रय से मुक्त हो जाना चाहिए।[४] वह कल्पना एक उत्कृष्ट और मंगलकारी-जीवन दर्शन देती है जिसमें आत्मोद्धार और लोक-सेवा का व्यावहारिक रूप पूर्णतः निरूपित हुआ है। 'यज्ञ' इत्यादि देव कर्मों के द्वारा देव ऋण से, वेदाध्ययन या ज्ञानोपार्जन और उसके प्रसार से ऋषि ऋण से एवं अच्छी सन्तान उत्पन्न करके पितृ ऋण से उद्धार पाने की यह कल्पना कितनी सत्य है।

---

२ भाग० ११. ५. ११

३ तै० उप०, शिक्षा वल्ली, ११.१.२

४ मनु० ६. ३५

मनुस्मृति की तरह महाभारत में भी कहा गया है कि पुत्र उत्पन्न करो, उन पर ऋण का भार न छोड़ो और उनकी जीवन-वृत्ति की कोई व्यवस्था कर दो एवं कुमारी कन्याओं का योग्य वरों के साथ विवाह कर दो फिर वन में जाकर मुनि व्रत का आचरण करो।[५] यद्यपि अनेक जितेन्द्रिय पुरुषों के दृष्टांत हमारे सामने हैं जो ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हुए और सुलभा, शांडिल्या जैसी नारियाँ भी हो गयी हैं जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया। परंतु वैवाहिक संबंध सामान्यतया साधारण धर्म माना गया और स्त्री का अविवाहित रहना किसी प्रकार इष्ट नहीं समझा गया।

यह महाभारत के एक कथन से प्रकट होता है। ऋषि कुणि गर्ग की कन्या को उपयुक्त वर नहीं मिला जिससे अविवाहित रहकर वह किसी निर्जन वन में जाकर घोर तपस्या करने लगी और चाहा कि शरीर को सुखा कर प्राण त्याग करके मोक्ष प्राप्त करे। तप करते करते वह वृद्धा हो गई यहाँ तक कि उसकी चलने फिरने की शक्ति भी जाती रही। यह जानकर नारद ने उसके पास जाकर उसकी बहुत निंदा की और बतलाया कि अविवाहित स्त्री को स्वर्ग नहीं मिलता, ऐसा देवलोक का नियम है।[६] इस पर उस तपस्विनी ने वनवासी ऋषियों से प्रार्थना की कि उसकी तपस्या का अर्धांश लेकर उनमें से कोई उसके साथ ब्याह करने की कृपा करें। उसके इस निवेदन को गालव ऋषि के पुत्र शृंगवान ऋषि ने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि वह केवल एक रात उसके साथ रहेंगे। इस कथानक मे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी संस्कृति के उत्थान में एक ऐसा समय आया जब तत्कालीन व्यवस्थापकों की दृष्टि में स्त्रियों के लिए विवाह अनिवार्य माना जाने लगा।

विवाह संस्था का आरंभ कब और कैसे हुआ, यह समाजशास्त्र की दृष्टि से एक मनोरंजक विषय है। कुछ नृतत्वशास्त्रियों का मत है कि मानव के आरंभ काल में यौन सम्बन्ध बिना किसी विवाह बंधन के हुआ। नृतत्ववेत्ता मॉर्गन का यह विश्वास था कि मनुष्य का प्रथम यौन समागम अविवाहित अवस्था का व्यभिचार (Promiscuous) था।[७] परन्तु यह विचार सर्वमान्य नहीं और

---

५ म० भा०, उद्योगपर्व, ३६. ३९

६ म० भा०, शल्यपर्व, ५२. १२

७ 'Morgan believed that the first type of mating practised by man was promiscuous' : An Introduction to Social Anthropology, p. 116—Dr. D. N. Majumdar & T. N. Madan.

दूसरे समाजशास्त्रियों ने इसके विरुद्ध विचार प्रकट किये हैं।[८] महाभारत के एक आख्यान से कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतवर्ष में रहकर लोग यथेष्ट समागम से संतान उत्पन्न करते थे। महाभारत की कथा का प्रसंग यह है कि पितृऋण से मुक्त होने के लिए पांडु को पुत्रोत्पादन की प्रबल इच्छा हुई परंतु किसी ऋषि के शाप के कारण वे अपनी स्त्रियों से समागम नहीं कर सकते थे जिससे उन्होंने कुंती को 'नियोग' के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी और उसके आपत्ति करने पर अपने अनुरोध के समर्थन में एक पुरानी प्रथा का उल्लेख इस तरह किया कि 'पहले स्त्रियाँ परदे में नहीं रहती थीं वे खुले आ जा सकती थीं। वे इच्छानुसार आचरण करतीं और विहार करती थीं। सब प्रकार से स्वतंत्र थीं, उनके लिए कोई रोक-टोक न थी। सुभगे, बाल्यावस्था से ही वे पतियों से पृथक् व्यभिचार कराती थीं, पर इससे उन्हें अधर्म नहीं होता था, क्योंकि उस समय यही धर्म था। वह प्राचीन धर्म आज भी पशु-पक्षियों में देखा जाता है। काम-क्रोध विहीन प्रजा में भी यही धर्म माना जाता है। प्रमाणों के द्वारा सिद्ध इस धर्म का आदर महर्षि भी करते हैं। उत्तर कुरुदेश में आज भी इस धर्म का प्रचार है। यह सनातन धर्म है और स्त्रियों पर कृपा करनेवाला है। हम लोगों में भी इसके विरुद्ध नयी मर्यादा का प्रचार थोड़े ही दिनों से हुआ है। इस नयी मर्यादा की स्थापना जिसने की और जिस कारण की वह तुम मुझसे विस्तारपूर्वक सुनो। उद्दालक नामक एक महर्षि थे ऐसा हम लोगों ने सुना है। उनके पुत्र श्वेतकेतु नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने क्रोध करके यह धर्म की मर्यादा स्थापित की। श्वेतकेतु की माता का हाथ किसी ब्राह्मण ने उनके पिता के सामने ही पकड़ा और कहा कि हम लोग चलें। श्वेतकेतु इस घटना को न सह सके। बलपूर्व एक ब्राह्मण के द्वारा अपनी माता का ले जाना उन्हें असह्य हो गया और उन्होंने बड़ा क्रोध किया। श्वेतकेतु को क्रुद्ध देखकर उनके पिता बोले—बेटा! तुम क्रोध मत करो, यह सनातन धर्म है। सब वर्णों की स्त्रियाँ परदे के बाहर रहती हैं, जिस प्रकार गौ रहती हैं, उसी तरह स्त्रियाँ परदे के बाहर रहती हैं। पर ऋषि-पुत्र श्वेतकेतु इस धर्म को स्वीकार न कर सके। उन्होंने स्त्री-पुरुषों के लिए मर्यादा बाँध दी। अन्य प्राणियों में यह मर्यादा नहीं है। पति को छोड़कर दूसरे से व्यभिचार करानेवाली स्त्री को गर्भ हत्या के समान भयंकर और दुःखदायी पाप होता है और बाल्यावस्था से

---

८ Mrs. Cole : Marriage Past and Present p. 10 उल्लेख : P. V. Kane : The History of Hindu Dharm Shastra : Vol. 2, Part 1, p. 428

ब्रह्मचारिणी पतिव्रता स्त्री को छोड़कर अन्य स्त्री से व्यभिचार करनेवाले पुरुष को भी यही पाप होता है।'[९]

उक्त प्रथा की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिकता पर विद्वानों को संदेह है। डॉ० अलतेकर का मत है कि जिस कुरुदेश में उक्त प्रथा के अस्तित्व का उल्लेख है स्वयं उसके अस्तित्व का पता नहीं। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह प्रथा भारत की कतिपय आदिम जातियों में रही होगी, जिसे आर्यों ने ले ली होगी और अनुश्रुति के आधार पर पांडु ने उसका उल्लेख किया होगा।

किन्तु उपर्युक्त पिछला मत यह स्वीकार करके चलता है कि आर्य लोग भारत के बाहर कहीं से आकर यहाँ बस गए जो बहुत दिनों से अनेक विद्वानों के माथापच्ची करने पर आज तक सर्वमान्य नहीं हुआ और आधुनिकतम मत जहाँ एक ओर यह है कि अनेक साधक बाधक प्रमाणों से, जिनमें बहुत से वेदों से ही निष्पन्न होते हैं, आर्यों का आदि स्थान भारत ही सिद्ध होता है,[१०] जिसकी संगति यहाँ की परंपरागत विचारधारा से भी होती है तो दूसरा मत आर्यों कीही नहीं, संपूर्ण मानव जाति की उत्पत्ति का स्थान मेरु पर्वत को निर्दिष्ट करता है।[११]

इस उद्धरण में कुछ अत्यंत महत्त्व की बातें मिलती हैं। इससे उसमें पति-पत्नी संबंध को नियमबद्ध करने के कारण निभ्रांत रूप से यह नहीं कह सकते कि श्वेतकेतु के पहले विवाह प्रथा थी ही नहीं। विवाह संस्था, उसकी पवित्र भावना और विवाह संबंध की उदात्त भावनाओं से वेदों के अनेक मंत्र ओत-प्रोत हैं जिनकी रचना श्वेतकेतु के पहले हो चुकी थी और उनमें कहीं भी व्यभिचार अथवा परदारा निगमन को अच्छा नहीं कहा गया है और इसलिए पांडु का कथन तथ्य के विपरीत ही मानना पड़ता है। यदि उसके कथन को सच माना जाय तो यह स्पष्ट सूचना है कि सांस्कृतिक अथवा धार्मिक जगत में हमारे यहाँ आवश्यक सुधार समय समय पर होते रहे हैं और स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंध में जो शैथिल्य था उसमें महात्मा श्वेतकेतु ने एक क्रांति करके उसे नैतिक स्तर के उच्चतम आधार पर प्रतिष्ठित किया जिसके अनुसार न केवल पत्नी को पातिव्रत्य का धर्म बतलाया गया अपितु पति को पत्नी

---

९ म० भा०, आदि पर्व १२२. ४. १८

१० डॉ० संपूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश

११ विश्वेश्वरानन्द इंडोलॉजिकल जर्नल, १९६४, पृ० १३५

व्रती बनकर आजीवन पत्नी के प्रति सच्चे रहने का मार्ग दर्शन दिया गया। ऋषि दीर्घतमा ने भी पातिव्रत्य धर्म की स्थापना की, परंतु उनकी व्यवस्था में श्वेतकेतु द्वारा पत्नी के प्रति निर्दिष्ट पति की अनिवार्य निष्ठा का अभाव देख पड़ता है।[१२]

विवाह के आदर्श की इस पृष्ठभूमि में विवाह के प्रकार इत्यादि का विचार करना चाहिए। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि विवाह कोई समय या इकरार नहीं, एक धार्मिक संस्कार है।

वैदिक धर्म मूलतः यज्ञ प्रधान है और एक प्रकार से सारा जीवन एक यज्ञ कर्म माना गया है। यज्ञों से स्वर्ग प्राप्ति बतलायी जाती है और उनके संपादन के लिए पत्नी का सहयोग अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार विवाह न केवल एक आवश्यक धार्मिक कर्म है, इससे स्त्री का महत्त्व भी प्रकट होता है, क्योंकि इसमें यह विधान हुआ कि जिस पुरुष के पत्नी न हो वह यज्ञ नहीं कर सकता।[१३] तैत्तरीय ब्राह्मण की इस व्यवस्था का पालन हिन्दू समाज में सहस्रों वर्षों से होता भी आया है। प्रत्येक यज्ञ अथवा धार्मिक कार्यों में पति के साथ पत्नी अनिवार्य रूप से सम्मिलित की जाती है। पत्नी के देहावसान अथवा किसी कारण उसकी अनुपस्थिति अनिवार्य होने पर पति उसकी प्रतिमूर्ति अथवा अन्य किसी पदार्थ विशेष को उसके प्रतिनिधि रूप में अपने वाम भाग में स्थापित करके धर्म-कार्य का संपादन करता है। यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है जिसका पालन मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के आदर्श चरित्र में पाया जाता है। उनके अश्वमेध यज्ञ के समय सीता वन में निर्वासित थीं और एकपत्नी-व्रत राम दूसरा विवाह भी नहीं कर सकते थे। अतएव सीता की अनिवार्य अनुपस्थिति में श्रीरामचन्द्र ने अपने पार्श्व में सीता की स्वर्णमयी मूर्ति स्थापित करके सहधर्मचारिणी के स्थान की पूर्ति की। राम के इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि धार्मिक क्रिया-कलाप में पत्नी के अनिवार्य साहचर्य की जो प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित हो गयी थी उसका निर्वाह आदर्श पुरुषों ने अपने जीवन में करके सामाजिक व्यवस्था में उसे प्रतिष्ठित और दृढ़ कर दिया एवं विवाह अथवा गृहस्थाश्रम को यह बड़ी मान्यता प्रदान की गयी कि एक ओर विवाह को गृहस्थाश्रम का प्राण कहकर उसकी आवश्यकता बतलायी गयी तो उसके साथ ही मनुस्मृति के इस वाक्य में कि 'जिस तरह सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी तरह

---

१२ म० भा० आदि पर्व, १०४. ३४-३६

१३ अयज्ञो यो वा अपत्नीकः तै० ब्रा० २. २. २. ६

सब आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर निर्भर है"[१५] गार्हस्थ्य की प्रतिष्ठा बढ़ायी गयी।

विवाह के प्रकार

विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा निर्देश करते हुए भी समाज के बौद्धिक तथा नैतिक स्तर का धर्मशास्त्रों ने सदैव ध्यान रखा है। इसलिए उनमें ऐसे विवाहों को भी मान्यता दी गयी जिनका नैतिक आधार बहुत ऊँचा नहीं कहा जा सकता। धर्मशास्त्रकारों ने देखा कि मनुष्य की दुर्बलताओं के साथ एक प्रकार का समन्वय किये बिना विवाह के उदात्त आदर्श के असफल हो जाने की ही संभावना अधिक है, क्योंकि समाज में ऐसे जन अथवा जनसमूह मौजूद हैं जिनका नैतिक स्तर ऊपर नहीं उठ पाया है। उनमें पुरुष स्त्री संबंधी जो दोष घर किए हुये थे वे ऊँचे आदर्श के निर्देश मात्र से अथवा निषेधात्मक उपदेश से एकदम दूर नहीं हो सकते थे। इसलिए उन्हें निम्न कोटि के विवाह संबंधों को वैधानिक रूप देना पड़ा। ऐसा न करना समाज में अव्यवस्था को स्थान देना होता जो धर्मशास्त्रकार के समाज-संरक्षण के उद्देश्य को निष्फल कर देता।

धर्मशास्त्र का मुख्य प्रयोजन धर्म पर प्रकाश डालना है जो समाज का धारण करता है। हमारी संस्कृति में धारणात्मिका शक्ति को धर्म का प्रधान लक्षण बताया गया है।[१५] ऐसे नियम, जिनसे समाज विशृंखल हो, उसके टुकड़-टुकड़े हो जायँ, धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत नहीं आते। धर्म प्रवक्ताओं ने आदर्श और यथार्थवाद में एक प्रकार का समझौता करके विवाह की कुछ प्रणालियों को उत्तम, कुछ को मध्यम और अन्यों को त्याज्य की श्रेणी में रखे। इसीसे आश्वलायन, आपस्तंब तथा दूसरे गृह्यसूत्रों, महाभारत और मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों में विवाह के जो अनेक भेद किये गये, उनमें किसी किसी में विवाह के बहुत ऊँचे आदर्श नहीं पाये जाते।

स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया है। महाभारत में कुछ हेर-फेर के साथ स्मृतियों के समान ही विवाह के आठ प्रकार बतलाये गये हैं।[१६] मनुस्मृति के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते हैं: ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व राक्षस और पैशाच।[१७] जिस विवाह में

१४ मनु० ३. ७७

१५ म० भा०, कर्ण पर्व, ६९–५८, शान्ति पर्व, १०९–१२

१६ म० भा०, आदि–संभर्व पर्व; अ० ७३. ८. ९

१७ मनु० ३–२१

कन्या का वर को अपने घर आमंत्रित करके कन्या और वर को अलंकृत करके उनकी पूजा करके वर को कन्या का संप्रदान करता है उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं। इसे सभी स्मृतिकारों ने उत्तम कहा है और प्रायः समस्त देश में इस समय यही प्रथा प्रचलित है। दैव विवाह का लक्षण यह है कि यज्ञारंभ के समय ऋत्विज विधिपूर्वक कन्या को अलंकृत करके कन्यादान करता है। जिस विवाह में यज्ञ-सिद्धि के निमित्त अथवा कन्या को देने के लिए उसका पिता वर से एक बछड़ा और एक बछिया अथवा दो-दो बछवे बछिया लेकर कन्यादान करता है उसे आर्ष विवाह कहते हैं। कन्या शुल्क को सदैव से गर्ह्य माना गया है। अस्तु, आर्ष विधि में वर पक्ष से बछड़ा बछिया लेने के प्रश्न पर सब स्मृतियाँ एक मत नहीं हैं। वर पक्ष से इन पशुओं को ग्रहण करना कन्या-विक्रय बतला कर कुछ शास्त्रकारों ने इसे निन्द्य माना है। भीष्म पितामह ने महाभारत में साफ साफ इससे अपनी असहमति प्रकट की है। उनके विचार में आर्ष विवाह में गौ का एक जोड़ा लेने की जो विधि बतायी जाती है वह समीचीन नहीं है, क्योंकि शुल्क मात्र कन्या विक्रय है और वह इस पर निर्भर नहीं करता कि शुल्क थोड़ा है अथवा बहुत।[१८] शुल्क-शुल्क ही है। स्वयं मनु ने यद्यपि आर्ष विवाह में गोमिथुन की प्रथा का वर्णन किया है इसका समर्थन नहीं किया है। भीष्म ने भी अपना जो मत व्यक्त किया है कदाचित् मनु के मत का ही अनुसरण किया है। मनु का स्वयं यह मत है कि आर्ष विवाह में जो गोमिथुन लेने का समर्थन किया जाता है वह किसी सिद्धांत पर अवलंबित नहीं है, क्योंकि थोड़ा हो अथवा अधिक उसे कन्या विक्रय ही कहेंगे।[१९]

प्राजापत्य विवाह में कन्यादान के आरंभ में वर-वधू को यह निर्देश किया जाता है कि दोनों एक साथ धर्माचार करेंगे। जिस विवाह में कन्या के पिता और उसके भाई बंधुओं को स्वेच्छा से धन दिया जाता है उसे आसुर कहते हैं। गांधर्व विवाह का लक्षण यह है कि पुरुष और स्त्री का मन मिल जाने पर दोनों का यौन संबंध पहले हो जाता है। वैवाहिक विधि तदनन्तर पूरी की जाती है। कुछ धर्म शास्त्रकारों ने गांधर्व विवाह का अनुमोदन नहीं किया है। शकुन्तला का दुष्यंत के साथ विवाह इसी प्रकार का था। महर्षि कण्व के आश्रम में वह उसके अनुपम रूप लावण्य पर इतना मुग्ध हो गया कि उसके साथ विवाह करने को उद्यत हो गया। परंतु दुष्यंत लंपट नहीं था और उसमें जितेन्द्रियता का महान् गुण भी था। उसने अपनी अंतरात्मा से परामर्श किया और

१८ म० भा०, अनुशासन पर्व ४५–२०
१९ मनु० ३. ५३

उसकी साक्षी से निश्चय किया कि शकुन्तला का विवाह क्षत्रिय के साथ हो सकता है, क्योंकि उसके विशुद्ध मन में उसकी अभिलाषा उत्पन्न हुई। उसने इसका आधार यह स्थिर किया कि जिस विषय में संदेह उत्पन्न हो, वहाँ अंतः-करण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण मानी जाती हैं।[२०] बहुधा मन मिलने पर भी गांधर्व विवाह के लिए सहमत कन्याएँ भी अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त कर लेना उचित समझती थीं। इसका एक उदाहरण महाभारत में यह मिलता है कि कुरु वंश के संस्थापक कुरु के पिता संवरण ने सूर्य की कन्या तपती से गंधर्व विवाह करना चाहा। तपती ने इसका अनुमोदन किया परंतु उसने यह कहकर टाल दिया कि मेरे पिता जीवित हैं, उनके रहते मैं अपने मन से नहीं चल सकती। यदि आप मुझे चाहते हैं तो पिताजी से बातें कर लीजिये।[२१] और यदि पिता अथवा दूसरे अधिकृत व्यक्ति की सहमति के पूर्व गंधर्व विवाह पूर्ण हो जाता तो उसका अनुमोदन पिता कर दिया करता था। उदाहरणार्थ, बड़ों के अनुशासन के भंग होने की आशंका से दुष्यंत के प्रणय प्रस्ताव पर शकुन्तला की द्विविधा का समाधान दुष्यंत ने पूर्व पुरुषों का यह दृष्टांत देकर किया कि 'गांधर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षि कन्यकाः, श्रूयन्ते परिणीता स्ताः पितृभिश्चाभिनंदिताः—' सुनते हैं कि बहुत से राजर्षियों की कन्याओं ने गंधर्व विवाह से परिणय किये और उनके पिताओं ने उनका अनुमोदन किया।[२२] उसकी इस बात का समर्थन भी आश्रम में ही प्राप्त हो गया जब कण्व ने इस संबंध का अनुमोदन किया।

राक्षस विवाह की विशेषता यह है कि वैवाहिक विधि के पूर्व कन्याहरण आवश्यक है। कन्या पक्षवालों के विरोध करने पर भी कन्या का हरण करने वाला मारपीट, तोड़-फोड़ करके बल प्रयोग से उसे घर से निकाल ले जाता है। कन्या की इसमें किसी प्रकार की सहमति नहीं ली जाती और वह चीखती चिल्लाती रह जाती है। इसे क्षात्र विवाह भी कहते हैं, क्योंकि यह चाल केवल क्षत्रियों में थी। रुक्मिणी, अम्बिका, अंबालिका और सुभद्रा के विवाह राक्षस प्रणाली के मालूम पड़ते हैं। किंतु इनको यथार्थ राक्षस विवाह नहीं कह सकते क्योंकि यद्यपि इन विवाहों में हरण का तत्व विद्यमान था, तथापि ये कन्याएँ प्रसन्नतापूर्वक और स्वेच्छा से गयी थीं और इन्हें मिश्र राक्षस और गांधर्व विवाहों के उदाहरण कहना अधिक उपयुक्त होगा। अंबिका और अंबालिका

---

२० शकुन्तला, १–२१
२१ म० भा०, आदि पर्व १७४–२०
२२ शाकुंतल, ३. २८

के लिए उनके पिता ने वीर्य-शुल्क स्वयंवर की व्यवस्था की थी और रुक्मिणी तथा सुभद्रा क्रमशः श्रीकृष्ण तथा अर्जुन को चाहती ही थीं। वस्तुतः इन विवाहों की गणना अष्ट-विध विवाहों में किसी अकेले में नहीं की जा सकती। राक्षस विवाह बहुत वीभत्स था और कदाचित् इसीलिए कालान्तर में यह प्रणाली भी मिट गयी।

पैशाच विवाह को मनुस्मृति ने अधम कहा है। स्त्री सो रही हो, मद से विह्वल हो, जिसके शील की रक्षा का कोई उपाय न हो, ऐसी नारी के साथ शून्य स्थान में संभोग इसका लक्षण है। अष्ट-विध विवाहों में पैशाच की गिनती होते हुए भी शास्त्रों ने इसे निन्द्य और पापिष्ठ ही कहा है। मनुस्मृति के समान याज्ञवल्क्य स्मृति में भी अष्ट विधि विवाह वर्णित हैं। वसिष्ठ और आपस्तम्ब पैशाच का नाम तक नहीं लेते। मनुस्मृति इत्यादि स्मृतियों में इसकी परिभाषा होने से यह नहीं समझना चाहिए कि इसे उनका समर्थन प्राप्त है। यह प्रथा कहीं कहीं पायी गयी, इसलिए स्मृतियों में इसका वर्णन किया गया। विभिन्न विवाहों की प्रशस्तता अथवा गर्ह्यता के विषय में धर्मशास्त्रों के मतों का संक्षिप्त सारांश प्रासंगिक होगा।

मनुस्मृति ने ब्राह्मण के लिए केवल ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों का अनुमोदन किया है। यद्यपि उसमें गांधर्व और आसुर को अधर्म्य नहीं बताया गया है तथापि उनका समर्थन भी नहीं किया है। जहाँ मनु ने क्षत्रिय के लिए राक्षस तथा वैश्य और शूद्र के लिए आसुर विवाह को अच्छा माना है,[२३] महाभारत तथा पद्म पुराण में राक्षस और गांधर्व विवाहों को क्षत्रिय के लिए प्रशस्त कहा गया है।[२४] यह उल्लेखनीय है कि जिन विवाहों को वर्ण विशेष के लिए मनुस्मृति में अच्छा कहा गया है उनमें भी यह भेद किया गया है कि किसी विशेष कारण से पहला संभव न हो तो दूसरा, तीसरा इत्यादि क्रम से अपनाया जाय। ब्राह्म विवाह को सर्वोत्तम कहते हैं। उसी प्रशंसा में यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र दश पिछली पीढ़ी एवं दश आनेवाली पीढ़ी को नरक से बचाता है, पिता का उद्धारक तो होता ही है। दैव विवाहोत्पन्न पुत्र आगे-पीछे की सात सात, आर्ष से उत्पन्न तीन-तीन और प्राजापत्य विधि से उत्पन्न छः-छः आगे-पीछे की पीढ़ियों को तारता है। धर्मशास्त्रों का मत है कि ब्रह्म वर्चस्वी संतान की उत्पत्ति इन्हीं चार प्रकार के विवाहों से हो

---

२३ मनु० ३. २४
२४ पद्म पु० १. ४०

सकती है। इन्हीं से सुन्दरता, सत्वादि गुण, कीर्त्ति और आयु इत्यादि का अधिक उत्कर्ष भी संभव है। दूसरे स्मृतिकारों के मत भी इसी प्रकार के हैं और सबका अंतिम सिद्धांत यह है कि शुद्ध तथा अनिंद्य विवाह से ही शुद्ध संतान की उत्पत्ति होती है।

प्रेमज-विवाह

गांधर्व विवाह जो अपने अंतर्निहित दोषों के कारण प्राचीन काल में बंद हो गये थे पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से आधुनिक भारत में प्रेमज विवाह के रूप में प्रकट हुए हैं जिनको भारतीय संस्कृति के अज्ञान अथवा उनकी उपेक्षा के कारण बल मिला है। संसार के अनुभवों से शून्य तथा भारतीयादर्श पर चरित्र निर्माण न होने के कारण तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियाँ एक-दूसरे के बाह्य रूप-आडंबर पर मुग्ध होकर अपने सबसे बड़े हितैषी माता-पिता की आज्ञा प्राप्त करना तो दूर रहा वे अपना विवाह प्रायः छिपे-छिपे तय करते हैं जिनमें कामासक्ति की प्रधानता होती और विवेक की गुंजाइश नाममात्र को रहती है। वे अपनी मनोवृत्ति को उनसे छिपाने का भी प्रयत्न करते हैं और यदि किसी से कोई परामर्श भी लेते हैं तो ऐसे साथियों से जो स्वयं प्रायः चरित्रहीन होते और कुप्रवृत्ति की ओर प्रेरणा देने में पंडित होते हैं। प्रायः विवाह की रस्म अदा करने के लिए ये युवक-युवतियाँ अपने-अपने पिता इत्यादि को विवश करते हैं और वे सहमत नहीं होते तो इसकी वे परवाह भी नहीं करते। जैसा कि नाम ही से प्रकट है, प्रेमज विवाह का आधार काम-वासना से जाग्रत प्रेम है और उसका एकमात्र उद्देश्य वासना की तृप्ति है। ऐसा बहुत कम होता है कि इस प्रेम का आधार प्रेमियों में किसी गुण विशेष का उत्कर्ष हो। गांधर्व विवाह में फिर भी एक मर्यादा थी जिसमें कुल शील इत्यादि पर विचार करने का अवकाश था परन्तु प्रेमज विवाह का कारण केवल अंधा प्रेम है और कुलाचार इत्यादि बातें बहुत दूर की ठहरीं, एक दूसरे के चरित्र पर विचार करने की भी यहाँ आवश्यकता नहीं समझी जाती। यह चिन्ता की बात है कि समाज के कतिपय प्रतिष्ठित नेता तथा लेखक ऐसे विवाहों का समर्थन करते हैं।

यद्यपि इस नये रोगका संचार यहाँ थोड़े ही दिनों से हुआ है, तथापि उसके दुष्परिणाम देख पड़ने लगे हैं। चारित्र्य में स्थायित्व होता है, किंतु आधुनिक सज-धज का आलंबन पाकर भी शरीर की बाहरी तड़क-भड़क के उड़ जाने में देर नहीं लगती और जिस मधु के लिए दो जीव जुड़े थे उसके

समाप्त हो जाने पर कलहाग्नि में भुन उठते हैं और कुछ काल तक किसी प्रकार विषाक्त जीवन घसीटकर अंततोगत्वा संबंध विच्छेद कर एक-दूसरे से पिंड छुड़ाने को विवश हो जाते हैं।

अमेरिका और यूरोप में भी जहाँ की हवा यहाँ फैली या फैल रही है विवाह विच्छेद की निरन्तर बढ़ती हुई भरमार से विचारवानों के कान खड़े हो रहे हैं। कैथलिक सम्प्रदाय के विश्वधर्माचार्य पोप ने प्रचलित विवाहों की निन्दा की है और उनको नैतिक तथा धार्मिक आधार देने का प्रबल अनुरोध किया है। कहा जाता है कि ये देश उन्नति के शिखर पर पहुँच गये हैं। पर वहाँ के न्यायालयों में विवाह-विच्छेद के अभियोग रक्त बीज के शिरों की भाँति बढ़कर वहाँ वालों के लिए सिर दर्द हो रहे हैं। आज विवाह, कल विच्छेद। प्रेमज विवाहों की प्रायः यही गति होती है। समय रहते युवकों तथा युवतियों को सावधान हो जाना चाहिए। पाश्चात्यों के गुण ग्रहण करने में भारतीय युवा समाज प्रमादी है पर उनके दुर्गुणों का अनुकरण करने में अत्यन्त सिद्धहस्त देखा जाता है। छात्र एवं छात्राएँ ब्रह्मचर्य व्रत की ओर अग्रसर होने के स्थान में, भारतीयादर्श को तिलांजलि दे विलासितापूर्ण पाश्चात्य आदर्श की ओर द्रुत गति से उन्मुक्त हो रहा है और यदि यही अवस्था जारी रही तो किसी दिन अमेरिकी 'डेटिंग प्रथा' के वे निश्चय शिकार होंगे।

यह तर्क केवल मनचले लोग कर सकते हैं कि विवाह वैयक्तिक बात है और उसके विषय में युवक और युवती को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्वतन्त्रता निश्चय ही अत्यन्त मूल्यवान तथा स्पृहणीय वस्तु है। परन्तु उसकी भी एक सीमा और मर्यादा होती है और इसलिए समाज और राष्ट्र ही के लिए नहीं, व्यक्ति के हितार्थ भी उसकी पूर्ण स्वतंत्रता पर विधान का अंकुश लगाना पड़ता है। विवाह ही क्यों, अनेक बातें हैं जिन्हें कोई सम्यक् वैयक्तिक विषय नहीं कह सकता। यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है और राष्ट्र का अंग है। उसके वैवाहिक बंधनों का भी प्रकारांतर से समाज और राष्ट्र से सम्बन्ध है और व्यक्ति का जीवन समाज और राष्ट्र के जीवन से सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता।

इस चेतावनी का अभिप्राय यह नहीं कि विवाह के विषय में युवा और युवतियाँ पूर्णतया अंधकार में रखे जायँ और उसमें उनका कोई हाथ ही न रहे। जब हम यह मान कर चलते हैं कि वर-वधू शिक्षित हों और उनकी अवस्था विवाह योग्य हो तो माता-पिता अथवा उनके अभिभावकों का उनकी रुचि तथा सम्मति पर यथोचित ध्यान देना कर्तव्य होता ही है। माता-पिता

इत्यादि के अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद करने पर युवा और युवतियों को वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने से रोक ही कौन सकता है। यह बात आज ही नहीं, पुराने काल में भी थी। इसी से युवा की कौन कहे, युवती के लिए भी मनु ने निर्देश किया है कि यदि उसके पिता आदि उचित समय पर उसका योग्य वर के साथ विवाह न कर दें तो वह स्वयं अपना योग्य वर से विवाह कर सकती है।[२५]

विवाह की पूर्णता

सभी विवाहों की पूर्णता के लिए कतिपय विषयों का पालन अनिवार्य माना गया है जैसा आगे चलकर पातिव्रत धर्म के विवेचन में देखेंगे। विवाह का सर्वोत्कृष्ट आदर्श वह है जिसका प्रतिनिधित्व पार्वती करती हैं। इसमें मन से पति का वरण कर लेने पर स्त्री आजन्म क्वारी भले ही रह जाय पर वह किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह किसी अवस्था में नहीं करती। इस आदर्श पर चलना अत्यन्त दुरूह है और इस पर किसी विधान का निर्माण संभव नहीं है। कुछ व्यवस्थापकों के मत से वाग्दान मात्र से विवाह पूरा हो जाता था परन्तु इससे कई तरह की व्यावहारिक कठिनाइयों के उत्पन्न होने की संभावना पायी गयी। सबसे प्रत्यक्ष कठिनाई यह देखी गयी कि वैदिक विधि पूरी होने और वाग्दान के बीच प्रस्तावित वर अथवा कन्या में किसी का निधन हो जाय तो उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा होता है। इस प्रकार की कठिनाइयों को हटाने के लिए विवाह कब संपूर्ण अथवा वैधानिक माना जाय, इसका एक निश्चित नियम 'सप्तपदी' बनाने की आवश्यकता पड़ी जिसे स्मृतिकारों ने सर्वमान्य किया।

मनुस्मृति के इस वचन से कि 'पत्नीत्व के लिए वैदिक पाणिग्रहण के मंत्रों का प्रयोग आवश्यक है किन्तु उसकी परिसमाप्ति सप्तपदी में होता है'[२६] विवाह की पूर्णता सप्तपदी की पूर्णता में समझी जाने लगी; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ संभ्रांत पुरुष भी कामवश इस नियम की अवहेलना करने पर लगे हुए थे जिससे नारद को इस स्मार्त नियम को पुष्ट करने की आवश्यकता पड़ी जिसका उल्लेख हमें महाभारत में नारद-पर्वत के पारस्परिक विवाद में मिलता है। किसी अतीत में संजय नामक राजा के ऋषि-मित्र नारद और पर्वत उसके अतिथि हुए। उससे नारद का उसकी कन्या के साथ विवाह करने

---

२५ मनु० ९–९०.९२

२६ मनु० ८.२२७

का प्रस्ताव उपस्थित होने पर पर्वत ने उस पर आपत्ति यह तर्क देकर की कि इस कन्या को मैंने अपने मन में पत्नी मान लिया है जिससे वह मेरी हो चुकी है। नारद ने इस तर्क को अस्वीकार करके इस नियम की पुनः प्रतिष्ठा की कि स्मृतिशास्त्र का यह विधान माननीय है कि 'विवाह में मन, वचन, बुद्धि से जल लेकर कन्यादान करना और पाणिग्रहण के मंत्रों का उच्चारण आवश्यक है परन्तु इतने से विवाह को पूर्ण नहीं समझना चहिए क्योंकि उसकी सम्यक पूर्णता सप्तपदी में ही होती है।'[२७]

स्वयंवर

गृह्यसूत्रों, मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्य स्मृतियों अथवा महाभारत में जहाँ ब्राह्म आदि आठ प्रकार के विवाहों के प्रकार का वर्णन हुआ है, स्वयंवर का उल्लेख नहीं मिलता। तथापि इसकी प्राचीनता असदिग्ध है। प्रागैतिहासिक काल में इस प्रकार के विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, एवं ऐतिहासिक काल में भी उनका सर्वथा अभाव नहीं रहा। इन विवाहों में जिन्हें स्वयंवर कहने की परम्परा चली आ रही है कुछ को सब विद्वान् स्वयंवर नहीं मानते। इस स्थिति में स्वयंवर की एक परिभाषा स्थिर कर लेना आवश्यक मालूम होता है।

स्वयंवर विवाह का सामान्य अर्थ उस प्रणाली से है जिसमें कन्या वर को स्वयं चुनती है। परन्तु ऐसे उदाहरण शायद ही मिलें जिनमें इस प्रकार के चुनाव का उल्लेख हो। जितने उदाहरण उपलब्ध हैं उनमें कहीं भी अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार अनियंत्रित रूप से कन्या के वर को चुनने का दृष्टांत नहीं है। इसलिए यह मानना उपयुक्त है कि स्वयंवर शब्द का प्रयोग एक रूढ़ि अर्थ में किया जाता है जिसके अनुसार पिता के द्वारा निर्धारित शर्तों अथवा नियमों के अंतर्गत पति रूप में किसी युवक को वरण करने की कन्या को छूट रहती है।

सर्वप्रथम सावित्री का दृष्टांत हमारे सामने आता है। महाभारत के सावित्री आख्यान के अनुसार सावित्री की तेजस्विता के कारण किसी राजकुमार का उससे विवाह करने का साहस नहीं हुआ जिससे उसके पिता अश्वपति ने अपने स्वाभाविक संकोच का परित्याग कर उसे देश-भ्रमण करके अपने लिए योग्य वर ढूँढ़ने का आदेश दिया। उस आदेश की एक उल्लेखनीय बात यह थी कि सावित्री को अपने पसंद का वर देख लेने पर उससे विवाह कर लेने की

२७ म० भा०, द्रोणपर्व ५५.१५-१६

स्वतंत्रता न थी, बल्कि उसकी सूचना के पश्चात् उसके पिता यह कार्य स्वयं पूरा करते। इसके अनुसार जब कई आश्रमों में देखने के बाद द्युमत्सेन के आश्रम में उसके तेजःपुंज पुत्र सत्यवान पर उसकी दृष्टि पड़ी तो उसे पति रूप में वरण करने में देर न लगी। इस बात को अत्यंत गुप्त रखकर घर लौटने पर उसने अपने पिताको बतलायी जिसने सत्यवान के पिता की स्वीकृति प्राप्त करके उसका विवाह सावित्री के साथ संपन्न किया। अपने ढंग का यह एक अनोखा स्वयंवर था।

स्वयंवर के समारोह में किसी युवक के गले में हार, जिसे जयमाल कहते थे, डालने से कन्या द्वारा उसके चुने जाने की सूचना मिलती थी। प्रायः सभी स्वयंवरों में ऐसा होता था। परन्तु कन्या जिसे चाहे उसे जयमाल नहीं पहना सकती थी। स्वयंवर समारोह कोई प्रदर्शनी अथवा मेला नहीं होता था जहाँ दूर-दूर के युवक किसी प्रख्यात रमणी का प्रणय प्राप्त करने के लिए एकत्र होते और वह उनमें से किसी को छाँट लेती। साहित्य में जिन स्वयंवरों के विवरण मिलते हैं उनकी आयोजना राजकन्या के असाधारण गुणों के कारण हुई देख पड़ती है।

सीता के स्वयंवर के विषय में विवरण मिलता है कि जनक के यहाँ रखे हुए शैव धनुष को एक बार सीता ने अचानक उसके स्थान से हटा दिया जिससे उनके बहुत बड़े पराक्रम को देखकर जनक ने उनका विवाह ऐसे पुरुष के साथ करने की प्रतिज्ञा की जो उस धनुष को झुका सकता। रामचन्द्र के ऊपर दृष्टि पड़ते ही सीता उन पर मुग्ध हो गयीं और मन में राम को अपना पति बनाने की अभिलाषा उत्पन्न हो गयी थी परन्तु अपनी वीरता का दम भरने वाले बड़े बड़े सहस्रों राजकुमार उस धनुष को हिला भी न सके थे जिसे सोचकर और यह देखकर कि रामचन्द्र का शरीर अत्यन्त कोमल था सीता को अपनी लालसा की पूर्ति में पूरा संदेह था। वह पिता की प्रतिज्ञा के अधीन थीं जिससे रामचन्द्र को बिना धनुष झुकाये ब्याह नहीं सकती थीं। इस प्रकार के स्वयंवर को वीर्य-शुल्क स्वयंवर कहने की रीति थी।

इसी प्रकार का स्वयंवर द्रौपदी-विषयक था जिसके लिए उनके पिता द्रुपद ने एक निर्दिष्ट यंत्र में बराबर घूमते हुए कृत्रिम मत्स्य का बाण से वेध करनेवाले धनुर्धारी के साथ उसके विवाह की शर्त रखी थी। अंबा और अंबालिका के विवाह भी वीर्य-शुल्क स्वयंवरों में बतलाये जाते हैं, जिन्हें विचित्र वीर्य के लिए, सैकड़ों युवा प्रत्याशियों को हराकर भीष्म हस्तिनापुर हर ले गये थे।

वीर्य-शुल्क स्वयंवरों की तरह सौंदर्य-शुल्क स्वयंवर भी प्रचलित थे जिनमें कन्या के बहुत रूपवती होने से स्वयंवर समारोह में समवेत रूपवानों में से किसी को चुन लेने के लिए कन्या स्वतंत्र होती थी। वीर्य-शुल्क स्वयंवर की अपेक्षा उनमें उसे अपने पसंद का वर चुन लेने का अधिक अवसर होता, क्योंकि रूप का निर्णय उसकी रुचि पर निर्भर करता था। नल-दमयंती तथा अज-इंदुमती के स्वयंवर इसी श्रेणी में आते हैं। ये सभी उदाहरण बहुत प्राचीन और प्रागैतिहासिक युगों के हैं, ऐतिहासिक काल का अंतिम दृष्टांत संयोजिता का स्वयंवर है जिसके सिलसिले में उसके पिता जयचंद राठौर ने समारोह के द्वार पर पृथ्वीराज चौहान की मूर्ति प्रहरी के स्थान पर उसे अपमानित करने के लिए खड़ी कर दी थी।

स्वयंवर क्षत्रियों के लिए ही

स्वयंवर विवाहों का प्रचलन प्राचीन काल में भी बहुत न था और एक ही काल और एक ही कुल तक में दूसरे प्रकार के विवाह भी होते थे। उदाहरणार्थ सीता के विवाह के साथ मांडवी, उर्मिला और श्रुतकीर्ति के विवाह क्रमशः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ स्वयंवर प्रथा के अनुसार नहीं हुए। द्रौपदी का विवाह स्वयंवर रीति पर हुआ तो सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का का विवाह उत्तरा के साथ दूसरी प्रथा के अनुसार संपन्न हुआ। साधारणतः यह समझा जाता है कि स्वयंवर की प्रथा सब वर्णों में प्रचलित रही, परन्तु जितने दृष्टांत मिलते हैं उनमें किसी क्षत्रियेतर वर्ण के स्वयंवर का पता नहीं। इसके अतिरिक्त साहित्य में इसका प्रचुर प्रमाण है कि यह प्रथा क्षत्रियों में सीमित थी। द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर इस प्रश्न पर एक विवाद उठा था जो इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है।

महाभारत में द्रौपदी के स्वयंवर के संबंध में यह वर्णन हुआ है कि जिस समय एकचक्रा में कुंती के साथ पाण्डव एक ब्राह्मण के घर में रहते थे वे सब के सब ब्राह्मण वेष में अपने को प्रच्छन्न रखते थे। द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार पाकर जब वे लोग चले तो एक ब्राह्मण के समूह में घुल मिलकर चले और स्वयंवर समारोह में भी अर्जुन ब्राह्मणों की पंक्ति में घुल-मिलकर ब्राह्मण वेषधारी पूरा ब्राह्मण लग रहा था। श्रीकृष्ण ने जो उस समारोह में उपस्थित थे उसे पहचान लिया था। किंतु उस बड़े जनसमूह की दृष्टि में वह एक ब्राह्मण दर्शक मात्र था। परन्तु जब अर्जुन ने बात की बात में सफलतापूर्वक लक्ष्य वेध कर दिया और द्रौपदी ने उसके गले में जयमाल डाल दी; बहुत से ब्राह्मणों ने

उसे बहुत-सी बधाइयाँ दीं, किंतु सैकड़ों क्षत्रिय कुमार क्षुब्ध होकर हल्ला मचाने और दंगा करने लगे और यह वाद खड़ा कर दिये कि यह श्रुति चली आ रही है कि स्वयंवर क्षत्रियों के लिए ही है, इसमें ब्राह्मणों को वरण किये जाने का अधिकार नहीं है।[२८] यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ब्राह्मण-वेशधारी अर्जुन की अप्रतिम सफलता पर ब्राह्मणों ने प्रसन्नता प्रकट की उनमें से किसी के क्षत्रियों के विवाद का खंडन करने का उल्लेख महाभारत में नहीं पाया जाता। प्रत्युत महाभारत में ही एक स्थान पर श्रीकृष्ण का यह कथन कि 'स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ' एक प्रकार से अंतिम निर्णय है कि इस प्रथा का प्रचलन क्षत्रियों में ही था। इसी विचार का समर्थन देवी भागवत पुराण की इस उक्ति में भी विद्यमान है कि 'विद्वानों ने स्वयंवर तीन प्रकार के बतलाये हैं, जिन्हें राजाओं (अथवा क्षत्रियों) के उपयुक्त कहा गया है।[२९] इन बातों से हम निःसंदिग्ध रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वयंवर विवाह क्षत्रियों के लिए ही विहित थे।

स्वयंवर के दोष और उसका लोप

क्षत्रिय वर्ण में सीमित होने एवं विशेष प्रतिबन्धों से जकड़े रहने के कारण स्वयंवर विवाहों का प्रचार बहुत न रहा होगा। इन अवसरों पर अपने शौर्य का अथवा अपने को रूप में अद्वितीय दिखला कर रूपवती युवती का प्रणय प्राप्त करने की आकांक्षा लेकर विभिन्न राज्यों के कुमार समवेत होते थे। स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता के भाव उनमें ईर्षा, राग और द्वेष जाग्रत करते थे जिससे स्वयंवर के विजेता से वे प्रायः युद्ध ठान दिया करते थे। सीता तथा द्रोपदी के अत्यंत प्रसिद्ध स्वयंवरों के अवसरों पर इस प्रकार के मनो-मालिन्य, संघर्ष और युद्ध तक के वर्णन क्रमशः रामायण और महाभारत में मिलते हैं। इन बुरे परिणामों को देखते हुए स्वयंवर प्रथा लोकसम्मत नहीं हो हो सकती थी। संयोगिता के स्वयंवर का भारी मूल्य न केवल जयचंद और पृथ्वीराज को चुकाना पड़ा वरन् उनमें परस्पर जो खटपट पहले से चली आती थी उसने इस स्वयंवर में बहुत ही उग्र तथा भयंकर रूप धारण किया जो मुहम्मद गोरी द्वारा हिंदू साम्राज्य के पतन में सहायक हुआ। यहीं स्वयंवर प्रथा का भारत से सदा के लिए अंत भी हो गया।

---

२८ म० भा०, आदि पर्व १८९.७

२९ दे० भागवत ३–१८.४१

विवाह की अवस्था और वर-कन्या के गुण-दोष

सांस्कारिक इतिहास की दृष्टि से ही नहीं, वर्तमान स्थिति को भी देखते हुए प्राचीन काल से लड़कों और प्रधानतः लड़कियों के विवाह की अवस्था के विषय में लोगों के विचार कैसे बदलते रहें हैं यह एक विवेचन का विषय है। आरंभ में ही यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि सभ्यता के आरंभ में बाल विवाह का कहीं नाम नहीं था। जैसा कि देख चुके हैं अत्यंत प्राचीन काल में न केवल बालक अपितु बालिकाएँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करती थीं और उनके विवाह समावर्तन संस्कार के उपरांत होते थे। ऐसी अवस्था में वे बाल्यकाल बिताकर पूर्ण युवावस्था में प्रवेश कर जाती थीं और बाल-विवाह से उत्पन्न होनेवाली किसी तरह की समस्या समाज के सम्मुख उपस्थित न हो पाती थी। युवा क्या युवती शारीरिक पुष्टता, बौद्धिक विकास और नैतिक बल से सम्पन्न होकर वैवाहिक जीवन के लिए सर्वथा सक्षम हो जाती थी और इन साधनों से परिपूर्ण होने से वे न केवल उस जीवन का सुखास्वाद ले सकती थीं, उसे विवेक और संयम के साथ उचित दिशा में ले जा सकती थीं।

वैदिक साहित्य से यह पता नहीं लगता कि विवाह के लिए पुरुष और स्त्रियों की कोई न्यूनतम अवस्था नियत थी। किंतु ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यक अवधि के अतिरिक्त वेद के आंतरिक साक्ष्य से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विवाह के समय कन्या की अवस्था किसी तरह सोलह साल से कम नहीं होती होगी। इस निष्कर्ष पर आने के लिए गर्भाधान संस्कार की समीक्षा अत्यंत उपयोगी है।

भारतीय संस्कृति की विलक्षणताओं में गर्भाधान संस्कार का विधान इस संस्कृति से अनभिज्ञ स्वयं भारतवासियों को तथा दूसरी संस्कृतियों में पले हुए लोगों के लिए एक कौतूहलवर्धक आश्चर्य है। किन्तु वह प्राचीन काल से अन्य संस्कारों की तरह एक बड़े महत्व का संस्कार माना जाता रहा है, यद्यपि आधुनिक काल में उसका प्रयोग प्रायः विलुप्त होने से उसकी महत्ता का अनुभव नहीं किया जाता। सन्तानोत्पत्ति भारतीय संस्कृति में एक धर्म-कार्य माना गया है और एतदर्थ एवं कामवासना को केन्द्रित करके जितेन्द्रियता में अभ्यस्त करने के लिए विवाह संस्था की संस्थापना हुई। उसका उद्देश्य कहीं भी काम की तृप्ति नहीं माना गया है। अतएव पति-पत्नी का प्रथम समागम गर्भाधान संस्कार के साथ सम्पन्न करने की प्राचीन वैदिक रीति है जिसे विवाह के चौथे दिन करने की विधि निश्चित थी। विवाह के कुछ महीनों अथवा वर्षों

के अनन्तर द्विरागमन की चाल इसके बहुत पीछे की है। यह कहना अनावश्यक है कि गर्भाधान संस्कार के समय गर्भ धारण करने की क्षमता पत्नी में उत्पन्न हो जाती है जिससे विवाह के समय उसकी अवस्था कम-से-कम पंद्रह-सोलह वर्ष होना स्वयंसिद्ध है। दूसरे यह बात गर्भाधान संस्कार में प्रयोग किये जाने वाले मंत्रों से भी प्रकट होती है।

इन मंत्रों से यह कल्पना की गयी है कि पति पत्नी का शरीरधारी पति है जिसके पूर्व उसके चार अशरीरी पति हो चुके होते हैं। भारतीय संस्कृति के देवता वाद से अभिज्ञ जन जानते हैं कि उसमें सूर्य, चंद्रमा, जल, अग्नि, वायु इत्यादि तत्वों के परे उन उन तत्वों के अधिष्ठातृ देवता माने गये हैं, जिन्हें आधिदैविक शक्तियाँ कहते हैं। इस मान्यता के अनुसार इस देवतावाद में वरुण, सोम, अग्नि और विश्वावसु जो प्राकृतिक पदार्थ हैं उनके अधिष्ठातृ देवता उन उन नामों से कल्पित हुए हैं और इन्हीं को विवाह के पूर्व कन्या के चार आधिदैविक पति माना गया है जो वस्तुतः कन्या की प्राकृतिक वृद्धि और विकास के द्योतक हैं। यह विकास एक क्रम के साथ होता है, क्रमहीन नहीं, और प्रत्येक विकास-क्रम में उसके देवता के लक्षण, प्रकाशित होते हैं।

प्राकृतिक दृष्टि से देखने से यह विदित होता है कि प्रत्येक क्रम को पूरा करने में कुछ साल लग जाते हैं जो साधारणतया सामान्य होता है यद्यपि जल-वायु तथा पोषक तत्वों की न्यूनाधिकता के कारण समय में थोड़ा अंतर संभव है। कन्या की प्रारंभिक अवस्था में उसकी शारीरिक पुष्टि होती है। इसमें प्रधानतया वरुण सहायक होता है। इससे वरुण कन्या का प्रथम पति माना गया है। विकास के दूसरे चरण में कन्या में स्त्रीत्व के लक्षण देख पड़ते हैं। इस अवस्था के आरंभ होते ही सोम देव उसका पतित्व अथवा संरक्षकता अपने ऊपर लेते हैं। इसका अंत होते होते कन्या में कामोद्दीप्ति का अंकुर आता है और उसके साथ ही उसके पतित्व का भार सोम से अग्निदेव ग्रहण कर लेते हैं। अग्निदेव जिसका गुण उष्णता लाना है अग्निवर्द्धक हैं। इस अवस्था में कन्या के समस्त शरीरांगों की परिपुष्टि होती, काम जागृत होता है तथा एक विशेष प्रकार की कान्ति अथवा लावण्य प्रत्यक्ष होता है। इस समय उसमें दाम्पत्य की योग्यता आ जाती है और अग्नि का स्थान विश्वावसु ग्रहण करते हैं जिनकी कल्पना दाम्पत्य-धर्म के पति के रूप में की गयी है। विवाह के पश्चात् जब सांसारिक पति गर्भाधान के लिए पत्नी का समागम करता है, वह मंत्र द्वारा विश्वावसु से निवेदन करता है कि इस स्त्री का पति मैं हो चुका हूँ, अब आप यहाँ से चल दें। अब इन चारों विकास चरणों पर विचार करें तो स्पष्ट है कि चतुर्थ पाद की समाप्ति पर

जब गर्भाधान के समय पति विश्वावसु से हट जाने का अनुरोध करता है साधारणतया कन्या की अवस्था पंद्रह-सोलह वर्ष से कम नहीं होती।

यहाँ गर्भाधान संस्कार के दो एक मंत्रों का उल्लेख आवश्यक है। आरंभ में पति विश्वावसु को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि यहाँ से उठिए। यह पतिवती हो चुकी। मैं मंत्र और वाणी से विश्वावसु की प्रार्थना करता हूँ। इसके पिता के घर में दूसरी किसी की इच्छा कीजिए और वहाँ अपना भाग प्राप्त कीजिए।[३०] इसके अनंतर ही प्रायः इसी निवेदन को पति दुहराता हुआ कहता है—'विश्वावसु! उठिए यहाँ से। मैं आदर के साथ आपकी प्रार्थना करता हूँ। दूसरी इच्छावाली के पास जाइए। इसे इसके पति के पास छोड़ जाइए।'[३१]

कन्या की शारीरिक वृद्धि का यह क्रम भारतवर्ष की जलवायु के अनुकूल होने से प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक भी है और इसी के अनुसार आयुर्वेद के प्रमुख प्रणेता सुश्रुताचार्य ने स्त्री के गर्भाधान के लिए सोलह वर्ष की अवस्था उपयुक्त बतलायी है। सुश्रुत का मत यह है कि 'यदि सोलह वर्ष की अवस्था में न पहुँची हुई स्त्री में पचीस साल की अवस्था को न पहुँचा पुरुष गर्भाधान करता है तो या तो गर्भ में ही मृत्यु हो जाती है या शिशु थोड़े ही दिन में मर जाता है, जो भी गया तो दुर्बल होता है।'[३२] महाभारत में एक जगह कहा गया है कि तीस वर्ष का पुरुष हृदय को आनंद देनेवाली सोलह वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे। किन्तु महाभारत में ही एक दूसरे स्थल पर यह वचन मिलता है कि तीस वर्ष का पुरुष दस वर्ष की नग्निका कन्या से विवाह करे। किन्तु महाभारत की परिस्थिति तथा तत्कालीन कन्याओं के विवाह की अवस्था पर ध्यान देने से कोई भी कह सकेगा कि दस वर्ष वाला वचन प्रक्षिप्त है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करती थीं उनका विवाह वयस्क अवस्था में ही होता होगा। उनके वेदाध्ययन पर प्रतिबंध लगने पर यह अवस्था बहुत कुछ नीचे खिसक आयी। निदान धर्मशास्त्रों ने यह व्यवस्था आरंभ कर दी कि ऋतुमती होने के पूर्व ही कन्या का विवाह अवश्य हो जाना चाहिए। इस नियम पर यह कह कर बहुत बल दिया गया कि ऋतुमती कन्या अविवाहिता पड़ी रहे तो उसके पिता अथवा अभिभावक को भ्रूणहत्या का महापातक लगता है। व्यास तथा वसिष्ठ स्मृतियाँ इस मत का प्रबल आग्रह करती हैं। स्मृति में कहा है कि 'अष्ट वर्षा भवेद् गौरी नव

---

३० ऋ० १०.८५.२१

३१ ऋ० १०.८५.२२

३२ सुश्रुत शारीर स्थान, अ० १०

वर्षा च रोहिणी। दशवर्षा भवेत्कन्या अतऊर्ध्वं तु रजस्वला'—और यदि बारह वर्ष की हो जाने पर कन्या का विवाह न कर दे तो उसके पितृगण उस कन्या के रज का प्रत्येक मास पान करते हैं। माता-पिता और ज्येष्ठ भ्राता अविवाहिता कन्या को रजस्वला देखकर नरकगामी होते हैं। अज्ञान से जो ब्राह्मण ऐसी लड़की से विवाह करता है उससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, भोजन के अवसर पर उसे एक पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए; वह वृषली पति है और ऐसे विचार स्मृतियों में मान्य हुए। फिर तो आठ और दस और उससे कहीं न्यून वर्ष तक की कन्या के विवाह कर देने की धूम मच गयी। इधर मनुस्मृति के वचनों पर विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि वह ऋतुमती कन्या का विवाह करना ही उचित समझती है और जोर देती है कि ऋतुमती कुमारी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद किसी योग्य वर को स्वयं प्राप्त कर ले,[३३] तथापि इसी प्रकरण में मनुस्मृति का यह भी कहना है कि 'तीस वर्षीय युवक बारह वर्षीय कन्या के साथ विवाह करे। ग्यारह अथवा आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह गार्हस्थ्य धर्म के लिए कष्टदायी होता है।'[३४] इस प्रकार मनुस्मृति का मत यही जान पड़ता है कि कन्या का विवाह अधिक नहीं टालना चाहिए किन्तु उसका एक वचन बड़े मार्के का है। उसका यह कथन कि 'कन्या ऋतुमती हो जाय और मृत्युपर्यन्त घर में पड़ी रहे परन्तु किसी गुणहीन पुरुष के साथ उसका विवाह नहीं करना चाहिए,'[३५] विशेष महत्व का है। मनुस्मृति का यहाँ प्रधान लक्ष्य कन्या के कल्याण पर देख पड़ता है और उससे यह नहीं प्रकट होता कि उसके मत में ऋतुमती होते ही कन्या का विवाह कर देना अनिवार्य है।

संक्षेप में यह देखना है कि दंपति के सुख के लिए वर और कन्या के गुण और अवगुणों का ध्यान कहाँ तक रखा गया है। मनुस्मृति के वर के योग्यता-विषयक मत पर ध्यान देने पर यह बात देख पड़ेगी कि जिस प्रकार कन्या के गुण दोषों को देखकर विवाह करना चाहिए उसी प्रकार वर के गुण-अवगुण की परीक्षा भी शास्त्रों में आवश्यक बतलायी गयी है। समाज में कुछ लोगों ने इस पर दुर्लक्ष्य किया हो परंतु स्मृति शास्त्र ने तो स्पष्ट शब्दों में वर की आयुर्वेदिक परीक्षा का निर्देश तक किया है। उसका मत है कि जो वर श्रोत्रिय, सवर्ण, युवा, बुद्धिमान और लोक-प्रिय हो और जिसके पुंस्त्व की परीक्षा कर ली गयी हो ऐसे गुणशीलवाले वर के साथ कन्या का विवाह करना

---

३३ मनु० ९.९०

३४ मनु० ९.९४

३५ मनु० ९.८९

चाहिए।[३६] बाहर से हृष्ट पुष्ट और भीतर से खोखला पति आजीवन दुःख-दायी होता है। इसे दृष्टि में रखने से याज्ञवल्क्य स्मृति के वचन की सार्थकता समझ में आ जाती है, यद्यपि उसकी सलाह बड़ी विचित्र लगेगी। स्त्री के सुख तथा अच्छी संतान पर लक्ष्य रखकर महाभारत में भी वर के गुणों की परीक्षा पर विशेष आग्रह किया गया है। उसमें एक जगह यह निर्देश है कि शिष्ट लोगों को चाहिए कि कन्या को ऐसे वर को दें जो चरित्रवान और अच्छे कुल में उत्पन्न हो तथा जिसके कर्म अच्छे हों[३७] एवं कण्व के मतानुसार कालिदास ने 'तुल्यगुणं वधूवरं'[३८] को प्रशस्त माना है।

स्मृति ग्रन्थों में बाल्यकाल में विवाह कर देने के जो वचन मिलते हैं वे स्त्रियों के संबंध में हैं। बालकों के विवाह वेदाध्ययन के अनंतर करने का नियम सर्वत्र मिलेगा। परंतु वेदाध्ययन-निषेध के कारण कन्या का विवाह यथासंभव शीघ्र करना एक साधारण बात हो गयी और उसके बौद्धिक विकास का मार्ग भी संकीर्ण होता गया। संभवतः भारत पर आर्य धर्मेतरों के आक्रमण और उनके द्वारा स्त्री जाति पर होनेवाले संभावित अथवा आशंकित अनाचार से लड़कियों के बाल विवाह की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी। कालान्तर में परिस्थितियों के परिवर्तन से बालकों का भी ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन केवल शास्त्रों के पन्नों में रह जाने से उनके भी विवाह बाल-काल में होने लगे। विवाह संस्कार दुर्दशा की चरम सीमा तक पहुँच गया और बहुतेरे विवाह गुड़ियों के खेल से हो गये और अबोध वर वधू को इसका पता तक नहीं कि उनका विवाह हो रहा है। जहाँ वर वधू वेद मंत्रों का समझ के साथ उच्चारण करते हुए उदात्त प्रतिज्ञाएँ करते थे वहाँ अधसिखिए पुरोहित मंत्र प्रयोग की एक रीति का पालन मात्र करने लगे। बाल विवाह की बुराइयों और उनसे उत्पन्न वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय हानियों का वर्णन अनावश्यक है। यह इतना सर्वविदित है कि उनपर कुछ अधिक कहना समय का दुरुपयोग होगा।

इस विषय को समाप्त करने के पूर्व कतिपय नारी विभूतियों के विवाह वयस् पर एक विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा।

प्राचीन काल से आधुनिक समय तक कतिपय महापुरुषों एवं नारी विभूतियों के विवाह बाल्यावस्था में हुए। अपने पिता की आज्ञा से सावित्री अपने लिए उपयुक्त वर ढूँढ़ने निकली थी। कण्व के आश्रम में गांधर्व विवाह के साथ

---

३६ याज्ञ० स्मृ०, विवाह प्रकरण ५५
३७ म० भा०, अनुशासन पर्व ४४.३
३८ शाकुंतल, ५-१६

ही दुष्यंत से शकुन्तला को गर्भ रह गया था। अपने स्वयंवर के पूर्व ही दमयंती नल की प्रशंसा सुनकर उस पर अत्यन्त मुग्ध हो चुकी थी और उसके स्वयंवर के समय नल के रूप में छिपे हुए देवताओं के बीच में नल को पहचानने में उसने विलक्षण बुद्धिमत्ता दिखायी थी। अपने पिता के राज्य की रक्षा के हेतु सुकन्या ने उसके बहुतेरा मना करने पर भी अंधे तथा वृद्ध तपस्वी च्यवन की पत्नी बनना शिरोधार्य किया था। अपने विवाह का प्रस्ताव अंधे धृतराष्ट्र के साथ सुनते ही गांधारी ने पातिव्रत्य के पालनार्थ अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। पांडु से परिणय होने के पूर्व दुर्वासा ऋषि के दिये गये मंत्र के द्वारा आह्वान करने पर सूर्य से कुंती को कर्ण उत्पन्न हो चुका था। स्वयंवर के अवसर पर लक्ष्य वेध के लिए कर्ण खड़ा भी न हो सका था कि द्रौपदी ने उपेक्षा दृष्टि से कहा कि मैं सूतपुत्र के साथ विवाह न करूँगी। सुभद्रा-हरण के पूर्व उसका अर्जुन पर विशेष अनुराग प्रकट हो गया था। अभिमन्यु और उत्तरा के विवाहोत्तर अचिरात् परीक्षित उसके गर्भ में आ गया। इन दृष्टान्तों पर विचार करने पर एक ही निष्कर्ष संभव है और वह यह कि ये सब स्त्रियाँ विवाह के समय गर्भ धारण की क्षमता रखती थीं, अर्थात् किसी भी दृष्टि से उनकी अवस्था पंद्रह-सोलह वर्ष से न्यून न थी।

प्राचीन काल की किसी नारी का विवाह अल्प वयस् में सुनाई नहीं पड़ता किन्तु प्रत्येक नियम के अपवाद, यहाँ तक कि सत्य और अहिंसा जैसे शाश्वत धर्मों के भी अपवाद, होते हैं और इसलिए विवाह वयस् के संबंध में कुछ अपवाद देख पड़ते हैं। सीता का उदाहरण इन्हीं में एक है। विवाह के समय उनकी अवस्था केवल छः साल की जान पड़ती है और राम की सोलह साल। राम के वयस् के विषय में किसी संदेह के लिए अवकाश नहीं है। जब अपने यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र ने राम की सहायता माँगी, दशरथ ने उत्तर में कहा कि राजीव लोचन राम अभी षोडश वर्ष से कम अर्थात् पंद्रह साल का बालक है।[३९] उसके बाद ही उनका सीता के साथ सोलहवें वर्ष में व्याह संपन्न हुआ। वन गमन के समय कौसल्या ने स्पष्ट कहा था कि तुम्हारे जन्म से अर्थात् द्विजन्मा होने से सत्रह साल हो गए और इस बीच में यह प्रतीक्षा करती आयी कि मेरे दुःखों के अंत होंगे।[४०] धर्मशास्त्रानुसार क्षत्रिय का यज्ञोपवीत संस्कार ग्यारहवें वर्ष में होता है जिससे वनवास के समय राम का अट्ठाईस वर्ष का होना पाया जाता है। दोनों ही अल्पवयस् थे, यह मानना पड़ता है।

---

३९ वा० रा०, बालकांड २०.२

४० वा० रा०, अयोध्या काण्ड २०.४५

सीता ने अशोकवाटिका में हनुमान को बतलाया था कि 'रामचन्द्र के घर में मैं बारह वर्ष रही और वहाँ मैंने समस्त सांसारिक सुखों का इच्छानुकूल भोग किया।'[४१] परिव्राजक वेष में छिपे हुए रावण को अपना परिचय देते समय सीता ने यह कहा कि 'इक्ष्वाकुओं के यहाँ सब इच्छाओं को पूरा करनेवाले सुखों का बारह साल पर्यन्त उपभोग करने के उपरान्त तेरहवें वर्ष में राजा ने मंत्रियों के परामर्श से राम को अभिषेक देने का विचार किया। उस समय मेरे महा तेजस्वी पति अट्ठाईस साल के थे तथा मैं जन्म से अठारह वर्ष की थी।'[४२] वाल्मीकीय रामायण के उक्त अवतरणों से ज्ञात होता है कि विवाह के समय सीता की अवस्था छः वर्ष थी और राम की सोलह के लगभग थी, वे बारह वर्ष तक सुखपूर्वक अयोध्या में रहे और उसके बाद ही वन को गये। किंतु वाल्मीकीय रामायण में एक ऐसा वचन मिलता है जिससे इन सब वचनों के विपरीत सीता की अवस्था के विषय में संदेह होता है। अत्रि मुनि की पतिव्रता पत्नी अनुसूया से अपने संबंध में सीता ने कहा है कि 'जब मेरे पिता ने देखा कि मेरी अवस्था पति संयोग के उपयुक्त हो गयी है फिर जैसे अपने द्रव्य के नाश से निर्धन चिंतित हो जाता है वैसे ही वे चिंता मग्न हो गये।'[४३] छः वर्ष की ही अवस्था को 'पति संयोग सुलभ' मानना अत्यंत कठिन है। तथा यदि यह मान लें कि सीता का विवाह छः वर्ष की ही अवस्था में संपन्न हुआ तो इस दृष्टान्त से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि उस काल में स्त्रियों अथवा पुरुषों का बाल विवाह हुआ करता था और विवाह के समय सीता के बाल-वयस् से यह निष्कर्ष निकालना, जैसा कि टॉमस ने किया है, कि रामायण से ज्ञात होता है कि बाल-विवाह लोक-प्रिय हो चला था युक्ति और तथ्य संगत नहीं है।[४४] सीता के अप्रतिम बल को देखकर विस्मित जनक ने प्रतिज्ञा कर लिया था कि जगत के अप्रतिम व्यक्ति के साथ ही उसका कन्यादान करेंगे और इस हेतु उन्होंने शैव धनुष को झुकाने को वीरता का निकष स्थिर करके संसार के वीरों को एक भारी चुनौती दी थी। इसे स्वीकार न करना राम के लिए बड़े अपमान की बात होती। जिस राम ने अल्प वयस् में समस्त वेद वेदांगों में पारंगतता प्राप्त कर ली, जिनके अलौकिक पराक्रम के कारण विश्वामित्र ने दशरथ के करुणाजनक विनय को ठुकरा दिया कि राक्षसों से अपने यज्ञ के रक्षार्थ राम को न माँग कर उनके सेनानायकत्व में चतुरंगिणी सेना ले लें उनके विषय में

४१ वा० रा०, सुन्दर कांड ३३.१७
४२ वा० रा०, अरण्य कांड ४७.४.५
४३ वा० रा०, अयोध्या कांड ११८–३४
४४ पी० टॉमस : इंडियन विमेन थ्रू दि एजेज़, पृ० १९५

विवाह का वयस् कोई महत्त्व नहीं रखता। दशरथ को बड़ी आशंका थी कि राम बड़े सुकुमार हैं और पूरे सोलह साल के भी नहीं हैं,[४५] वे क्रूर राक्षसों का सामना क्या कर सकेंगे। परंतु वसिष्ठ तथा विश्वामित्र दोनों ही रामचंद्र के अलौकिक पराक्रम को जानते थे।[४६] सीता के समान अलौकिक कन्या और राम के सदृश अप्रतिम पुरुष के विवाह का वयस् किसी विधान की सीमा में आबद्ध नहीं हो सकता था। कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि इस विषय में तेजस्वी पुरुष का वयस् नहीं देखा जाता।[४७]

पिछले सैकड़ों साल में तो बाल-विवाह का साम्राज्य रहा है तथापि यहाँ भी कतिपय उदाहरण ऐसे मिलते हैं जहाँ बाल-विवाह का कोई दुष्परिणाम प्रकट नहीं हुआ। वीरांगना लक्ष्मीबाई का विवाह झाँसी के राजा गंगाधर राव के साथ तेरह वर्ष की अवस्था में हुआ। इसी वय में वह अश्वारोहण तथा रण-विद्या में निपुण हो गयी थी और गंगाधर राव के निधन पर जिस दक्षता के साथ उसने राज्य चक्र चलाया वह बड़े बड़े शासकों के लिए उदाहरण है। माता कस्तूर बा का नाम आदर्श भारतीय नारियों में अमर रहेगा। युगपुरुष महात्मा गांधी के साथ विवाह के समय वह तेरह वर्ष की थीं तो गांधीजी ६ महीने उनसे भी छोटे थे। इस अवस्था को बहुत कम तो नहीं कहा जा सकता, तथापि इसकी गणना बाल्यावस्था में ही करनी चाहिए। इस प्रसंग में परमहंस रामकृष्ण का नाम भी उल्लेखनीय है जिनका विवाह शारदा मणि से उस समय हुआ जब वह केवल पाँच साल की थी। परन्तु इन विलक्षण अपवादों से बाल-विवाह जन्य बुराइयाँ असिद्ध नहीं होतीं। जिन नारी विभूतियों अथवा महापुरुषों के विवाह बाल्यावस्था में हुए उनके चरित्र को निकट से देखने पर स्पष्ट होगा कि उनके प्रबल संस्कारों ने बाल-विवाह के दोषों को ढँक दिया था।

यह कहना अनावश्यक है कि बाल विवाह की प्रथा ने भारतीय समाज को बड़ी क्षति पहुँचायी है। इस कुरीति को दूर करने की प्रबल प्रवृत्ति भी जाग्रत हुई और इसे मिटाने के लिए शारदा ऐक्ट १९२९ भी बना। किंतु सैकड़ों वर्षों से चले आये इस सामाजिक कोढ़ पर इस अधिनियम का प्रभाव अत्यल्प ही पड़ा। हाँ, शिक्षा प्रचार एवं परिस्थितियाँ इसे बड़ी तेजी के साथ मिटा रही हैं जिससे इस तथ्य को समर्थन मिलता है कि सामाजिक बुराइयों को हटाने में कानून का कम और सामाजिक चेतना का प्रभाव अधिक व्यापक होता है।

---

४५ वा० रा०, बालकांड

४६ वा० रा०, बाल कांड

४७ रघु०, ११.१

अध्याय ८

विवाह के आदर्श : एक पत्नीव्रत (मॉनोगेमी) और पातिव्रत्य

विवाह के आदर्श की मीमांसा में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि उसमें पत्नी के प्रति पति के कर्तव्यों का निर्देश कहाँ तक हुआ है। इस विषय में आरंभ में ही इस सिद्धान्त को सामने रख लेना होगा कि किसी आदर्श अथवा कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन व्यक्ति का 'स्वधर्म' है जिसमें वह इसकी अपेक्षा नहीं करता कि उससे सम्बंधित व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है अथवा नहीं। कर्तव्य पालन किसी प्रकार का व्यवसाय नहीं जिसमें यह देखना पड़े कि दूसरे अपने कर्तव्य का पालन करते हैं अथवा नहीं। इस प्रसंग में महाभारत में वर्णित द्रौपदी-युधिष्ठिर संवाद उल्लेखनीय है जिसमें वनवास के कष्टों को देखकर द्रौपदी ने ईश्वरीय न्याय पर शंका करते हुए कहा कि तरह तरह की अनीति करता हुआ दुर्योधन गुलछर्रे उड़ा रहा है और धर्मराज युधिष्ठिर धर्म के मार्ग पर फूँक-फूँक कर पैर रखते हुए नाना प्रकार के कष्ट उठा रहे हैं। युधिष्ठिर के इस उत्तर में कि 'मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता, उसके सत्य इत्यादि नियमों का पालन विधिवत करता हूँ क्योंकि इसे मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, भारत की संस्कृति में प्रतिष्ठित एक-निष्ठ कर्तव्य का यह सनातन नियम पातिव्रत्य धर्म का प्राण है जिसमें पत्नी यह नहीं देखना चाहती कि उसके पति कहाँ तक निष्ठावान हैं। इसी में उसके चरित्र बल की सच्ची अभिव्यक्ति है और यही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी है।

इस प्रकार यद्यपि पातिव्रत्य और पत्नीव्रत अन्योन्याश्रित धर्म नहीं माने गये तथापि उनके सापेक्ष रूप को स्वीकार किया गया और पुरुष को यह छूट नहीं दी गयी कि वह स्त्री को सीता और सावित्री देखना चाहे और स्वयं दुराचार के कीचड़ में फँसा रह कर उसे नित्य प्रति संतप्त करता रहे। श्वेतकेतु ने पति-पत्नी संबंध की जो मर्यादा बाँधी थी उसका आदर्श यदि स्त्री के पति के प्रति निष्ठावती होने में है तो उसका अंत उसी तरह पत्नी के प्रति पति के निष्ठावान होने में है।[१] इसलिए सांस्कृतिक इतिहास में जहाँ पतिव्रताओं की अपार महिमा दिखायी गयी उन महापुरुषों की प्रशंसा उसी तरह की गयी है जो एक पत्नीव्रती थे

१ म० भा०, आदि पर्व १२२–१६.१९

और जिन्होंने पत्नी के प्रति सच्चाई का पूरा निर्वाह करके एक आदर्श स्थापित किया। इससे टॉमस तथा उनके विचार वालों की यह प्रस्थापना अयथार्थ हो जाती है कि एक पत्नीमूलक समाज की कल्पना भारतीय चिंतन से परे है।[२]

तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पातिव्रत्य के प्रसार का जितना प्रयास हुआ उतना पत्नीव्रत के आदर्श पर बल नहीं दिया गया। इसका एक विशेष कारण पूर्वजों का पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की पवित्रता पर विशेष आग्रह दिखायी पड़ता है। यह एक तथ्य है कि जहाँ पतिव्रताओं की संख्या अनगिनत है प्रख्यात एक-पत्नी व्रतधारियों के नाम उँगली पर ही लिए जा सकते हैं। इस विषय में भारतीय नारी पुरुषों से आगे बढ़ गयी है।

यहाँ उन कतिपय महाभाग पुरुषों की संक्षिप्त चर्चा की जाती है जो एक पत्नीव्रत पर अटल रह कर उदात्त आदर्श स्थापित कर गये और जिसकी छाप भारतीय समाज पर सदा के लिए पड़ी है। ऐसे पुरुषों की प्रशंसा एक विशेष कारण से और बढ़ जाती है। शास्त्र ने पुत्रोत्पादन की आवश्यकता पर जोर देकर एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह करने का अनुमोदन किया है। कुछ पुरुषों ने इस अधिकार का सदुपयोग किया किन्तु बहुतों ने कार्यतः उसका प्रायः दुरुपयोग ही किया। एक से अधिक स्त्री से व्याह करने की रीति-सी पड़ गयी और काम वासना उसका हेतु बनी।

फलतः धर्म शास्त्र की आज्ञा का उद्देश्य पीछे जा पड़ा। इसी प्रकार जहाँ विधवा विवाह पर कड़े प्रतिबंध लगा कर पुनर्विवाह निषिद्ध किया गया, धर्म-कृत्यों में साहचर्य के नाम पर विधुर को विवाह कर लेने की छूट दी गयी। पुरुषों ने इस शास्त्राज्ञा का भी प्रायः दुरुपयोग ही किया। इसलिए इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं कि वे पुरुष आदर्श हैं जिन्होंने पत्नी की जीवितावस्था में अथवा उसके निधन पर विवाह का नाम भी नहीं लिया।

एक पत्नीव्रतधारियों में सर्वप्रथम पुण्यश्लोक नल का नामोल्लेख उपयुक्त होगा जिनका यह व्रत था कि जब तक उनके शरीर में प्राण रहेगा वे एकमात्र दमयंती के होकर रहेंगे। दमयंती से भी उन्होंने यह बात कह रखी थी कि जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेंगे मेरा अनुराग तुम्हारे ही प्रति स्थिर रहेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।[३] मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र का एक पत्नीव्रत प्रत्येक भारतीय के घर की कहानी है। यह सर्व विदित है कि आश्वमेधिक यज्ञ के अनुष्ठान में

---

२ पी० टॉमस : विमेन थ्रू दि एजेज़ पृ० ३०२ 'As such the monogamic society was something foreign to Indian conception.'

३ म० भा०, वन पर्व ६४.१७

सीता के निर्वासित रहने के कारण उनकी स्वर्णमयी मूर्ति को अपने पार्श्व में स्थापित कर श्रीराम ने सहधर्मचारिणी के स्थान की पूर्ति की थी। वे स्वयं इस मर्यादा के संस्थापक थे और लोगों में एक पत्नीव्रत को प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। इसी बात का संकेत करते हुए भागवतकार ने कहा है कि 'राजर्षियों की तरह पवित्र आचार करनेवाले रामचंद्र एक पत्नीव्रत का पालन स्वयं करते थे तथा दूसरों को तदनुसार चलने की शिक्षा देते थे।'[४] बाद को धर्मराज युधिष्ठिर ने भी एक पत्नीव्रत के आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया। वे पातिव्रत्य धर्म के संयमपूर्ण जीवन की कठिनाइयों को जानते थे और पत्नीव्रत का मूल्य भी पूर्णतया समझते थे। यह पतिव्रता की प्रशंसा के विषय में कही गयी उनकी उक्ति से प्रकट होता है। उनके इस कथन में कि 'गुरुजन माननीय हैं और उन्हीं के समान पति-परायणा स्त्रियाँ भी माननीय हैं, वे पतियों की जो सभी प्रकार सेवा-सुश्रूषा करती हैं वह मुझे एक दुःसाध्य कार्य जान पड़ता है'[५] एक आदर्श पुरुष का स्त्री जाति के प्रति सम्मान का द्योतन है।

पत्नी के प्रति पति के क्या कर्तव्य हैं, इस संबंध में विवाह के प्रकरण में दिखा चुके हैं कि विवाह का एक प्रयोजन सहधर्मचारिता है। वेद और धर्म-शास्त्रों की इस मर्यादा का पालन राम के चरित्र में सम्यक् रूप से मिलता है। गंभीर तथा गोपनीय विषयों में स्त्री को दूर रखने का परामर्श अनेक स्थलों पर मिलेगा, किन्तु आदर्श पति राम ने कर्तव्य विषयों में सीता से परामर्श करते रहना अपना स्वभाव बना लिया था। उन्होंने सीता के जहाँ दूसरे गुणों का वर्णन किया है वहीं उनकी मंत्रणाओं में सीता के सहयोग का भी उल्लेख बड़े मार्मिक शब्दों में किया है, और लक्ष्मण के प्रति सीता के शील के वर्णन में राम के शब्दों में कि 'कार्येषु मंत्री करणेषु दासी स्नेहेषु माता क्षमया धरित्री। धर्मेषु पत्नी शयनेषु रंभा, रंगे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥'—मेरी प्यारी स्त्री कर्तव्य विषयों में मंत्रणा देती, कार्य में दासी का काम करती, स्नेह करने में माता के समान और त्रुटियों को क्षमा करने में पृथ्वी के समान क्षमाशील, धर्म कार्यों में पत्नी, स्त्री-पुरुष व्यवहार में रंभा और आमोद-विनोद में सखी है पति-पत्नी के संबंधों का ऊँचा आदर्श स्थापित हुआ है।

महाकवि कालिदास ने भी पति के कर्तव्यों का निर्देश किया है। इंदुमती के निधन पर अज ने जिन विलापपूर्ण शब्दों में अपनी पत्नी के गुणों का वणन किया है उससे यह शिक्षा मिलती है कि पति को पत्नी के चित्त का सर्वदा ध्यान

---

४ भागवत०, स्कंध ९.१०-५५

५ म० भा०, वनपर्व २०५-५

रखना चाहिए। अज ने इंदुमती का स्मरण आँसू भरे हुए इन शब्दों में किया, 'मैंने कभी मन से भी तुम्हारी बुराई नहीं की फिर तुम मुझे क्यों छोड़ जा रही हो? मैं पृथ्वी का पति तो नाम भर को हूँ मेरा सच्चा प्रेम तो केवल तुमसे ही है। तुम्हीं मेरी स्त्री थीं, सम्मति देनेवाली मित्र थीं, एकांत की सखी थीं और गान विद्या आदि ललित कलाओं में शिष्या थीं। तुम्हीं बताओ, तुम्हें मुझसे छीन कर निर्दयी विधाता ने मेरा क्या नहीं छीन लिया।'[६] यहाँ पर कालिदास ने पत्नी के प्रति पति का निर्व्यलीक प्रेम दर्शाया है। उसे गृहस्वामिनी, सचिव और सखी बतलाते हुए यह भी दिखलाया है कि यदि पति किसी कला का विशेषज्ञ हो तो उसमें उसे पत्नी को भी विशेषज्ञ बनाने का प्रयास करना चाहिए। भास ने भी पत्नी को मंत्री और सखा कहा है जो पति के दुःखित होने पर दुःखी होती, प्रसन्न होने पर हर्ष करती, उसके दैन्य पर दैन्य की अनुभूति करती और कोई कड़वी बात कह देने पर हित की बात सुनाती है। किस समय क्या करना चाहिए, इसे वह जानती है, चातुर्यपूर्ण कहानियाँ कहती, पति की प्रशंसा होने पर उसे आनंद आता है। इस प्रकार वह भार्या, मंत्री, सखा और परिजन एक साथ ही सब कुछ है।

वस्तुतः स्त्री का एक महान् गौरवपूर्ण स्थान है। पुरुष की पूर्णता उसके बिना नहीं होती। जब तक विवाह करके वह प्रजोत्पत्ति नहीं करता अधूरा ही माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण ने स्पष्ट कहा है कि पुरुष जब तक भार्या को प्राप्त नहीं करता, आत्मा का आधा ही रहता है। भार्या की प्राप्ति करके सन्तानोत्पत्ति करने पर ही पूर्ण होता है।[७] इस वेद वचन का अनुसरण स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों ने किया है। आपस्तंब का वचन है कि पति और पत्नी का किसी प्रकार विभाग नहीं है, विवाह संस्कार के साथ ही धर्म-कार्यों एवं उनके पुण्यफलों में दोनों साझी होते हैं, यहाँ तक कि धन-सम्पत्ति में भी उनका अलग अलग भाग नहीं होता[८]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मसूत्रों में पुरुष की संपत्ति पर स्त्री का समानाधिकार माना गया है। ऐसी अवस्था में यह धारणा सर्वथा निराधार होगी कि धर्मसूत्रों के अनुसार स्त्री को संपत्ति का अधिकार नहीं था। पति पत्नी के कर्तव्यों की एकरसता के कारण पुराणों में यह प्रतिपादन किया गया है कि पत्नी को पति के अनुकूल चलना चाहिए और साथ ही पति का आचरण भी पत्नी के अनुकूल होना चाहिए। उससे

---

६ रघु० ८, ५२–६७

७ शत० ब्रा० ५.१६.१०

८ आप० ध० सू०

बढ़कर दूसरा नरक नहीं कि पत्नी पति के प्रतिकूल रहा करे। गृहस्थी सुखी जीवन के लिए बनाया गया है और इस सुख का आधार पत्नी ही है। इस प्रकार यदि पति और पत्नी एक-दूसरे के अनुकूल रहें तो इससे बढ़कर दूसरा स्वर्ग नहीं।[९] पति पत्नी के प्रतिकूल मनमाना आचरण न किया करे इसी बात को मनुस्मृति के इन वचनों में निबद्ध किया गया है कि 'स्त्री और पुरुष आजीवन एक-दूसरे के प्रति सच्चे हों, यह उनका परम धर्म है और उन्हें ऐसा यत्न करते रहना चाहिए कि यदि एक को दूसरे से पृथक रहना पड़े तो भी उनके कार्य-कलाप परस्पर विरोधी न हों।'[१०] इस नियम को भूलकर कि जिस प्रकार पत्नी का कर्तव्य पति की अनुकूलता प्राप्त करना है पति को भी पत्नी के अनुकूल रहना चाहिए पति अपने को बड़ा मानकर स्त्री पर शासन करने की चेष्टा करता है। परिणाम यह होता है कि विषम व्यवहार से जीवन का स्वारस्य जाता रहता है और रात-दिन की खटपट, मनोमालिन्य इत्यादि से जीवन विषाक्त हो जाता है। इसलिए पुराणों में यह बतलाया गया है कि जब पति और पत्नी एक दूसरे के वश में रह कर चलते हैं धर्म, अर्थ काम के त्रिवर्ग की सिद्धि होती है।[११] सखी और सहचरी इत्यादि के रूप में स्त्री को देखने का जो निर्देश मिलता है उसका मुख्य हेतु यही है।

वेद की इस शिक्षा का कि जाया अर्थात् स्त्री सखा है पश्चाद्वर्ती साहित्य में पूरा अनुसरण हुआ। महाभारत में जहाँ पुत्र को आत्मा बतलाया गया भार्या को उसका सखा बतलाकर स्त्री को उसके बराबर स्थान दिया गया है।[१२] पत्नी के बिना पुरुष की पूर्णता नहीं होती, इस सिद्धांत का प्रतिपादन अनेक बार दुहराया गया। तैत्तरीय ब्राह्मण (३.३.३.५), शतपथ ब्राह्मण (५.२.१.१०), ऐतरेय ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण एक स्वर से इसका आग्रह करते हैं। महाभारत के अनेक स्थलों पर भार्या की अनिवार्यता बतला कर उसके प्रति माधुर्यपूर्ण व्यवहार करने की शिक्षा दी गयी है। उसमें कहा गया है कि पुत्र, पौत्र, वधू और नौकर-चाकरों से गृहस्थ घिरा हो, पर यदि उसकी भार्या न हो तो उसके लिए घर सूना ही है।[१३] भार्या के समान दूसरी कोई औषधि वैद्यों के मत से नहीं है। वह सब प्रकार के दुःखों को दूर करने के लिए रामबाण है;[१४] मिट्टी, पत्थर से घर-घर नहीं होता, गृहिणी से ही घर को गृह

९ पद्म पु०, उत्तर खंड २२३.५६.७
१० मनु०, ९.१०१.१०२
११ मार्कण्डेय पु० ६७.७१
१२ म० भा०, आदि पर्व ३७४.७३
१३ म० भा० १२.१४४.५
१४ म० भा० ३.५८.२९

कहते हैं। गृहिणी से शून्य घर को सुनसान वन समझना चाहिए।[१५] उस पुरुष को धन्य मानना चाहिए जिसकी स्त्री पतिव्रता हो, पति के कल्याण में लगी रहे और उसे अपना सर्वस्व मानती हो;[१६] भार्या के सदृश दूसरा बन्धु नहीं, भार्या के समान अन्य गति नहीं और इस संसार में धर्म संचय के लिए भार्या के समान दूसरा कोई सहायक नहीं है।[१७] स्त्री के प्रति सहनशील होने की आवश्यकता पर कम बल नहीं दिया गया है। जहाँ कटुभाषिणी स्त्री की निंदा की गयी है वहीं उसकी मृदुवादिता को संजीविनी बतलाते हुए उसकी प्रशंसा की गयी है और पैप्पलाद संहिता तथा महाभारत में पति को यह सलाह दी गयी है कि यदि स्त्री अप्रिय भी बोले तो बुद्धिमान पुरुष को उसके बदले अप्रिय नहीं बोलना चाहिए और उसे इस बात को न भूलना चाहिए कि रति, प्रेम और धर्मानुष्ठान स्त्री के अधीन रहते हैं।[१८] कालिदास ने दुष्यंत के चरित्र को जैसा अंकित किया है उससे यह विदित है कि पत्नी के प्रति किये गये अपने अपराध के लिए पति क्षमा प्रार्थी होकर प्रायश्चित भी कर सकता है। मुनि के शाप के कारण दुष्यंत भूल गया था कि उसने शकुन्तला के साथ गांधर्व विवाह किया था किंतु शाप-मुक्त हो जाने पर जब उसे इस संबंध का अभिज्ञान हुआ वह शकुन्तला के पैर पर गिरकर कहता है 'सुन्दरी! मैंने तुम्हारा जो निरादर किया था उसकी कसक अपने मन से निकाल डालो, क्योंकि उस समय न जाने कहाँ से मेरे मन पर अज्ञान का परदा पड़ गया था।'[१९] प्रथम श्रेणी की पतिव्रता किसी भी अवस्था में अपने पति से उद्वेगजनक ढंग से नहीं बोलती परंतु यह असाधारण बात नहीं कि प्राकृत स्त्रियाँ गृहजाल से ऊबकर दिल के गुबार कटु वचन द्वारा निकालना चाहें। ऐसे समय पर उनके पीछे पड़ जाना अनुचित है। सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार से उसके हृदय को जीत लेना पुरुष का समयोचित कर्तव्य है। महाभारत में एक जगह कहा गया है कि कटुभाषिणी स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए, किंतु भीष्म पितामह ने राजधर्म के निरूपण में जिस प्रसंग में यह बात कही है उसका तात्पर्य ऐसी स्त्री को सर्वथा त्याज्य करने का नहीं हो सकता। भीष्म पितामह के इस कथन में कि आचार्य अपनी विद्या का प्रवचन न करे, ऋत्विज वेदाध्ययन न करे, राजा राष्ट्र की रक्षा न करे, स्त्री

---

१५ म० भा० १२.१४४.६

१६ म० भा० १२.१४४.१०

१७ म० भा० १२.१४४.१६

१८ अथर्व० पैप्प० सं० ५.१९

१९ शाकुंतल ७.२४

कटुभाषिणी हो, गोपाल गोचारण छोड़कर नगर निवास करे और नाई अपना व्यवसाय छोड़कर वनवासी हो जाय तो इन लोगों का परित्याग कर देना चाहिए,[२०] प्रत्येक को अपने-अपने कर्तव्य के पालन में दृढ़ रहने का आग्रह मात्र है।

पत्नी से स्वभावतः पति को अनेक आशाएँ होती हैं, साथ ही पति के दायित्व कम नहीं हैं। स्त्री का भरण-पोषण और उसके शरीर और मान-मर्यादा की रक्षा ऐसे कर्तव्य हैं जिनका पालन न करने से पति पतित माना गया है। 'पुरुष को स्त्री का भर्ता इसलिए कहते हैं कि उसका वह पालन करता है। इन गुणों के न होने पर न वह भर्ता रहा और न पति ही'[२१] महाभारत के इस विवेचन में पति के अवश्य करणीय कर्तव्य का निर्देशन हुआ है। स्मार्त आश्रम व्यवस्था के अनुसार आयुष्य के अंतिम भाग में संन्यास लेना आवश्यक है किंतु कौटिल्य ने स्त्री और बाल-बच्चों की समुचित व्यवस्था किये विना चतुर्थाश्रम में प्रवेश का घोर विरोध किया है तथा अर्थशास्त्र में इस नियम को तोड़नेवाले के लिए राजदण्ड की व्यवस्था की है। एक ओर स्त्री की सच्चरित्रता पर जितना आग्रह है पुरुष के लिए भी उसकी उतनी ही आवश्यकता बतलायी गयी है। अपनी स्त्री के प्रतिकूल आचरण करनेवाले पुरुष को धर्मसूत्रकार आपस्तंब ने 'दारव्यतिक्रमी' कहा है और उसके लिए गदहे का चमड़ा पहनाकर छः महीने तक सात घरों से नित्य भिक्षा माँग कर जीवन निर्वाह करने का घोर अपमानजनक दंड विधान बतलाया है।[२२] मनु ने भी स्त्री पुरुष के अन्योन्य समानशील होने की आवश्यकता पर जोर देते हुए दोनों को एक-दूसरे के प्रति अव्यभिचारी होने की शिक्षा दी है।[२३] मनुस्मृति की इस व्यवस्था का सारांश यह है कि जिस प्रकार पत्नी से पति के प्रति सच्चा होने की आशा की जाती है उसी तरह पति को पत्नी के प्रति सच्चा होना चाहिए। महाभारत (१३.५८.१३) में स्त्री का परित्याग करनेवाले को नरकगामी तक कहा गया है।

पातिव्रत्य

प्रायः संसार की सभी संस्कृतियों में पति-पत्नी संबंध एक प्रगाढ़ बंधन माना गया है परंतु भारतीय संस्कृति में पातिव्रत्य की जो उत्कृष्ट तथा उदात्त कल्पना की गयी है वह संसार की अद्वितीय और भारतवर्ष की एक परम पवित्र एवं महती निधि है। वेदों में पति-पत्नी का संबंध समानता का है जिसमें

२० म० भा०, आदि पर्व ७४.५१
२१ म० भा०, शांति पर्व ५७, ४४.४५
२२ आप० ध० सू० १.९.१८
२३ मनु० ९.१०१

एक ही आत्म-तत्व के दोनों आधे-आधे अंग माने गये हैं। स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी, सहचरी और सहधर्मचारिणी है। पुरुष को स्त्री के शास्ता अथवा प्रभु के रूप में नहीं दर्शाया गया है, अपितु धार्मिक जीवन-पथ के दोनों एक दूसरे के सहयोगी और पूरक माने गये हैं। वास्तव में न केवल धार्मिक जीवन-पथ की अपितु सकल जीवन की पूर्णता का आधार उनका पारस्परिक निष्कपट, हार्दिक तथा सतत प्रेम एवं सहकारिता है। पति-पत्नी अभिन्न हृदय सखा हैं जैसा कि हम ऋग्वेद के एक मंत्र में पाते हैं। पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर वर-वधू इस मंत्र के द्वारा सम्मिलित प्रार्थना करते हैं कि विश्व के देवता, जल देवता हमारे हृदयों को जोड़ें, मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री हम दोनों को एक दूसरे से बाँध दें।[२४]

वेद में दाम्पत्य संबंध का जो यह मधुर आदर्श स्थापित हुआ उसे अपने विशालकालीन इतिहास में भारतीय संस्कृति ने अक्षुण्ण ही नहीं रखा, वरन् उसे विशद तथा विस्तृत भी किया और नारी के गौरवपूर्ण स्थान में क्षति न आने दी। इस आदर्श के मौलिक स्वरूप को विकृत किये बिना अवरकाल में परिवर्तन भी हुए परन्तु उनसे नारी की महत्ता घटने के स्थान में और चमत्कृत हुई। यह परिवर्तन पातिव्रत्य धर्म की प्रतिष्ठा और पतिव्रताओं के माहात्म्य में परिलक्षित हुआ और यह भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। पतिव्रताएँ हमारे यहाँ आदर ही नहीं, श्रद्धा तथा पूज्य भाव की पात्र समझी गयीं, उनसे नारी जाति को प्रेरणा मिलती आ रही है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उनके शुभ्र चरित्र से पुरुषों को भी चरित्र-सुधार की प्रेरणा मिलती रही है।

कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों ने पातिव्रत्य के माहात्म्य पर अनावश्यक बल देकर नारी के वेदोक्त गौरवपूर्ण स्थान को हटा दिया। उनके इस कथन का कारण यह है कि वेदों में जो स्वतंत्रता स्त्रियों को प्राप्त थी उससे पातिव्रत्य की महिमा वृद्धि ने नारी को वंचित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि जिस स्वाभाविक स्वतंत्रता के साथ वैदिक नारी विचरण कर सकती थी उत्तरवर्ती काल में वह उसे सुलभ नहीं रह गयी। परन्तु यह मत सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं कि इसका कारण पातिव्रत्य धर्म के महत्व की वृद्धि है। यदि कुछ पुरुषों ने पातिव्रत्य का यह अनुचित तात्पर्य लगा लिया कि वे जैसे चाहें बरतें, उनकी सेवा में जीवन खपाना ही स्त्रियों का कर्तव्य है तो इसमें पातिव्रत्य की मान्यता पर आक्षेप के लिए आधार नहीं है।

---

२४ ऋ० १०.८५.४७

पातिव्रत्य की उदात्त कल्पना का आधार वेद में उपलब्ध है और पश्चाद्वर्ती संस्कृति में वह नये सिरे से नहीं गढ़ी गयी। विवाह-प्रक्रिया में वधू के दाहिने कंधे पर से हाथ ले जाकर वर उसके हृदय को स्पर्श करता और उसको संबोधित करता हुआ कहता है कि 'अपने व्रत में तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ, तुम्हारा चित्त अथवा हृदय मेरे चित्त का अनुसरण करे, मेरे वचनों में तुम्हारा एकमन हो, प्रजापति मेरे प्रति तुम्हें नियोजित करें', ऋग्वेद के इस विधान में पातिव्रत्य धर्म का आधार स्पष्ट रूप से वर्तमान है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में जिसमें वधू को उद्दिष्ट करके यह कहा गया है 'तुम उसका मन और इच्छा हो, और वह भी तुम्हारे लिए कल्याण कारी हो'[1] जहाँ पत्नी को पति के मन और इच्छाओं का अनुगमन करने का आदेश है पति के लिए भी पत्नी के कल्याण पर ध्यान रखने की शिक्षा दी गयी है। यही पत्नीव्रत का आधार है। निश्चय ही इन मंत्रों में पातिव्रत्य बीज रूप से निहित है।

वेदोत्तर साहित्य में इस धर्म का आदर्श अधिक विस्तार के साथ दिखलाया गया और पतिव्रताओं के सामाजिक स्थान को भी पूर्वापेक्षा अधिक महत्व मिला। यह आदर्श त्याग, उत्सर्ग और निरहंकार की दृढ़ शिला पर प्रतिष्ठित हुआ। पातिव्रत्य की उदात्त भावना को तत्वतः समझने के लिए इस दृष्टि-कोण को सामने रखना होगा। स्वसुख के प्रति न केवल निरपेक्षता उसका परित्याग, पति के सुख में सुखानुभूति, उसके कष्टों और दुःखों को अपना मानना, पति की इच्छा और अपनी कामनाओं में अपनी कामनाओं का लय कर देना, वह किसी परिस्थिति में हो उसका साथ देना, उसका अनुगमन तथा सब प्रकार उसकी सेवा करना, यहाँ तक कि पर पुरुष की कौन कहे पति की तुलना में देवताओं तक को नगण्य मानना और उसे परम दैवत मानकर अपनी भावनाओं को चरित्र में उतारना पतिव्रता के प्रधान लक्षण माने गये हैं।

मनुस्मृति के अनुसार पतिव्रता का यह लक्षण है कि 'जो स्त्री मन, वचन और शरीर को अपने वश में रखकर पति के प्रतिकूल आचरण नहीं करती, वह परलोक में पतिलोक प्राप्त करती है और इस संसार में साधु पुरुष उसे साध्वी कहते हैं; मनु ने सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि 'पति शीलरहित हो, कामी हो, गुणहीन हो तो भी साध्वी स्त्री को उसकी सेवा देववत् करनी चाहिए। पति की सेवा द्वारा स्त्री को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उसे पति से पृथक् यज्ञ, व्रत, उपवास इत्यादि करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो स्त्री पतिलोक

---

२५ ऋ० १०.१०.१४

की इच्छा रखती है उसे पति का अप्रिय कदापि नहीं करना चाहिए, न केवल उसके जीवन पर्यन्त, उसके निधन हो जानेपर भी। पति के मर जाने पर उसकी विधवा को पुरुष की कल्पना तक नहीं करनी चाहिए, फल, फूल, मूल इत्यादि पर शेष जीवन व्यतीत करके शरीर को सुखा देना पड़े तो इसकी चिंता नहीं।[२६] आदर्श साध्वी अर्थात् पतिव्रता स्त्री के लिए मनु द्वारा निर्दिष्ट इसी सिद्धांत का प्रतिपादन याज्ञवल्क्य इत्यादि अन्य स्मृतियों, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और अनेक पुराणों में अनेक स्थलों पर मिलता है। महाभारत का एक ही वचन पर्याप्त होगा जो यह निर्वचन करता है कि स्त्री के लिए पृथक् यज्ञ-क्रिया, श्राद्ध, उपवास आदि की नितान्त आवश्यकता नहीं है और सच्चे मन से पति की सेवा ही उसका परम धर्म है जिसके पालन से वह स्वर्ग पर विजय पाती है।[२७]

महाभारत, स्मृतियों और पुराणों में प्रशंसित पातिव्रत्य के महत्व को रामायण के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने करोड़ों घरों में पहुँचाया है। उनकी पातिव्रत्य की कल्पना निम्नांकित पदों में व्यक्त हुई है जिन्हें अनुसूया ने सीता को सुनाया था और जो भारतीय परंपरा के सच्चे प्रतीक हैं :

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखियहिं चारी॥
वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं। वेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहुँ अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सन परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥[२८]

---

२६ मनु० ५,१५४–१५७
२७ म० भा०, अनुशासन पर्व ४६.१३
२८ रा०, अरण्य कांड

पातिव्रत्य का यह आदर्श जितना ही ऊँचा है वैसा ही कष्टसाध्य भी है। वह ऐसी असिधार है जिस पर चलना असाधारण देवियों का ही काम है। इसीसे भारतीय संस्कृति ने जहाँ ऋषियों और महात्माओं की पूजा-प्रतिष्ठा की, पतिव्रता का स्तुतिगान भी मुक्तकण्ठ से की है। महाभारत में कहा गया है कि 'प्रतिव्रता में स्वयं श्री का वास होता है'। श्री अपने मुख से कहती हैं कि मैं उन स्त्रियों में वास करती हूँ जो पातिव्रत्य का पालन करती हैं। उनका आचरण कल्याणकारी और शुभदायक होता है।[२९] इस प्रकार की देवियों के सम्बन्ध में प्रशंसा वाक्यों के अतिरिक्त समस्त भारतीय वाङ्मय में विपरीत वचन ढूँढ़े भी न मिलेंगे। निःसंदेह नभोमंडल के नक्षत्र और तारागण रात्रि में ही किरण छिटकाते हैं, किन्तु साध्वी स्त्रियों के उज्ज्वल चरित्र की ज्याति अहर्निशि त्रिलोक को आलोकित करती है और वह न केवल स्त्री जाति के वरन् भूले भटके पुरुषों के मार्ग का अंधकार भी दूर करती है। आर्य धर्मेतर मनीषियों ने भी हिन्दू नारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसके लिए अमीर खुसरो की यह कविता पर्याप्त होगी।

नये कमजाँ जने हिन्दी दरीं कूए।
के खुद रा ज़िंदा सोजद अंज पए शूए॥

अर्थात् प्रेम मार्ग में हिन्दू स्त्री की तुलना कोई नहीं कर सकता जो मृत पति के साथ अपने शरीर को जला देती हैं।

पतिव्रताओं के दो भेद किये जा सकते हैं। कुछ पतिव्रताएँ ऐसी हुई हैं जिन्होंने विवाह के पूर्व किसी को मन से पतिरूप में वरण कर लिया, तदनन्तर उसके सिवा अन्य किसी के साथ, चाहे वह संकल्पित वर से कितना ही श्रेष्ठ हो अथवा अपने संकल्प के पति के साथ घोरतम आपदाओं को झेलने की सम्भावना हो, विवाह का नाम नहीं लेती थीं। यदि किसी कारणवश वह पति-रूप में न मिल सका तो ऐसी नारी विभूतियाँ आजन्म ब्रह्मचारिणी रह जाती थीं। दूसरे प्रकार की पतिव्रताएँ विवाहोपरान्त पातिव्रत्य धर्म का सम्यक् रूप से पालन करके एक महान् आदर्श स्थापित करती थीं। ऊपर इस धर्म की दुःसाध्यता का संकेत किया गया है। ऐसा होते हुए भी उन पतिव्रताओं की संख्या अनन्त है जिन्होंने अपने विशुद्ध शीलवृत्त की रक्षा में जीवन खपा दिए और हम उनके नाम तक नहीं जानते। यहाँ इतिहास में प्रख्यात कतिपय साध्वियों के संक्षिप्त विवरण उपस्थित किये जाएँगे जिन में पतिव्रता के दोनों प्रकार के उदाहरण मिलेंगे।

---

२९ म० भा०, अनुशासन पर्व ११-१४

पार्वती

सर्वप्रथम पार्वती को लीजिये जिनके विषय में गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

पति देवता सुतीय महुं, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेप ॥

गोस्वामीजी के इस कथन का महत्व समझने के लिए पार्वती के चरित्र पर दृष्टि डालनी होगी। पूर्वजन्मार्जित संस्कार से प्रभावित होकर पार्वती ने बाल्यावस्था में ही महादेव को पतिरूप में पाने का संकल्प कर लिया और घोर तपस्या का समारंभ कर दिया। सप्तर्षियों ने उनके प्रेम की कड़ी परीक्षा ली और महादेव को अशुभवेष और अवगुणनिधान बतला कर उनके स्थान में अनेक विभूतियों और सर्वगुणों से सम्पन्न विष्णु को पति बनाने के लिए पार्वती को बहुतेरा लुभाया ललचाया। परन्तु पार्वती ने उनका यथोचित सत्कार करते हुए उन्हें अपने मन का निश्चय सुना कर पातिव्रत्य धर्म की एक सनातन लीक स्थापित की। उनके निम्नलिखित वचन पातिव्रत्य धर्म के साहित्य गगन में सदा गूँजते रहेंगे :

महादेव अवगुन भवन विष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेहि सन काम ॥
अब मैं जनमु सम्भु हित हारा। को गुन दूपन करैं विचारा।
जन्म कोटि लगि रगर हमारी। वरउँ सम्भु न तु रहउँ कुमारी ॥
(रा० च० मा०, बालकाण्ड)

पार्वती के दृढ़ व्रत को देखकर उनके लिए मुनियों के भी उनके सम्मुख मस्तक झुक गए। इसके अनंतर महादेव ने जब कामदेव को जला दिया सप्तर्षियों ने एक बार फिर अपनी एक भेंट में पार्वती की परीक्षा ली। वे बोले, 'लो, महादेव ने तो काम ही को भस्म कर दिया।' पार्वती जी ने जो उत्तर दिया वह भारतीय संस्कृति के इस आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है कि विवाह का प्रयोजन काम की तृप्ति नहीं है। वे कहती हैं—

तुम्हरे जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा ॥
हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥
(रा० च० मा०, बालकाण्ड)

सावित्री

सावित्री भी एक अद्भुत अटल संकल्प की नारी विभूति है। वह मद्र-नरेश अश्वपति की कन्या थी जिसका तेजस् इतना प्रकाशमान था कि उसे देख कर किसी राजकुमार को उससे विवाह करने का साहस नहीं हुआ। इससे अश्वपति ने स्वाभाविक संकोच का त्याग कर सावित्री से स्वयं अपने अनुकूल वर ढूँढ़ लेने का अनुरोध किया। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर संरक्षकों के साथ वह अपने अनुरूप वर को पाने के लिए अज्ञात संसार में निकल पड़ी। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में वर खोजते खोजते अंत में वह राजर्षि द्युमत्सेन के आश्रम में जा निकली जहाँ उसकी दृष्टि राजकुमार सत्यवान पर अटक गयी।

द्युमत्सेन शाल्व देश के राजा थे जिन्हें उनके किसी पुराने वैरी ने हराकर निर्वासित कर दिया था; वे वृद्ध थे और अन्धे भी हो गए थे और अपनी स्त्री तथा पुत्र के साथ आश्रम बनाकर वनवास कर रहे थे। राज्यकुल में पली हुई सावित्री जहाँ तेजस्विता की मूर्ति थी सत्यवान भी तेजःपुंज से प्रकाशमान था। सत्य ही कहा गया है कि गुण गुण को खींचता है। जिस सावित्री को आज तक उपयुक्त वर नहीं मिला था उसने सत्यवान को देखते ही उसे मन से पति चुन लिया। अपने मनोगत भावों को अव्यक्त रखकर पिता के पास लौटकर उसने उनकी अनुज्ञा माँगी। अश्वपति ने भी प्रसन्नतापूर्वक सत्यवान के साथ सावित्री के विवाह का अनुमोदन कर दिया। इसी अवसर पर वहाँ पहुँच कर नारद ने इस विवाह से पराङ्मुख करने के लिए सावित्री को यह कह कर बहकाया कि सत्यवान की जीवनावधि वर्ष मात्र है। परंतु सावित्री पर्वत के सदृश अपने संकल्प पर अचल रही। उसने अभूत-पूर्व धैर्य के साथ उत्तर दिया कि 'बँटवारे में किसी का अंश एक ही बार गिरता है, कन्या एक ही बार दी जाती है, एक ही बार कहा जाता है 'दूँगा', यह सब बातें एक ही बार होती हैं। वह दीर्घायु हैं अथवा अल्पायु, गुणवान हैं अथवा गुणहीन, मैंने एक बार उन्हें भर्तारूप में वरण कर लिया, अब दूसरे को न चुनूँगी। पहले मन में निश्चय किया जाता है और इसी निश्चय को वचनों में प्रकट किया जाता है और इसके पश्चात् इसे कर्म का रूप दिया जाता है। इसलिए मेरे लिए मन का संकल्प ही प्रमाण है'[३०] सावित्री का यह कथन पाति-व्रत्य धर्म का नवनीत तथा हमारी संस्कृति के अनेक आचार और विधानों का आधार है। महाभारत में उल्लिखित सावित्री का यह कथन मनुस्मृति में भी पाया

३० म० भा०, वनपर्व २९४.२६.२

जाता है और यदि यह वचन पहले-पहल सावित्री के मुख से निकले हों तो इससे उसका महत्व बहुत बढ़ जाता है।

विवाहोपरांत सावित्री विधवा हो जायगी, इस विभीषिका से वह अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से न हटी और अश्वपति ने उसके दृढ़ निश्चय को देखकर उसका पाणिग्रहण संस्कार सत्यवान के साथ कर दिया। पातिव्रत्य के अनुसार उसने पहला काम यह किया कि राजसी वस्त्रों और अलंकारों का परित्याग कर सत्यवान के वेशभूषा के अनुरूप वल्कल और काषाय धारण कर तपस्विनी का रूप स्वीकार किया और सास-ससुर तथा पति की सेवा दत्तचित्त हो करने लगी। सत्यवान की मृत्यु की नियत तिथि से चार दिन पहले उसने कठोर 'त्रिरात्रि व्रत' का अनुष्ठान किया और अपनी बुद्धिमत्ता तथा पातिव्रत्य के प्रभाव से यमराज को प्रभावित कर उनके मृत्युपाश से सत्यवान को मुक्त करा लिया। इसीलिए सौभाग्यकांक्षिणी स्त्रियाँ आज भी सावित्री के नाम पर त्रिरात्रि अथवा वटसावित्री व्रत रहती हैं और वृद्धजन बालिकाओं को 'सावित्री भव' आशीर्वाद द्वारा पर्याय से सावित्री का यशोगान करते हैं। कहते हैं कि सावित्री के तपोनिष्ठ पातिव्रत्य के प्रभाव से उसके पुत्रहीन पिता सौ पुत्रों से पुत्रवान हुए और चक्षुविहीन ससुर की आँखें लौट आयीं और अपना खोया हुआ राज्य जीत लेने में वे समर्थ हुए।

दमयंती

असाधारण पतिव्रताओं में दमयंती का स्मरण बड़े आदर के साथ किया जाता है। उसका संक्षिप्त चरित्र वर्णन ही उसके पातिव्रत्य की समुचित समीक्षा होगी। भारती युद्ध के बहुत पहले की बात है कि निषध के राजा वीरसेन के पुत्र नल पुरुषों में और विदर्भ नरेश भीम की राजकन्या दमयंती स्त्रियों में सौंदर्य की मूर्ति समझे जाते थे। दोनों के अप्रतिम सौंदर्य की ख्याति एक दूसरे के कानों में पड़ गयी और दोनों एक दूसरे के प्रेम के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित तथा विह्वल रहने लगे। चिन्ता से दमयंती क्रमशः क्षीणकाय होने लगी जिसका कारण जानकर उसके पिता ने स्वयंवर की घोषणा कर दी। मनुष्यों की बात ही क्या, उसके लिए कई बड़े देवता—इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—भी चंचल हो उठे। परन्तु दमयंती ने स्वयम्वर के पूर्व ही नल को पतिरूप में वरण कर लिया था। यह जान कर इन देवताओं ने एक चाल चली। उन्होंने परस्पर अभिसन्धि करके नल का रूप बनाया और स्वयम्वर मंडप में राजन्यवर्ग में घुल-मिल कर आसन जमाया। दमयंती को नल ही को

वरण करना था। उसके लिए स्वयम्वर एक आडंबर था। परन्तु पाँच नलों को देखकर वह बड़े असमंजस और असाधारण उलझन में पड़ गयी। उसे यह आभास मिल गया था कि इन्द्र आदि देवता उसे छलना चाहते हैं। उसका संकल्प शुद्ध और सत्य था, इस विश्वास के बल पर उसने अपनी सहायता के लिए मन में सत्यदेव की आराधना की और जैसा उसने अपने शिक्षकों से सुन रखा था कि देवताओं के कुछ गुह्य लक्षण होते हैं उन्हें देखकर असली नल के गले में जयमाल डाल दी। इन बड़े देवताओं को तृणवत् मानकर नल को वरण करने में अपने संकल्प की प्रथम परीक्षा में दमयंती पूरे तौर पर खरी निकली।

नल-दमयंती का दाम्पत्य सुखपूर्वक आरम्भ हुआ और उन्हें इन्द्रसेन नाम का एक पुत्र और इन्द्रसेना नाम की कन्या की उत्पत्ति से प्रजावान होने का सुख भी प्राप्त हो गया। किन्तु दोनों की धर्म-परीक्षा का विकट अवसर आते देर न लगी। नल वेदविद् और धर्मात्मा होने के साथ ही सदा प्रजा के कल्याण की चिंता करते रहते थे परन्तु उनमें एक दुर्गुण द्यूत व्यसन का था जिसके कारण वे अपने भाई पुष्कर की ललकार पर उसके साथ जुआ खेलने में प्रवृत्त हुए। पुष्कर एक अत्यन्त चालबाज जुआड़ी था और उसके साथ खेल में नल नित्य हारने लगे और मंत्रियों तथा प्रजा के प्रतिनिधियों के बहुत समझाने पर भी खेल को बन्द नहीं किया। उन लोगों के आग्रह पर दमयंती भी बीच में पड़ी किन्तु उसके सारे प्रयत्न नल के द्यूत के उन्माद से टकरा कर चूर-चूर हो गए। उसने भविष्य को अंधकारमय देखा और विपत्ति को आसन्न समझ कर इन्द्रसेन और इन्द्रसेना को अपनी माता के पास भेज दिया और अन्तिम घड़ी तक नल को जुए से विमुख करने का प्रयास करती रही।

परन्तु हुआ वही जिसके कारण वैदिक युग से अद्यावधि विचारवान पुरुष द्यूत की निन्दा करते आ रहे हैं। नल पुष्कर के दाँव पर अपना सारा राज्य हार गए और उन्हें एक धोती मात्र पहने हुए वेश में पुष्कर ने राज्य से निर्वासित कर दिया। पतिपरायणा दमयंती ने भी केवल एक साड़ी से अपना तन ढक कर उनका अनुगमन किया। पुष्कर ने नीचता की हद करके सारे राज्य में घोषणा कर दी कि जो नल को अपने यहाँ एक रात भी ठहरने देगा उसे प्राण-दण्ड दिया जायगा। कैसा था नागरिकों का यह निर्जीवपन कि अपने कल के लोकप्रिय राजा को भय के कारण तनिक-सा आश्रय देने का साहस न कर सके! नल और दमयंती राजधानी के बाहर तीन रात-दिन केवल जल पर व्यतीत कर शून्य संसार में निकल पड़े। एक दिन भूख से तड़पते हुए नल ने

कोंतवार[३१] में अपने समीप उड़ते हुए शकुनों पर अपनी धोती फेंक दी जिसे लिए हुए वे आकाश में उड़ गए। इस पर नल का मन अत्यंत डाँवाडोल हो गया और उन्होंने सोचा कि इस संकटकाल में यही श्रेयस्कर है कि दमयंती किसी प्रकार अपने पिता के यहाँ चली जाय। परन्तु दोनों के लिए इस बात को असहनीय समझने के कारण अपने मन के भाव को वे शब्दों में प्रकट न कर सके और संकेत से दिखाया कि दक्षिण को जाने के कई मार्ग हैं, यह मार्ग ऋक्षवान पर्वत होता हुआ अवंती को जाता है। विन्ध्य पर्वत और पयोष्णी नदी की ओर भी उन्होंने अंगुलि-निर्देश किया और कहा कि महर्षियों के आश्रमों में फलमूल की बहुतायत है, विदर्भ और कोशल जाने के मार्ग ये हैं। इन बातों के संकेत को समझने में बुद्धिमती दमयंती को विलंब न लगा और कहने लगी कि 'मातृकुल में रहकर मैं सांसारिक सुख अवश्य पाऊँगी, पर मेरे बिना पतिदेव की कैसी दयनीय दशा होगी यह सोचते ही मेरा माथा ठनक जाता है। आपका राज्य हरा गया, धन-दौलत छिन गयी और आपके तन पर वस्त्र तक नहीं रह गए। क्लान्ति और क्षुधा के मारे आप तड़प रहे हैं। इस समय क्या मेरा यही कर्तव्य है कि निर्जन वन में आपको अपने सुख के लिए अकेला छोड़ जाऊँ। इस आपत् काल में मेरा कर्तव्य यही है कि जब थके-मांदे भूख से तड़पते हुए आप राज्यश्री का स्मरण करने लगें मैं आपके कष्टों को दूर करने में थोड़ी सहायता कर सकूँ, क्योंकि मैं समझती हूँ कि सब प्रकार के दुःखों में भार्या के समान दूसरी ओषधि नहीं है'। दमयंती के इन शब्दों ने नल के हृदय-स्तल को स्पर्श किया और उन्होंने अपनी अनुगामिनी स्त्री को यह कहकर आश्वस्त करना चाहा कि उनका विचार उसे त्यागने का नहीं था। परन्तु दमयंती के हृदय से यह बात न हटी कि नल ने उसे विदर्भ जाने के मार्ग का संकेत क्यों किया। नल के तात्पर्य को समझ कर उसने यह प्रस्ताव किया कि वे दोनों कुण्डिनपुर[३२] में जाकर कुछ दिनों तक भाग्योदय की प्रतीक्षा करें परन्तु आत्मगौरव के अभिमानी नल ने इस प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकार किया कि उन्हें ऐसी परिस्थिति में ससुराल में रहते देखकर स्वयं दमयंती को नित्य व्यथा और ग्लानि होती रहेगी।

---

३१ जिस स्थान से नल ने दमयंती को उसके नैहर विदर्भ तथा दूसरे मार्गों का संकेत किया उसे डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने डॉक्टर मोतीचन्द के 'सार्थवाह' की भूमिका में ग्वालियर जनपद के कोंतवार (चम्बल-बेतवा के बीच) को बतलाया है।

३२ विदर्भ की राजधानी

किन्तु नल अवसर की ताक में लगे रहे। एक दिन भूख और प्यास के मारे हुए दमयंती के साथ वे किसी 'सभा' के[33] समीप रात में लेट गये। दमयंती प्रगाढ़ निद्रा में विलीन हो गयी, किन्तु चिन्ताकुल नल की पलक पलक से न लगी। सभा भवन के किनारे चक्कर काटते हुए अकस्मात् उनके हाथ एक खड्ग लग गयी जिससे उन्होंने दमयंती की साड़ी में से एक टुकड़ा कतर कर अपना तन ढका और यह सोचकर कि दमयंती अपने को अकेली पाकर निर्दिष्ट मार्ग से अपने पिता के घर चली जायेगी कलेजे पर हाथ रखकर घने अंधकार में अंतर्धान हो गए।

दमयंती की नींद टूटी तो उसके बदन में काटो तो रक्त नहीं। उस समय की उसकी कारुणिक अवस्था अवर्णनीय थी। इस महासंकट में भी उसे अपनी चिंता न थी पर पतिदेव के भावी कष्टों का मन में चित्र खींचकर विह्वल हो गयी और महाभारत के कथनानुसार उसकी व्यथा शब्दों में इस प्रकार प्रस्फुटित होकर बोल उठी—'न मुझे अपनी चिंता है न दूसरी किसी बात की। राजन्! आपकी क्या दशा होगी, मेरे लिए यही बड़ा सन्ताप है। हाय! आप भूखे होंगे, प्यासे होंगे और थकावट से चूर-चूर होंगे, वृक्षों के नीचे जब आप मुझे न देखेंगे आपकी क्या दशा होगी', इस भाँति विलाप करती हुई दमयंती इतस्ततः भटकने लगी। चिन्ताग्रस्त होने के कारण उसकी आँखों पर पर्दा पड़ गया था और वह एक भयंकर अजगर के पाश में फँस गयी। उसकी चीत्कार सुनकर एक व्याध झट वहाँ पहुँच गया और उसने अपने शस्त्र से अजगर का मुँह काट कर दमयंती की प्राण रक्षा की। किन्तु यह व्याध अजगर से भी बढ़कर क्रूर और भयंकर निकला। एक विपत्ति टली तो दूसरी महाविपत्ति ने दमयंती का पीछा किया। व्याध उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसके सतीत्व के हरण पर उतारू हो गया। रक्षा का कोई उपाय न देखकर दमयंती ने अपने चरित्रबल की बाज़ी लगा दी और अपनी अन्तरात्मा की साक्षी देकर कहा कि 'यदि नल के सिवा अन्य किसी का मेरे मन में ध्यान भी आया हो तो यह पापी व्याध प्राणहीन होकर पृथ्वी पर लेट जाय।'[34] महाभारत का वर्णन है कि दमयंती के मुख से इन शब्दों का निकलना था कि व्याध के प्राण जाते रहे और वह पृथ्वी पर गिर पड़ा।

---

३३ संभवतः यात्रियों के पथों पर बने विश्रामालय को महाभारत में इस कथानक के प्रसंग में 'सभा' कहा गया है। वे धर्मशाला अथवा सराय के काम देते रहे होंगे।

३४ म० भा०, वन पर्व ६३.३९

इस संकट से बचकर दमयन्ती वन में भटकती रही। इस बीच उसने भयंकर से भयंकर सिंह और शार्दूल, बनैले हाथी और शूकर, भालू और वृक् इत्यादि तरह-तरह के हिंस्र जन्तुओं के दिल दहलाने वाले शब्द सुने किन्तु इनसे उसे कोई भय उत्पन्न नहीं हुआ। प्रकृति मात्र में उसे जीवन दिखायी दिए और नदी नालों, झाड़ी झंखाड़ों, लता और वृक्षों से पूछने लगी, 'क्या तुमने नल को देखा है ?" कभी वह नल के गुणों की प्रशंसा करती और कभी फूट-फूट कर रोने लगती। जब होश आता तो वह नल को उलाहना देती कि तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक शरीर में प्राण रहेंगे, तुम्हारा होकर रहूँगा। इस प्रतिज्ञा को सत्य क्यों नहीं करते ? क्या, सत्य की इस महिमा को भूल गए कि यदि विस्तारपूर्वक सांगोपांग चारों वेदों का स्वाध्याय एक ओर रखा जाय तो उसकी समता सत्य पालन के बराबर हो सकती है।[३५]

इस प्रकार नल की खोज में आधी साड़ी से तन ढके, सिर पर लम्बे-लम्बे बाल बिखराए, रोती-बिलखती भयावनी मूर्ति लिए दमयंती को अकस्मात् सार्थवाह के नेतृत्व में व्यापारियों का एक झुंड मिल गया। किसी सरोवर के तीर पर उस कारवाँ ने डेरा डाल दिया और अंधेरी रात में वे लोग बेखबर सो गए। वन्य हाथियों के एक समूह ने उन पर आक्रमण करके उन्हें पिसल डाला। जो बच रहे, उनमें से कुछ ने दमयंती को पिशाचिनी कहकर मार डालना चाहा किन्तु उनमें एकाध साधु स्वभाव के वेदज्ञ भी थे जिन्होंने उसे अपने साथ हो लेने दिया और वह चेदिराज सुबाहु की राजधानी में जा लगी। उसकी आर्त दशा में बालकवृन्द उसे खदेड़ने और तंग करने लगे। इसी बीच राजप्रासाद के शिखर से राजमाता की दृष्टि दमयंती पर पड़ गयी और उस पर तरस खाकर उन्होंने उसे अपने पास बुलवा लिया। उस देवी ने इस दुःखिता पर सहानुभूति और प्रेम-वारि की वर्षा की और इसे अपनी कन्या सुनन्दा की सखी बनाकर बड़े प्रेम तथा सत्कार के साथ अन्तःपुर में आश्रय दिया।

उधर नल और दमयन्ती की खोज के लिए भीम ने चारों दिशाओं में चर भेज रखे थे। उनमें से एक ब्राह्मण दूत ने चेदि की राजधानी में पहुँचकर दमयंती को पहचान लिया। इसी प्रसंग में दमयंती को यह भी पता चला कि राजमाता उसकी सगी मौसी है। उसके आग्रह पर उन्होंने दमयंती को सम्मान-

---

३५ म० भा०, वन पर्व ६४.१७

पूर्वक उसके मायके भेज दिया। अपने बेटे-बेटी को पाकर उसे थोड़ी शांति तो मिली परन्तु नल के वियोग में उसे एक दिन युग के समान लगने लगा। मातृकुल में भी उसने भौतिक सुखों का परित्याग करके एक तपस्विनी की तरह रहना स्वीकार किया और उसके अनुरोध पर नल की तलाश और अधिक तत्परता से होने लगी।

दमयंती से विछोह होने पर जंगलों की खाक छानते हुए नल अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ जाकर बाहुक नाम से सारथी का काम करने लगे थे। इस समय उनका रूप सर्वथा बदल गया था और दमयंती की चिंता में वे रात दिन व्याकुल रहते थे। खोज करते करते भीम के चरों को यह पता लगा कि हो न हो बाहुक नाम का सारथी नल ही है। उन्हें पाने का एकमात्र उपाय दमयंती के स्वयंवर का बहाना बनाकर भीम ने ऋतुपर्ण के यहाँ उसका संवाद भेजा। कारण यह था कि रथ चलाने में नल अद्वितीय थे और स्वयंवर के लिए केवल चौबीस घंटे का अवसर मिलता था, और इतने अल्प समय में केवल नल एक ऐसे सारथी थे जिनकी सहायता से ऋतुपर्ण अयोध्या से विदर्भ पहुँच सकते थे। हुआ भी ऐसा ही। यहाँ पर दमयंती के चातुर्य और उसकी माता और पिता के अनुमोदन पर नल की उससे अवरोध-गृह में सुखद भेंट हुई। भाग्य ने पलटा खाया और अपने राज्य में लौटकर नल ने पुष्कर को द्यूतक्रीड़ा में बुरी तरह हराकर अपना ही राज्य नहीं, उसका भी जीत लिया; किन्तु उसे उसका राज्य लौटाकर नल ने अपने चरित्र की महानता प्रकट की।

सुकन्या

इक्ष्वाकु वंशी शर्याति की सुकन्या नाम की पुत्री सौंदर्य की साक्षात् मूर्ति थी। इस महान् गुण के साथ ही उसमें लोक-कल्याण की भावना कूट-कूट कर भरी थी जिसके सामने वह अपने सुख की कुछ भी परवाह नहीं करती थी। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण उसके विवाह के प्रसंग में मिला जो स्वयं एक विलक्षण परिस्थिति के कारण उपस्थित हुआ।

राजधानी अयोध्या से थोड़ी दूर पर एक सुन्दर वन था जिसमें एक अत्यन्त रमणीय सरोवर था। इधर-उधर रमते हुए किसी समय महर्षि च्यवन वहाँ पहुँच गये और अखंड समाधि जमा दी। अत्यन्त ध्यानावस्थित होने के कारण उनकी समाधि इतने लम्बे समय तक लगी कि उनके सारे शरीर पर विमौट जम गयी। ऊपर से देखनेवाले को विमौट के अतिरिक्त उसके अंतराल में किसी प्राणधारी का आभास मिलना अत्यन्त कठिन था। उस विमौट में

मनुष्य की आँखों की जगह दो पदार्थ चमक रहे थे जो विलक्षण थे और बहुत ध्यान से देखकर कोई अत्यन्त सयाना ही उनके आँख होने का अनुमान कर सकता।

एक दिन सखी सहेलियों के साथ क्रीड़ा करती हुई सुकन्या बिमौट के सन्निकट पहुँच गयी और उसकी दृष्टि चमकते हुए उन पदार्थों पर पड़ गयी। उसे बड़ा कुतूहल हुआ और बाल चपलता से उसने मुनि की आँखों में काँटे चुभा दिए जिससे रक्त निकलने लगा और मुनि की आँखें जाती रहीं। उनका ध्यान छूट गया और उन्हें तीव्र वेदना होने लगी। तथापि मुनि ने मनोनिग्रह रखा और क्रोध नहीं प्रकट किया। किन्तु इस अनर्थ का परिणाम राजा और उसकी प्रजा के लिए बहुत बुरा हुआ। तत्क्षण मनुष्यों के ही नहीं, हाथी, घोड़े इत्यादि पशुओं तक की मूत्र पुरीष इत्यादि प्राकृतिक क्रियाएँ बन्द हो गयीं और उनके प्राण संकट में पड़ गए। इसे अपने राज्य में किसी बड़े पाप का परिपाक समझ कर शर्याति ने पता लगाया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि च्यवन की आँखें फूट गयी हैं, पर यह हुआ कैसे लाख प्रयत्न करने पर भी वे इसका कारण न जान सके। उनकी तथा प्रजा की यह दयनीय दशा देखकर सुकन्या ने कुतूहल-वश काँटा चुभाने की बात शर्याति पर प्रकट कर दी।

शर्याति ने महर्षि के पास जाकर अत्यन्त विनीत भाव से जो अपराध अज्ञानता से हो गया था उसके लिए क्षमा की प्रार्थना की। मुनि को सब बातें सुनकर उन लोगों पर बड़ी दया आयी और कहा कि 'न तो मैंने किसी पर क्रोध किया और न किसी को शाप ही दिया है तथापि मेरे आशीर्वाद से तुम लोगों का कल्याण होगा। हाँ, मैं यह अवश्य चाहूँगा कि जिस कन्या के कारण मेरी आँखें गयीं और सारे उपद्रव खड़े हुए उसे मुझे भार्या रूप में दे दो। मुझ अन्धे के लिए एक सहारा तो चाहिए ही'। राजा अत्यन्त असमंजस में पड़ गया क्योंकि एक ओर मनुष्यों की कौन कहे, पशु तक कष्ट के मारे त्राहि-त्राहि कर रहे थे दूसरी ओर शर्याति को यह बात अत्यन्त दुःखदायी तथा पाप-पूर्ण लगी कि राजसुख में पली हुई कन्या एक निर्धन, वृद्ध और अंधे के हाथ में सदा के लिए डाल दी जाय। मुनि को कुछ भी उत्तर न देकर राजा दबे पाँव लौट गया। परन्तु सुकन्या का हृदय बड़ा विशाल था। वह जनता के दुःख से अत्यन्त द्रवीभूत थी। उसने उसी क्षण अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। सांसारिक सुखों को तृणवत् मानकर उसने महर्षि च्यवन की तपस्विनी पत्नी के रूप में पतिव्रताओं के कठोर पथ पर चलने का संकल्प कर लिया और उसकी दृढ़निष्ठा के कारण शर्याति ने विवश होकर सुकन्या का विवाह अंधे

च्यवन के साथ कर दिया। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि महर्षि च्यवन के साथ सुकन्या का विवाह वैदिक युग के अनुलोम विवाहों का एक प्राचीन दृष्टांत है।

जिस समय च्यवन के साथ सुकन्या का विवाह सम्पन्न हो गया, उसी समय उसने अपने जीवन को एक नयी मोड़ दे दी। अपने बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों को उतार कर उसने अपने स्तंभित पिता के चरणों पर रख दिए और एक मुनि पत्नी के उपयुक्त वल्कल से अपना शरीर ढँक लिया और अनन्य भाव से पति की सेवा सुश्रूषा में लग गयी। नेत्रहीन ऋषि ने इसी कार्य के लिए सुकन्या को माँगा भी था, क्योंकि उनकी सेवा का तात्पर्य किसी प्रकार की काम-वासना की तृप्ति न था वरन् वह था मात्र धर्म कार्य का संपादन। राजसुख में पली यह युवती मुनि की नित्य क्रिया कराती, ऋतुओं के अनुकूल शीत अथवा उष्ण जल से उनको नहलाती और संध्योपासना तथा अग्निहोत्र कराकर वन से ऋतुकालीन फलमूल लाकर नियत समय पर भोजन कराती थी। ग्रीष्म ऋतु में वह पति को पंखे झलती और जाड़े में ईंधन संग्रह कर अग्नि प्रज्वलित कर के उन्हें गर्मी पहुँचाती थी। मुनि के शयन के समय सुकन्या उनके पैर दबोटती तथा उनसे नाना प्रकार की पौराणिक कहानियाँ और वृत्तांत सुनकर अपने को धन्य और सुखी मानती थी।

इस प्रकार पतिसेवा में सुकन्या के बहुत दिन शीघ्रता के साथ ऐसे व्यतीत हुए कि इसका उसे कोई अनुभव भी नहीं हुआ। उसके पातिव्रत्य की परीक्षा का काल आया। घटना यों हुई कि एक दिन उस सरोवर में सुकन्या स्नान कर रही थी कि सौंदर्य की मूर्ति अश्विनी कुमारों ने वहाँ पहुँचकर सुकन्या से उसके प्रणय की याचना की। उसको उन्होंने अनेक प्रकार से अपने जाल में फाँसना चाहा, उसे अपने दिव्य स्वरूप का लोभ दिखाया, उसकी काम-वृत्ति को उद्दीपित करने का प्रयास किया और निर्लज्ज होकर यहाँ तक कह डाला कि अंधे तथा वृद्ध पति के पीछे वह अपने यौवन को वृथा न गँवाकर उनमें से जिसे चाहे अपना प्रेमी चुन ले। पहले तो सुकन्या ने अश्विनी कुमारों को उनके धर्म का स्मरण कराने का प्रयास किया और कहा कि देवयोनि में होने से उनका कर्तव्य धर्म मार्ग से विचलित होनेवालों को ठीक रास्ते पर लाना है न कि सन्मार्ग पर दृढ़ता के साथ चलने वालों को पथभ्रष्ट करना। परन्तु जब उसने देखा कि सीधी अंगुली घी नहीं निकलता, उसकी इच्छा से उसमें एक तेजस् प्रकट हुआ जिससे उसने अश्विनी कुमारों को धमकाया कि वे अपने होश में आयें अन्यथा वह उन्हें शाप देकर वहीं क्षार क्षार कर देगी।

सुकन्या की तेजस्विता ने तत्काल अपना प्रभाव दिखाया जिससे अश्विनी कुमार सावधान हो गए और सुकन्या के सतीत्व से प्रभावित होकर उन्होंने च्यवन की चिकित्सा का समारंभ कर दिया। कुछ ही दिनों में महर्षि की न केवल आँखें ही लौट आयीं, उनका बुढ़ापा भी न जाने कहाँ चला गया और उनका पूरा कायाकल्प हो गया। महर्षि ने इसके लिए अश्विनी कुमारों का बहुत बड़ा उपकार मानते हुए उसका वैसा ही प्रत्युपकार भी किया।

इस घटना के पहले अश्विनी कुमारों को यज्ञ में भाग नहीं मिलता था या यों समझा जाय कि वे देवताओं में अछूत थे। परन्तु जिस प्रकार महात्मा गांधी ने अस्पृश्यों को हरिजन बनाकर ऊपर उठा दिया, उसी प्रकार महर्षि च्यवन ने शर्याति से एक यज्ञ कराया जिसमें इन्द्र इत्यादि वरिष्ठ देवताओं के विरोध करने पर भी दूसरे देवताओं के बराबर ही अश्विनी कुमारों को भी भाग देने का अधिकारी बना दिया और तभी से अश्विनी कुमारों को यज्ञ में आवाहन करने की विधि प्रचलित हुई।

गांधारी

गांधारी गांधार (वर्तमान कंदहार) देश के राजा सुवल की कन्या थी। भीष्म पितामह ने जो इस प्रयत्न में रहते थे कि श्रेष्ठ कन्याएँ उनके कुल में आकर कुरुवंश की प्रतिष्ठा बढ़ाएँ गांधारी के रूप और गुण के विषय में पूरा पता लगाकर निश्चय कर लिया कि गांधारी को धृतराष्ट्र के लिए माँगा जाय। उन्होंने अपना प्रस्ताव राजा सुवल के पास भेज दिया। यह जानकर कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध हैं उनके साथ अपनी सुन्दरी कन्या का विवाह करने में सुवल पहले तो हिचके किन्तु महान् कुरुवंश से विवाह संबंध करने में अपने को गौरवान्वित समझ कर उन्होंने गान्धारी का विवाह धृतराष्ट्र के साथ कर दिया। जिस समय गांधारी ने सुना कि उसको एक अंधे की पत्नी होना है उसी क्षण उसने अपने अग्रिम जीवन की एक मर्यादा स्थापित कर ली। अपने पिता के यहाँ उसने वृद्धों से पतिव्रताओं के आख्यान सुन रखे थे और उसके मन में यह संस्कार जम गया था कि साध्वी स्त्री को किसी विषय में अपने पति से बढ़कर नहीं दिखायी पड़ना चाहिए। उसी समय उसने कपड़े के कई पर्त लगा कर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली और आमरण इसी प्रकार देखने में अन्धी बनी रही। जिस समय धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया गांधारी ने आँखों पर पट्टी बाँधे पैदल ही उनका अनुगमन किया। कोई कुशल कलाकार ही ऐसा चित्र निर्माण कर सकता है जिसमें कुंती के कंधे के सहारे गांधारी और गांधारी के

कंधे पर हाथ रखे अंधे धृतराष्ट्र संसार के मोह को त्याग कर मोक्ष के पथ पर चले जा रहे हैं। गांधारी के दुःसाध्य पातिव्रत्य धर्म के सम्बन्ध में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने उसकी प्रशंसा की। यह उसके सतीत्व का तेज ही था जिसके कारण भारती युद्ध के अन्त में उसके शाप की आशंका से पांडवों को उसके सामने जाने का साहस नहीं हो रहा था और तब श्री कृष्ण ने उसके पास पहले अकेले जाकर पांडवों के ऊपर कृपा की भिक्षा मांगी थी। उस प्रसंग में कृष्ण ने गांधारी के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया वे उसके प्रभाव और महत्व के परिचायक हैं। गांधारी को सम्बोधित करते हुए भगवान् कृष्ण के इस कथन में कि 'महाभाग्यशालिनि ! तू अपनी तपस्या की शक्ति से यदि चाहे तो अपने क्रोध के कारण रंजित रक्त नेत्रों से देख कर ही चर अचर के सहित सारी पृथ्वी को भस्म कर सकती है'[३६] गांधारी के गौरव का ज्वलंत प्रमाण मिलता है।

द्रौपदी

नारी रत्नों में द्रौपदी का स्थान बहुत ऊंचा है। उसके पतियों का उसकी प्रशंसा करना एक स्वाभाविक बात कही जा सकती है। किन्तु उसके जीवन काल में ही उसके पातिव्रत्य की प्रशंसा गांधारी और कुंती के अतिरिक्त श्री कृष्ण, वेद व्यास, भीष्म पितामह और विदुर इत्यादि महापुरुषों ने करके उसके महत्व को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। इस धर्म के पालन में द्रौपदी को जिन कठिनाइयों तथा अपमान का सामना करना पड़ा वे साधारण न थे। विनाशकारी जुए के खेल में अपना सर्वस्व खो चुकने पर जिस समय युधिष्ठिर ने उसे भी पण पर रखा और हार गए, रजस्वला द्रौपदी हर्म्य से घसीट कर भरी सभा में खड़ी की गयी। वहाँ दुर्योधन की ओर से उसका जो घोर अपमान किया गया उसके लिए यही कहना उचित होगा कि 'भूतो न भविष्यति'। भारतीय संस्कृति के इतिहास में किसी संभ्रान्त नारी का इस प्रकार का अपमान कभी नहीं हुआ। इस जघन्य कलंक का वर्णन करने में लेखनी भी काँप उठती है। इस महापाप का मूल्य समस्त राष्ट्र को बहुत महँगा पड़ा।

तथापि उस विपन्नावस्था में द्रौपदी ने जिस विवेक और निश्चल धर्मनिष्ठा का परिचय दिया, उस पर बड़े बड़े महात्मा भी दंग रह गए। महाज्ञानी और समस्त नीति धर्मों के महापंडित भीष्म पितामह द्रौपदी के गांभीर्य को देखकर

---

३६ म० भा०, शल्य पर्व ६३.६५

बड़े आश्चर्य में पड़ गए और उसे कुरुकुल का गर्व बतला कर उसके महत्व का यथावत् मूल्यांकन किया। वह पातिव्रत्य का रहस्य जानती थी और समझती थी कि प्रचलित नियमों के अनुसार उसे दाँव पर रखने का युधिष्ठिर को धर्मतः अधिकार था। परन्तु उसका विश्वास था कि यदि स्वयं हार जाने के अनन्तर युधिष्ठिर ने उसे पण पर रखा हो तो उन्हें यह अधिकार प्राप्त नहीं था। अतएव उसने सभा से प्रश्न किया कि उसे हारने के पहले युधिष्ठिर हार चुके थे अथवा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन प्रतीत हुआ जिससे उस समय सभासदों में इस पर दो मत दिखायी पड़े। द्रौपदी का प्रश्न सुनकर प्रायः सभी सभासद मौन रह गए और वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध भीष्म पितामह ने भी उसका कोई असंदिग्ध उत्तर न देकर एक प्रकार से उसे खटाई में डाल दिया और यद्यपि द्रौपदी की दशा पर उनका हृदय करुणा से आप्लावित होकर रो रहा था, उनका यह उत्तर समाधान कारक न था कि 'न धर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवक्तुं, शक्नोमि ते प्रश्नमिमं विवेक्तुम्। अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य'[३७]—सुभगे! धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है जिससे मैं तुम्हारे प्रश्न का जैसा चाहिए उत्तर देने में असमर्थ हूँ। एक ओर यह देखता हूँ कि जो स्वयं स्वामी नहीं रह गया वह दूसरे को दाँव पर नहीं रख सकता तो दूसरी ओर देखता हूँ कि सर्वावस्था में स्त्री पति की वशीभूत मानी गयी है, तथा इस असमर्थता का कारण यह भी है कि 'समृद्धि पूर्ण राज्य का युधिष्ठिर त्याग कर सकते हैं किन्तु वे धर्म को कदापि नहीं छोड़ सकते और उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि मैं हार गया।'[३८] द्रौपदी के प्रश्न का असंदिग्ध उत्तर मिलना तो दूर रहा उलटे उस पर अपमानजनक वाग्बाणों की बौछार करने से दुर्योधन और उसके पिट्ठुओं को संतोष न हुआ और उसकी आज्ञा से दुःशासन रजस्वला होने के कारण एक-वस्त्रा द्रौपदी की साड़ी खींच कर उसे नंगी करने लगा। उस समय दूसरे किसी को रक्षक न देखकर द्रौपदी ने उस करुणा सागर की पुकार की जिसे वह सख्य भाव से पूजती थी। उस समय भक्तवत्सल भगवान् कृष्ण ने यह चमत्कार किया कि साड़ी के एक-एक सूत में साड़ियाँ निकलती गयीं। दुःशासन साड़ी खींचता तो साड़ी पर साड़ी निकलती आती और वह अंत में थक कर हाँफता हुआ बैठ गया। यह अवस्था अत्यन्त असाधारण और कारुणिक थी परंतु इसके कारण द्रौपदी ने युधिष्ठिर के प्रति उपालंभ का एक शब्द भी मुख से न निकाल कर असीम धैर्य और अद्भुत पति-निष्ठा का उदाहरण प्रस्तुत किया।

---

३७ म० भा०, सभा पर्व ६७.४७.४८

३८ वही, ६७.४८

पहले दमयंती ने नल का और सीता ने राम का वनवास के लिए अनुगमन करके जो परंपरा स्थापित की थी द्रौपदी ने उसकी पूरी प्रतिष्ठा की। द्रौपदी को भी वनवास काल में कामान्धों से अपने सतीत्व की रक्षा की विषमावस्था का सामना करना पड़ा। वनवास के दिनों में एक बार दुर्योधन के बहनोई महाबलशाली जयद्रथ का द्रौपदी ने कुल के सम्बन्ध के कारण यथोचित अतिथि सत्कार किया परन्तु उस दुरात्मा ने अवसर देखकर उसे बलपूर्वक भगा ले जाने का पापपूर्ण विफल प्रयास किया और अज्ञातवास में जब पांडवों तथा द्रौपदी ने छद्मवेष में विराट के यहाँ नौकरी वृत्ति का आश्रय लिया वाहिनीपति कीचक ने उसे पातिव्रत्य से भ्रष्ट करने की कुचेष्टा की और अंततोगत्वा भीम को उसकी हत्या करके द्रौपदी को बलात्कार से बचाना पड़ा।

द्रौपदी एक विलक्षण बुद्धिमती नारी थी जो परिस्थितियों को भली भाँति पहचानती थी। उसमें कर्तव्य बुद्धि तथा आत्म-विश्वास इतना प्रबल था कि आवश्यकता पड़ने पर स्थिरमति युधिष्ठिर तक को समयोचित परामर्श देने में न चूकती थी। अपने अनेक विलक्षण गुणों के कारण उसने अपने पतियों का पूर्ण प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया था जिसे एक बार श्री कृष्ण के साथ वनवास काल में जाकर देखने पर सत्यभामा ने आश्चर्यचकित होकर द्रौपदी से उस साधन अथवा वशीकरण मंत्र को पूछा जिससे पति को वश में किया जा सकता है। सत्यभामा के साथ श्री कृष्ण पांडवों के पास कुशल मंगल जानने के लिए उनसे वन में मिलने गए थे वहाँ सत्यभामा ने यह अनुभव किया कि वे लोग द्रौपदी में जो असाधारण अनुराग रखते हैं वह स्वयं उसके लिए एक स्वप्न है। द्रौपदी की पतिभक्ति निर्हेतुक एवं एक उदात्त आदर्श के आधार पर अवलम्बित थी। वशीकरण मंत्र की बात द्रौपदी को अत्यन्त खटकी और एक मीठी फटकार सुनाते हुए उसने सत्यभामा से अपने स्वभाव और चरित का जो वर्णन किया वह पतिव्रता स्त्री के लक्षणों का एक सजीव चित्रण तथा आदर्श और व्यवहार का एक ऐसा सुन्दर समन्वय है जो सच्चे अर्थों में स्त्री को देवी बनाता और परिवार को समृद्ध और सुखी करके स्वस्थ समाज का निर्माण करता है। यह समन्विति द्रौपदी के इन शब्दों में अभिव्यक्त हुई है कि 'पतियों को प्रसन्न रखने के लिए असाध्वी स्त्रियाँ मंत्र यंत्र इत्यादि के फेर में पड़ती हैं। जिन बातों से मुझे अपने पतियों के प्रेम भाजन बनने का सौभाग्य प्राप्त है संक्षेपतः वे ही हैं जिनका पालन प्रत्येक स्त्री को करना चाहिए। ऐसी स्त्री को अहंकार तथा क्रोध को अपने पास फटकने नहीं देना चाहिए और न ऐसा कोई काम करना चाहिए जो पति को अप्रिय हो। उसकी इच्छा के

अनुसार स्त्री को निरभिमान होकर उसकी सेवा सुश्रूषा सावधानी के साथ करनी चाहिए। मुख से बुरे शब्द निकालना, बेढंगे तौरसे खड़ी रहना, बुरी तरह से देखना, बैठना अथवा जिधर मन चाहे उधर चले जाना इत्यादि बातों से मैं सदैव दूर रहती हूँ। मैं इस बात के चक्कर में नहीं पड़ती कि मेरे पतियों के हृदय में कोई चोर तो नहीं बैठा है; पुरुष कैसा भी हो, तरुण हो अथवा वृद्ध, अश्विनी कुमारों की तरह रूपराशि हो अथवा धनराशि कुबेर, गंधर्व हो अथवा कोई महान् देवता, उसकी ओर भूल कर भी मैं नहीं देखती। पतियों के पहले मैं न स्नान करती न भोजन और न उनसे पहले सोने का नाम लेती हूँ। नौकर चाकरों तक के सम्बन्ध में भी मेरा यही नियम है। मैं नारी के इस साधारण धर्म का पालन यथावत् करती हूँ कि पति के बाहर से आने पर खड़ी होकर उसका सम्मान किया जाय तथा आसन और जल देकर उसे सुख पहुँचाया जाय। स्त्री को चाहिए कि घर गृहस्थी के बर्तन भाँड़े तथा सभी पदार्थ निर्मल तथा सुव्यवस्थित ढंग से रखे और नियत समय पर सुस्वादु भोजन से पति को तृप्त करे। घर को किसी प्रकार गन्दा रखना भली स्त्रियाँ कभी पसन्द नहीं करतीं, प्रत्युत झाड़-बुहार और लीप-पोत कर वे उसे प्रत्येक समय रमणीय रखती हैं। वे खोटी स्त्रियों के संसर्ग से कोसों दूर भागती हैं, किसी के साथ हँसी ठिठोली नहीं करतीं और गृह वाटिका में भी अनावश्यक समय तक नहीं टिकतीं। पति परदेश में हो तो विप्रोषित-पतिका के नियमों का वे पालन करती हैं और पुष्प, माला तथा अनुलेप इत्यादि सभी प्रकार के साधनों का परित्याग कर देती हैं। साध्वी स्त्रियाँ अपना स्वभाव इस प्रकार का बना लेती हैं कि उनका मन स्वतः ऐसे कामों में लगता है जिनसे पति का हित हो तथा उसके सुख की वृद्धि हो। आर्या कुंती ने मुझे जो शिक्षाएँ दे रखी हैं उनके पालन में मैं कभी प्रमाद नहीं करती। दुष्कर्मों से डरती हुई मैं अपने कर्तव्यों का पालन उसी प्रकार करती हूँ जैसे कोई क्रुद्ध सर्प से भय खाकर निरापद मार्ग पर चलता है। पति से चढ़ बढ़कर रहने की कुचेष्टा मैं भूल कर भी नहीं करती। मैं समय को वृथा नहीं खोती और प्रति क्षण किसी-न-किसी कार्य में व्यस्त रहती हूँ। गुरुजनों की सेवा तथा वेदविद् ब्राह्मणों का सम्मान मेरे लिए बहुत बड़ा धर्म है। नौकर-चाकरों की कौन कहे गड़ेरियों तक की मुझे पूरी जानकारी है तथा गृहस्थी के आय व्यय पर मेरी दृष्टि सदैव रहती है। वीरसू आर्या की सेवा सुश्रूषा में भी मैं कभी प्रमाद नहीं करती तथा पतियों के सुख के लिए मैं अपने सुख और दुःख अथवा रात और दिन को नहीं देखती। अपनी नित्य क्रिया में सबसे पहले जागना तथा सबसे बाद सोना मेरा नित्य का नियम है। संक्षेप में यही

मेरे वे सब कार्य हैं जिनके कारण मेरे पति मुझ पर प्रसन्न हैं। इसे वशीकरण मंत्र समझो और जी चाहे तो दूसरा कोई नाम दे दो।[३७]

अंबा

अंबा पातिव्रत्य की उस श्रेणी का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी धारणा यह रही है कि किसी पुरुष को मन से पति वरण कर लेने पर उसके साथ विवाह न हो सकने की अवस्था में जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रह जाना चाहिए। काशिराज की तीन कन्याओं अंबा, अंबिका, अंबालिका में अंबा सबसे बड़ी थी। उनके वीर्य शुल्क स्वयंवर में सम्मिलित समस्त राजाओं को परास्त कर भीष्म पितामह अपने वैमात्र विचित्र वीर्य के विवाह के लिए तीनों को बलात् हर करके हस्तिनापुर ले गये। विवाह की तैयारी के समय अंबा ने भीष्म पितामह से विनम्र निवेदन करके कि उसने शाल्वराज को मन से पति वरण कर लिया है उनसे प्रार्थना की कि उसे शाल्व के पास जाने दिया जाय। भीष्म ने उसकी बात का औचित्य स्वीकार कर उसे शाल्वराज के पास जाने का उचित प्रबन्ध कर दिया; किन्तु शाल्वराज ने अंबा की आशा पर पानी फेर दिया। उसे निष्ठुर उत्तर देते हुए शाल्वराज ने लांछन लगाया कि वह 'अनन्यपूर्वा' नहीं रह गयी और उसके साथ विवाह करना मर्यादा के विरुद्ध होगा। ऊपर से देखने से शाल्वराज का उत्तर युक्तियुक्त और धर्मानुमोदित था, परन्तु उसके धर्म की आड़ लेने का एक दूसरा ही कारण था। अंबा की दुहरायी गयी इस बात का उसने विश्वास न किया कि उसने उसे ही मन से पति मान रखा है और उसकी बात का प्रमाण मान कर ही भीष्म पितामह ने उसे बिदा किया है। शाल्वराज भीष्म से भयभीत थे और यह कहकर कि अंबा धर्म के नियमानुसार स्वीकार योग्य नहीं है उसे तिरस्कृत कर दिया।

अंबा एक विचित्र स्त्री थी, उसके मन का पति तो उसे मिलने को नहीं रहा, उसे भीष्म से प्रतिशोध की धुन लगी। अपने मातामह के माध्यम से जो एक राजर्षि थे उसे परशुराम की मध्यस्थता प्राप्त हुई और उसके कारण परशुराम ने भीष्म पितामह से तेईस दिन लगातार घोर द्वन्द्व युद्ध किया परन्तु वे भीष्म को पराजित करने में असफल रहे जिससे अंबा ब्रह्मचारिणी रहकर इस ध्येय को सामने रखकर कठोर तपस्या करने लगी कि दूसरे जन्म में स्वयं भीष्म से लड़कर उनका वध करेगी। इसी भावना के साथ उसका शरीरान्त हुआ; और कुछ दिनों के पश्चात् ही द्रुपद की कन्या के रूप में उसका पुनर्जन्म

३७ म० भा०, वन पर्व २३३. १०-४९

हुआ। एक विचित्र संयोग से इस कन्या को पुंस्त्व प्राप्त हो गया और यही पुरुष शिखंडी नाम से विख्यात हुआ जिसके जन्मतः स्त्री होने से अपने व्रत के धनी भीष्म पितामह जब अर्जुन के साथ युद्ध में संलग्न थे शिखंडी की वाण वर्षा का निवारण न करके युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए और उनके शान्त होते ही अंबा की प्रतिशोध की अग्नि भी शान्त हो गयी।

सीता

पतिव्रताओं के इतिहास में सती-शिरोमणि सीता का निष्कलंक चरित्र अविचल निष्ठा और उच्चतम आदर्श की सजीव मूर्ति है जिसके स्वरूप का वर्णन शब्दों की शक्ति के परे है। जिस चारित्र्य के कारण सहस्रों वर्षों से सीता जगद्वंद्य हो रही हैं उनके विषय में यह कथन अतिशयोक्ति नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत काल परखिये चारी' की जो कसौटी साध्वी स्त्रियों की वतलायी है उस पर सीता के चरित्र को रखने पर एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनमें स्त्रीत्व का आदर्श चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। 'तापस वेष विसेषि उदासी। चौदह वरिस राम बनवासी' का वर दशरथ से कैकेयी माँगती है जिसे सुनते ही दशरथ को अकथनीय दुःख होता है। किन्तु पिता को सत्यवादी सिद्ध करने के लिए उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा न कर पितृभक्त राम कैकेयी के वचन को अक्षरशः सत्य करने के लिए अयोध्या के राज्य का तनिक भी मोह न करके वनवास के लिए उद्यत होते और अपनी माता कौसल्या से आज्ञा माँग रहे हैं। पास में बैठी हुई सीता के मन में संदेह उठ रहा है कि उन्हें पतिदेव साथ ले जायेंगे अथवा नहीं। उन्हें राम के साथ वन जाने में किसी प्रकार के कष्ट नहीं दिखायी देते; वन में वे राम के साथ रहने पायें इसे वे पूर्व जन्म के किसी बड़े पुण्य का फल मानती हैं।

अयोध्या में रहकर सास ससुर की सेवा करना सीता का परम धर्म वतला कर राम उन्हें अयोध्या में ही रहने के लिए अनेक प्रकार से समझाते हैं परन्तु सीता धर्माधर्म के तत्वों से अनभिज्ञ न थीं। वह जानती थीं कि दो कर्तव्यों के बीच विरोध भी उपस्थित हो जाया करता है और उस स्थिति में जो श्रेयस्कर धर्म होता है उसी को प्रज्ञावान् स्वीकार करते हैं। गुरुजनों की सेवा एक बड़ा धर्म है, किन्तु उससे कहीं बढ़कर पातिव्रत धर्म है। जब राम ने देखा कि उनका सीधा-सादा उपदेश सीता के ऊपर काम नहीं करता उन्होंने वन जीवन की विभीषिका का नग्न चित्र उनके सम्मुख खींच कर आशा की कि सीता भयभीत

होकर उनके साथ वन जाने का आग्रह छोड़ देंगी। वस्तुतः एक नारी के लिए, जो राजकन्या तथा चक्रवर्ती राजा की पुत्रवधू के रूप में सुख-ही-सुख देख चुकी हो, वन गमन महाकाल के समान था। चौदह वर्ष तक के वनवास का नाम सुनकर ही साधारण स्त्री अथवा पुरुष का धैर्य जाता रहेगा; बिना पदत्राण के कुश और काँटों पर, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर भूख और प्यास से तड़फड़ाते हुए चलना, सिंह और व्याघ्र, भालू और भेड़िए, जंगली हाथी और सर्प तथा विविध क्रूर जीव-जंतु के नाना प्रकार के भयंकर शब्द सुनकर अगम्य वन में किसके प्राण सूख न जायेंगे। सबसे बढ़कर भीषण बात यह कि उन दिनों दक्षिण के वनों में नर भक्षी राक्षसों के अड्डे थे जो मनुष्यों पर धावा बोलते और उनका भक्षण करते थे।

यह था सीता के रामानुगमन का आशंकित परिणाम। परन्तु पति के साथ रहने मात्र में वे जिस कर्तव्य की पूर्ति देखती थीं उसके सामने वह विभीषिका कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनका हृदय कहता था कि पति के साथ निरंतर रहने और उनकी यथाशक्ति सेवा करने में उन्हें जो सुखानुभूति होगी वह अयोध्या के सैकड़ों राजमहलों में राम के वियोग में संभव नहीं। पति भक्ति के आगे पत्नीव्रती राम को झुकना पड़ा और वे सीता को अपने साथ ले जाने के लिए विवश हो गये।

जहाँ सीता का पति-प्रेम उनके एक-एक शब्द में व्यक्त है राम भी अपने पत्नी-धर्म को प्रकट करने में नहीं चूकते। वे सीता को आश्वासन देते हैं कि प्राचीन काल के सत्पुरुषों ने जिस धर्म का आचरण किया है मैं भी उसका पालन करूँगा। जिस प्रकार पतिव्रता सुवर्चला सूर्य के पीछे चलती है तुम भी मेरा अनुगमन करो।[३८]

पतिव्रता का यथावत् मूल्यांकन कोई पतिव्रता ही कर सकती है, जिसका उदाहरण हमें अनुसूया के वचनों में मिलता है। वनवास के आरंभ काल में महर्षि अत्रि के आश्रम में राम और लक्ष्मण के साथ जब सीता का प्रवेश होता है उनकी पतिभक्ति पर परम प्रसन्न होकर पतिव्रता शिरोमणि मुनि-पत्नी अनुसूया सीता को बधाई देती हुई कहती हैं कि यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अपने परिवार वालों को छोड़कर और यह अभिमान न करके कि मैं राजपुत्री हूँ वन में निर्वासित अपने पति का तुमने साथ दिया। नगर में, वन में, अच्छा अथवा बुरा पति जैसा भी हो वह जिन स्त्रियों को प्रिय होता है उन्हें ही उत्तम लोक

---

३८ वा० रा०, अयोध्या कांड ३०.३०

मिलते हैं। पति दुःशील हो, निर्धन हो, मनमाना व्यवहार करता हो, उत्तम प्रकृति की स्त्रियाँ उसे परम देवता मानती हैं। मैं जितना ही विचार करती हू मुझे पति के समान संसार में दूसरा कोई हितकारी दिखायी नहीं देता। वह इस लोक में स्त्री का हित करता ही है परलोक में भी उसका हित करता है। यह अक्षय तपस्या का फल है। जो स्त्रियाँ असाध्वी होती हैं, पति के ऊपर शासन चलाना चाहतीं और जी में जैसा आया करना चाहती हैं, वे इस गुण का अनुसरण नहीं करतीं। उन्हें लोक में अयश मिलता है; जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करतीं उन्हें धर्म-भ्रष्ट कहते हैं। तुम्हारी तरह नारियाँ जिन्होंने लोक के उत्तम-मध्यम धर्मों का ज्ञान प्राप्त किया है और जो पति का अनुगमन करती हैं पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग में विहार करती हैं। इसी प्रकार पति को सर्वस्व समझती हुई, यथासमय पति का अनुवर्तन करती हुई, और पति सेवा को अपना परम धर्म मानकर अपने पति के साथ धर्माचार करती रहो। इससे तुम्हारा यश और धर्म बढ़ता रहेगा।[३९]

तपोवृद्ध अनुसूया का इस प्रकार का सीता को उपदेश करना उनका कर्तव्य था, परन्तु था यह समझे हुए को समझाना। सीता को इस धर्म का पूरा ज्ञान ही न था उस पर वे दृढ़तापूर्वक चल रही थीं। वृद्ध तपस्विनी का उचित सम्मान करते हुए सीता ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि 'आपने मुझे जो उपदेश दिया है उसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह सत्य है कि पति स्त्री का गुरु है। यदि मेरे पति चरित्रहीन होते अथवा उनके पास जीविका का कोई साधन न होता तो भी मैं प्रसन्नतापूर्वक उनकी सेवा करती। तथापि ये तो उत्तमोत्तम गुणों से विभूषित हैं। यह दयालु तथा जितेन्द्रिय हैं, दृढ़ानुरागी और धर्मात्मा हैं, एवं माता-पिता की तरह मुझ में स्नेह रखते हैं। अप्रतिम बलशाली रामचन्द्र कौसल्या के प्रति जैता व्यवहार करते हैं वैसा ही ये राजा की दूसरी स्त्रियों के साथ करते हैं। राजा दशरथ ने किसी स्त्री को एक बार आँख उठाकर देख लिया तो धर्मज्ञ राम उसे मातृवत् देखते हैं। भयंकर वन में जब मैं आने लगी मेरी सास ने मुझे जो उपदेश दिया था वह मेरे हृदय पर अंकित है। इसी प्रकार कन्यादान के समय मेरी माता ने मुझे जो शिक्षा दी थी उसे भी भूली नहीं हूँ। आपके उपदेश को सुनने से वे सब बातें जाग्रत हो गयी हैं। मैं जानती हूँ कि पति सुश्रूषा से बढ़कर स्त्री के लिए दूसरा तप नहीं है। पति सुश्रूषा से ही सावित्री की पूजा स्वर्ग लोक में भी होती है। उसी के समान आचरण करके ही पति सेवा के द्वारा आप भी स्वर्ग की अधिकारिणी

३९ वा० रा०, अयोध्या कांड, ११७.२२-२९

बन गयी हैं। नारी रत्न रोहिणी अपने पति चन्द्रमा के बिना एक क्षण भी नहीं रहती। कहाँ तक गिनाऊँ इस प्रकार पति में दृढ़ प्रेम रखनेवाली स्त्रियाँ नारियों में श्रेष्ठ हैं और अपने उत्तम कार्यों से वे देवलोक में पूजित होती हैं।[४०]

वन गमन के समय सीता ने राम को आश्वासन दिया था 'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे।' वनवास में इसे उन्होंने चरितार्थ भी किया और जब तक उनका हरण नहीं हुआ वन के कष्टों ने उन्हें स्पर्श तक नहीं किया। किन्तु रावण के द्वारा हरी जाने के अनन्तर राम के वियोग में सीता को असहनीय दुःखों का सामना करना पड़ा और उनके सतीत्व की घोरतम परीक्षा हुई। राम तथा लक्ष्मण के देखते-देखते महाविकराल नर भक्षी विराध ने सीता को उठा लिया और उन्हें हर ले जाना चाहा जो उनके परितापों का सूत्रपात था। विराध को मारकर राम ने सीता की प्राण रक्षा की और वनवास के दस साल व्यतीत होने पर जब उन लोगों ने अगस्त्य ऋषि के दर्शन किये सीता की पति-भक्ति पर महर्षि ने उन्हें बधाई दी।

इसके पश्चात् अगस्त्य के आश्रम से दो योजन दूर गोदावरी के किनारे पंचवटी में जिसे अगस्त्य और राम ने परामर्श करके धर्म के उद्धार के लिए उपयुक्त क्षेत्र समझा वे लोग पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। यहीं से सीता के चारित्र्य की कठोरतम परीक्षा आरंभ होती है और यहीं उस महान् उद्योग का हेतु उपस्थित होता है जिसके कारण महापुरुष अथवा स्वाभिमानी राष्ट्र स्त्री जाति के सम्मान के रक्षार्थ बड़े से बड़े उत्सर्ग के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

शूर्पणखा की नाक कान काटे जाने का बहाना लेकर रावण ने सीता को हर ले जाने के लिए तरह-तरह के भय दिखाकर मारीच को कपट मृग बन कर राम और लक्ष्मण को पर्णकुटी से दूर आकर्षित करने के लिए उद्यत कर दिया। उसका विचित्र चर्म लाने के लिए सीता के अनुरोध से राम ने मारीच का पीछा किया और उनके बाण के आघात से मरते समय उसने आह भरी पुकार की 'हा लक्ष्मण!' सीता ने यह आशंका करके कि भारी विपत्ति में पड़कर राम लक्ष्मण को सहायतार्थ पुकार रहे हैं उन्हें आश्रम छोड़ने के लिए विवश कर दिया। रावण यह चाहता ही था। यति के वेष में पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच कर उसने भिक्षा माँगी और सीता उसके कपट वेश को न पहचान कर ज्योंही उसका आतिथ्य सत्कार करने लगीं उन्हें बलात् रथ पर बैठा कर आकाश में उड़ गया। सीता का प्रेम जीतने में जब वह एकदम विफल हो गया उन्हें अशोक वाटिका में बन्दी बना कर क्रूर राक्षसियों के कठोर पहरे में कर दिया।

सीता हरण के समय जब रावण अपने विकराल रूप में प्रकट हुआ और

---

४० बा० रा०, अयोध्या कांड, सर्ग ११७

अपने विशाल वैभव का लोभ देकर तथा अपनी तुलना में राज्यभ्रष्ट निर्वासित राम की तुच्छता दिखला कर सीता को अपनी पट्ट महिषी बनाने का अनुरोध करने लगा उस समय सीता ने जिन शब्दों में उसे फटकार सुनायी वे केवल उन स्त्रियों के मुख से निकल सकते हैं जो अपने चारित्र्य की रक्षा को सर्वोपरि मानती हैं और जिसके लिए किसी भी क्षण अपने प्राणों की बलि दे सकती हैं। उनके वाक्य चरित्र-बल के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। कहाँ देव और दानव, नर और नाग, यक्ष और गंधर्व सबको दमन करनेवाला भयंकर-काय क्रूर रावण और कहाँ मुट्ठी भर हाड़-माँस की सीता। पर वह शरीर नहीं, उसके भीतर चारित्र्य कवच से रक्षित बलिष्ठ आत्मा दहाड़ती हुई बोलती है कि 'महान् पर्वत के समान न हिलनेवाले, बलशाली इंद्र से बढ़कर, महा समुद्र के समान क्षुब्ध न होने वाले राम की मैं अनुगामिनी हूँ। सब शुभ लक्षणों से युक्त सत्यसंध महाभाग्यवान् राम की मैं अनुगामिनी हूँ। महाबाहु, महोरस्क, सिंह की तरह चलने वाले, नरसिंहों के सिंह राम की मैं अनुगामिनी हूँ। चन्द्र के सदृश मुख वाले, राजराज, जितेन्द्रिय, बहुयशस्वी राम की मैं अनुगामिनी हूँ। तू सियार है जो मुझ दुर्लभ सिंहिनी को चाहता है। जैसे सूर्य की प्रभा को नहीं पकड़ सकते, तू मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। राम की प्रिया भार्या का तेरा चाहना बतलाता है कि तू अभाग्यवश बहुत से स्वर्ण वृक्ष देख रहा है। तू मृगों के शत्रु भूखे सिंह और विषैले साँप के मुँह से दाँत निकालना चाहता है; मंदराचल पर्वत को मुट्ठी में ले जाना चाहता है और कालकूट विष का पान करके कुशलपूर्वक जीना चाहता है।

राम की प्रिया भार्या को प्राप्त करने की तेरी इच्छा सुई से आँख खुजलाना तथा जीभ से छुरे को चाटना है। तू गले में शिला बाँध कर समुद्र तैरना चाहता है तथा हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है जो राम की प्रिया भार्या का अपमान करना चाहता है। तू धधकती हुई अग्नि को हाथ से पकड़ना चाहता है यदि कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले राम की भार्या को हरना चाहता है। राम के अनुकूल चलनेवाली स्त्री को पाने की तेरी इच्छा वैसी ही है जैसे अयोमुखी शूलों के ऊपर चलना। सुनो, वन के सिंह और सियार में जो अंतर है, जो समुद्र और क्षुद्र नदी में होता है और जो अमृत और कांजी में होता है वही अंतर दशरथ पुत्र और तुझ में है। जो अंतर सुवर्ण और सीसा लोहे में अथवा चन्दन और कीचड़ में या जो अंतर कौवे और गरुड़ में है और जो मोर और जल कौआ में है अथवा हंस और गीध में है वही तुममें और दशरथ पुत्र में है। जब तक इन्द्र-तुल्य पराक्रमी राम के

हाथ में धनुष-बाण है हो सकता है कि इन्द्र की स्त्री को हर कर कोई जीता बच जाय परन्तु मुझे हर कर रामचन्द्र से त्रैलोक्य में भी कोई तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।' रावण की धमकियों का सीता ने जो निर्भीक उत्तर दिया उससे यह पता लगता है कि आत्मशक्ति का उनका ज्ञान साधारण न था। उनका यह कहना कि मेरे शरीर को कारागार में डाल दो अथवा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो मुझे इस शरीर अथवा प्राणों का कुछ भी मोह नहीं है"[४१] उनके धैर्य और धर्मनिष्ठा का परिचायक तथा उनके आध्यात्मिक ज्ञान का द्योतक है। सुखोपभोग का नन्दन कानन दिखाकर तथा नाना प्रकार के विभीषिकामय परिणामों का चित्र खींच कर जब रावण सीता के हृदय को जीत न सका उसने उन्हें एक वर्ष का समय सोचने का और दिया।

कैसा आश्चर्य है मानो सीता के शरीर में सुखदुःख का अनुभव करनेवाला कोई जीव था ही नहीं और वह अचेतन प्रस्तर मूर्ति थी।[४२] त्रासपूर्ण परिस्थितियों में सामान्य मनुष्य के दम दो-चार घंटों में ही घुटने लगते हैं। परन्तु दिन-पर-दिन और महीने-पर-महीने बीतते हैं और प्रत्येक क्षण, रात में और दिन में, कुरूप, क्रूर और भयानक, मांस और शोणित खाने और पीनेवाली नानारूप धारिणी राक्षस-स्त्रियाँ उन्हें तरह-तरह से अशोक वाटिका में त्रास देती हैं। इस पर भी सीता जीती रह जाती हैं। कारण एक ही है। अपने धैर्य के बल से वह अपने राम के लिए प्राण धारण करना अपना कर्तव्य समझती हैं और इस धैर्य का आधार उनका राम नाम का सुमिरन था जिसे तुलसीदास ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।'

सीता की खोज में गये हुए हनुमान को उनके प्रथम दर्शन में इस रूप ने अत्यंत प्रभावित किया था।

रावण का वध कर रामचन्द्र ने सीता का उद्धार किया। इस पर भी उनकी विपत्ति का अन्त नहीं हुआ। जिस रावण के इस प्रलोभन पर कि 'तव अनुचरी करौं पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥' सीता ने पातिव्रत्य धर्मानुसार परपुरुष की ओर न देखने के नियम के निर्वाह के लिए 'तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥' उन्हें अग्नि परीक्षा का भी सामना करना पड़ा। जिस सीता के मन मन्दिर में राम के सिवा अन्य किसी का स्वप्न में भी स्थान नहीं था उन्हें धधकती आग में प्रवेश करके

---

४१ वा० रा०, अरण्य कांड, सर्ग ४७

४२ वा० रा०, अरण्य कांड, ५६-२१

लोक के समक्ष जीवित बाहर निकल कर अपने सतीत्व की निष्कलंकता सिद्ध करनी पड़ी। राम गद्दी पर बैठे और सारा संसार सुखी हुआ परन्तु सीता को दुःख ही भोगना पड़ा। कारण, प्रजा परिपालन को सब धर्मों से श्रेष्ठ मानकर प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए प्राणों से भी प्यारी सीता को राम ने निर्वासित कर दिया। वे स्वयं जानते थे कि सीता का चरित्र धवल एवं निष्कलंक है किन्तु एक रजक के अपनी स्त्री को सीता का उदाहरण देकर चारित्र्य दोष लगाने पर लोकापवाद को दूर करने के लिए उन्होंने गर्भवती सीता को घर से निकाल दिया। इस निष्ठुरता पर भी पतिव्रता की मूर्ति सीता ने उफ तक न किया।

सीता दुर्गम वन में छोड़ दी गयी हैं परन्तु राम के प्रति वे एक अप्रिय शब्द तक नहीं निकालतीं। उन पर कोई लांछन लगाना अथवा उन पर क्रोध करना तो बहुत दूर की बात है। जब इसके विपरीत क्षोभ के कारण अवरुद्ध-कण्ठ लक्ष्मण उन्हें अकेली छोड़कर अयोध्या को लौटने लगते हैं तो सीता राम के लिए अपने सन्देश में कहती हैं कि 'मुझे जो नूतन कष्ट मिला है वह मेरे किन्हीं पूर्व जन्मों के पापों का परिपाक है। मैं अपने प्राणों की रक्षा करूँगी, इसलिए नहीं कि मैं जीना चाहती हूँ वरन् इसलिए कि मेरे गर्भ में आपका तेज आया हुआ है और उसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। मेरी एकमात्र अभिलाषा है कि जन्म-जन्मान्तर में मुझे आपकी सहधर्मिणी होने का सौभाग्य प्राप्त हो और आपसे मेरा कभी विछोह न हो।' इस अभिलाषा के सिवा उन्होंने राम से इन शब्दों में एक माँग भी की कि 'मनु ने यह व्यवस्था कर दी है कि वर्णाश्रम की रक्षा राजा का धर्म है। इसलिए यद्यपि आपने मुझे निर्वासित कर दिया है तो भी मैं आपकी प्रजा हूँ और इस दृष्टि से मुझे एक साधारण तपस्विनी प्रजा मानकर मेरे ऊपर कृपा दृष्टि बनी रहे।'[४३]

धर्म पर चलने के व्यास के इस निर्देश की कि—

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यः हेतुरस्य त्वनित्यः॥'[४४]

अर्थात् आत्मा की अमरता और सुख-दुःख की अनित्यता को देखते हुए मनुष्य को चाहिए कि किसी प्रकार की कामना के लिए अथवा किसी भय या लोभ के कारण अथवा प्राणों की रक्षा के लिए धर्म का परित्याग न करे—सीता

---

४३ रघु०, १४.६७

४४ म० भा०, स्व० पर्व ५, ६०; उद्योग पर्व, ३६,१२,१३

के चरित्र में सम्यक् चरितार्थता हुई है, ये सारे-के-सारे लक्षण सीता के विषय में घटित हुए हैं। पातिव्रत्य की रक्षा में उन्होंने काम, भय और लोभ और प्राणों की तनिक भी चिन्ता न की। और यही कारण है कि सहस्त्रों वर्षों से करोड़ों आर्य सन्तान जगन्माता के रूप में सीता का स्मरण और पूजन करते आ रहे हैं।

पातिव्रत्य की उदात्त कल्पना को जिसका आधार वेद में स्थापित हुआ और उसका प्रसार प्रचार महाभारत, रामायण, स्मृतिशास्त्रों और पुराणों में बड़े विस्तार के साथ तथा अनेक रूपों में हुआ, पार्वती, अरुंधती, सीता इत्यादि नारी विभूतियों ने अपने पवित्र जीवन में चरितार्थ करके भारतीय संस्कृति को एक ऐसी निधि दी जिसकी संसार में कोई समता नहीं।

इसके महत्व को यथेष्ट आदर न देकर संस्कृति के इस अंग पर कुछ लोगों का यह कटाक्ष है कि पति लूला, लँगड़ा, अंधा, बहिरा, गूँगा, निकम्मा और आचार हीन कैसा भी हो, स्त्री उसकी भक्त बनी रहे, यह कहाँ का न्याय है। इसका प्रतिपक्ष यह है कि जिस प्रकार दंडनीति शासन का कर्तव्य है, एवं अनाथों, असहायों और अपंगों की सेवा समाज कल्याण तथा मानवता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का एक सर्वसम्मत कर्तव्य है उसी न्याय से नीच पति की सेवा-सुश्रूषा सच्ची पत्नी का कर्तव्य हो सकता है। भगवान् बुद्ध के एक कोढ़ी की सेवा करने और महात्मा गांधी के परचुरे शास्त्री की अपने हाथ से सेवा करके उन्हें कुष्ट रोग से मुक्त करने में उनकी जो महानता अभि-व्यक्त हुई उसे कौन नहीं स्वीकार करेगा ? कस्तूर बा ने महात्मा गांधी के आग्रह से रोगी अतिथियों के मलमूत्र तक उठाने के अप्रिय कार्य एवं तरह-तरह के कष्ट झेल कर जो पति भक्ति की उससे उनका यश ही बढ़ा। यदि पुरुष अथवा स्त्री अन्य पुरुष अथवा स्त्री की जो कुष्ट अथवा उसके समान रोग से आक्रान्त हो सेवा करना कर्तव्य समझ सकता है इस प्रकार पीड़ित पति की सेवा पत्नी के लिए अकरणीय कैसे मान ली जाय ? क्या इस प्रकार के कष्टों में पड़ने अथवा दुराचार तक के मार्ग पर चले जाने से पति ही पत्नी के मानवता के धर्म अथवा कर्तव्य से वंचित हो जाता है ? क्या मानवता यह नहीं चाहती कि पति किसी भी अवस्था में हो पत्नी उसका परित्याग न करके सच्चे मन से उसका साथ दे ?

पतिपरायणता भारतीय नारी के रोम-रोम में समा गयी है और जब तक वह इसका पालन करती रहेगी भारतीय संस्कृति का मस्तक ऊँचा रहेगा। भारत का कल्याण इसके मूल स्रोत से नारी को उच्छिन्न करने में नहीं बल्कि उसकी निष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने में सुनिश्चित है।

पातिव्रत्य का तेज

इस देश में योग सिद्धि के चमत्कार का इतिहास बहुत प्राचीन है। कहते हैं कि योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अथवा स्थूल-से-स्थूल रूप ग्रहण कर सकता है, मनुष्य अथवा मानवेतर प्राणियों के देह में प्रवेश भी कर सकता है तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान की दूर-से-दूर घटनाओं का परिज्ञान भी कर सकता है। योगसिद्ध पुरुष में अलौकिक और चमत्कारिक शक्ति का उदय हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि यह सब करामात योग का उद्देश्य है अथवा सच्चा योगी इस प्रकार के चमत्कार किया करता है। इसी तरह एकनिष्ठ पतिव्रता स्त्रियों में भी इस प्रकार के अनेक अलौकिक गुणों का प्रादुर्भाव देखा गया है। सच्चे योगी के सदृश ही पतिव्रता कभी अपने धर्म पर आरूढ़ रहकर उसके विलक्षण प्रभाव का प्रदर्शन नहीं किया करती किन्तु यह क्षमता उसमें उसकी निष्ठा के प्रभाव से अनायास ही आ जाती है। ऐसी अनेक पतिपरायणा नारियों के दृष्टान्त मिलते हैं जिनका शाप अथवा आशीर्वाद प्रत्यक्ष हुआ है।

किसी यंत्र अथवा साधन के बिना पतिव्रता के दूरस्थ घटनाओं का ज्ञान होने का एक आख्यान महाभारत में उस साध्वी ब्राह्मणी का मिलता है जिसने कौशिक ब्राह्मण के तप के गर्व को चूर कर दिया था। कौशिक एक धर्मनिष्ठ, वेदों और उपनिषदों का स्वाध्याय करनेवाला, तपोनिष्ठ ब्राह्मण था। किसी समय वह एक वृक्ष के नीचे बैठ कर वेदोच्चारपूर्वक किसी व्रत का अनुष्ठान कर रहा था। इसी समय वृक्ष में से बलाका का पुरीष उसके शरीर पर गिर पड़ा। क्रोध से कौशिक तमतमा उठा और उसके ऊपर दृष्टि डालते ही बलाका झुलस कर पृथ्वी पर गिर पड़ी जिसे देखकर बाद को तपस्वी को पश्चात्ताप भी हुआ किन्तु क्रोध का तीर अपना काम कर चुका था। कुछ समय के उपरान्त भिक्षाटन के लिए कौशिक एक गृहस्थ के द्वार पर गया। गृहदेवी उस समय बर्तन माँज रही थी। 'थोड़ी देर ठहरिये' ऐसा निवेदन करके वह भीतर गयी ही थी कि इतने में उसका पति कहीं से भूखा-प्यासा पहुँच गया और उसकी सेवा में वह इतनी तल्लीन हो गयी कि उसे भिक्षुक का ध्यान नहीं रह गया। पति को खिला-पिला चुकने पर वह अतिथि का स्मरण आते ही बाहर निकल कर उससे क्षमा माँगने लगी। परन्तु कौशिक को अपने तपोबल का बड़ा अहंकार था। क्रोध से अंधा होकर उसने पति के सामने ब्राह्मण अतिथि को तुच्छ समझने का ब्राह्मणी पर आरोप लगाया। उस देवी ने उस का क्रोध

शान्त करने के लिए बड़े विनम्र भाव से ब्राह्मण मात्र में अपनी श्रद्धा प्रकट की परन्तु पति सुश्रूषा को अपना सबसे बड़ा धर्म बतला कर उससे पुनः क्षमा चाही। इस पर भी ब्राह्मण लाल-पीली आँखें दिखलाता ही रहा। अतएव उसके अहंकार को मिटाने के लिए उस पतिव्रता ने उसे यह उत्तर दिया कि उसे वह 'बलाका' समझने की भूल न करे जिसे उसने अपने तपोबल से भस्म कर दिया था। इस पर कौशिक की आँखें खुल गयीं और उसे ब्राह्मणी के तेजस् का अनुभव हुआ। ब्राह्मणी ने भी उसे क्रोध और मोह को जीतकर ब्राह्मण के सात्विक गुणों को अपनाने का उपदेश किया और उसके निर्देश से एक लम्बी यात्रा करके कौशिक धर्म के रहस्य जानने के लिए मिथिला पहुँचा जहाँ उसने धर्मव्याध से धर्म के गूढ़ तत्त्वों का निरूपण सुना।

सीता ने हनुमान को अजर अमर होने का आशीर्वाद दिया था और हनुमान की अमरता आज तक हिन्दुओं के घर में प्रसिद्ध है। इस कथा में कि जीवन के अंत समय में सीता की इच्छा से धरती फट गयी और उसमें वे विलीन हो गयीं उनके सतीत्व का प्रभाव ही बतलाया गया है। महाभारत की कथा के अनुसार गांधारी के शाप से स्वयं श्रीकृष्ण नहीं बचे। महाभारत युद्ध की समाप्ति पर उसके शाप के भय से उसके सामने जाने से धर्मराज युधिष्ठिर डर रहे थे क्योंकि उनका विश्वास था कि पातिव्रत्य के तेज से वह तीनों लोकों को भस्म कर सकती थी[४५]। पाण्डवों के प्रति गांधारी के कुपित होने से इसके पूर्व कि युधिष्ठिर उसके सम्मुख जायँ महर्षि व्यास तथा श्री कृष्ण ने उसके क्रोध को शांत करने का प्रयास किया था। पाण्डवों पर उसकी कृपादृष्टि हुई भी परंतु उसने अपने क्रोध का पारा कृष्ण पर उतारा। उन्हें उसने यह कहकर कि यदि वे चाहते तो महाभारत का युद्ध टल सकता था महाभारत युद्ध कराने का अपराधी ठहराया और कृष्ण को शाप दिया कि 'कौरव-पाण्डवों की तरह वृष्णिवंशवाले भी परस्पर लड़कर कट मरेंगे, उनकी स्त्रियाँ शोक सागर में डूबेंगी और स्वयं कृष्ण का निधन बुरी तरह होगा।' पातिव्रत्य की महिमा के रक्षार्थ कृष्ण ने गांधारी के शाप को अंगीकार किया जो कालांतर में अक्षरशः सत्य निकला। उसके पातिव्रत्य की सराहना में कृष्ण ने उसीसे कहा था कि 'यशस्विनी! तू क्रोध से दीप्त नेत्र से अपने तपोबल से चराचर पृथ्वी को भस्म कर देने की सामर्थ्य रखती है।'[४६] इसी प्रकार दमयन्ती के शाप से एक व्याध की मृत्यु हुई थी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ये उदाहरण केवल संकेत

४५ म० भा०, शल्य पर्व, ६३-६५
४६ म० भा०, शल्य पर्व, ६३-६५

मात्र हैं। वास्तव में पतिव्रताओं के प्रभाव के अनेक उल्लेख इतिहास में बिखरे पड़े हैं।

पातिव्रत्य और व्यक्तित्व

पातिव्रत्य से स्त्री के व्यक्तित्व का ह्रास होता है यह आपत्ति विचारणीय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समाज अथवा राष्ट्र में व्यक्तित्व का मूल्य न हो अथवा जहाँ व्यक्ति को विकास का पूर्ण अवसर न देकर समस्त अधिकार जाति अथवा राष्ट्र में केन्द्रित हों वह एक अपूर्ण समाज अथवा राष्ट्र होगा। मानव के व्यक्तित्व का स्थान अत्यन्त ऊँचा है जो भारतीय संस्कृति में व्यास के इस कथन में 'नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' मानव से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है—प्रतिष्ठित हुआ है। इस सिद्धान्त की सत्यता के विषय में मतभेद का अवकाश नहीं है। इस कसौटी पर पातिव्रत्य धर्म को कसने पर आक्षेपकर्ता उसे इस सिद्धान्त से असंगत ही नहीं इसके प्रतिकूल भी बतलाते हैं। वे इस धारणा को लेकर चलते हैं कि प्रतिव्रता पुरुष के हाथ की कठपुतली है जिसमें उसके व्यक्तित्व के लिए कोई अवसर नहीं है।

थोड़ा विचार करने से मालूम होगा कि इस विचार धारा में गंभीरता का अभाव है और पातिव्रत्य में व्यक्तित्व की हानि देखना निष्पक्ष और पूर्वाग्रहविहीन दृष्टिकोण से न देखने का परिणाम है। संस्कृति के सच्चे स्वरूप का यथावत् मूल्यांकन न करने और पाश्चात्य दृष्टि के चश्मे से देखने के कारण इस प्रकार का आरोप सामने आया है। यह बात पातिव्रत्य के मूलभूत सिद्धान्त और उसके सच्चे स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाती है। पातिव्रत्य एक महान् आदर्श है और इसी रूप में उसे समाज के सामने रखा गया है और मानवीय दौर्बल्य को ध्यान में रखते हुए शास्त्र ने यह अपेक्षा नहीं की कि सभी स्त्रियाँ पूर्णरूप से पातिव्रत्य का पालन कर सकेंगी।

इस सिद्धांत के अनुसार पतिव्रता उसे नहीं कहते जो पति के भय अथवा परवशता के कारण अथवा लोक-लाज में पड़कर अपने को पति की दासी, आज्ञाकारिणी अथवा पतिव्रता प्रकट करने का ढोंग रचती है। पातिव्रत्य पति के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार पत्नी के ऊपर लादने की चीज नहीं है। निःसंदेह इस तथाकथित पातिव्रत्य में अन्तरात्मा की प्रेरणा का अभाव, स्वतन्त्रता का अपहरण एवं व्यक्तित्व पर बन्धन है, और इसका समर्थन कोई नहीं करेगा। परन्तु जब स्त्री अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मन, वचन, कर्म से पति सेवा को अपना परम कर्तव्य मानकर उसे ही अपना परम दैवत अथवा पूज्य मानकर

उसकी इच्छाओं में अपनी इच्छाओं का लय कर देती अथवा संक्षेपतः उसमें सर्वात्मना मिल जाती है, कैसे कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचा है? सती, साध्वी अथवा पतिव्रता नाम इसी प्रकार की नारी को भारतीय संस्कृति में दिया गया है। वस्तुतः पातिव्रत्य की संपूर्णता में नारी के सत्य संकल्प, अटल धैर्य और अनन्य निष्ठा का परिपाक संनिहित है और यह ऐसे गुण हैं जो पुरुष में हों तो उसे महापुरुष बनाते और स्त्री में उद्भावित होकर उसे नारी-विभूति में विकसित कर देते हैं।

पतिव्रताओं में शिरोमणि दमयन्ती और सीता ने नल और राम के पुनः पुनः आग्रह करने पर भी गृह जीवन के सुखों पर लात मार कर वनवास के घोर कष्टों का आलिंगन किया। सिद्धार्थ गौतम के राजसी वेश-भूषा का परित्याग कर प्रव्रज्या लेने के समाचार को सुनते ही यशोधरा राजसी ठाट-बाट त्याग कर पृथ्वी पर शयन करने लगी। अत्यन्त आधुनिक काल में कस्तूर बा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका तथा भारतवर्ष में महात्मा गांधी के पदानुसरण में नाना प्रकार की यातनाएँ झेलीं, कारागार ही में उन्होंने पतिभक्ति में निरत रहकर प्राण भी त्याग किये (२३ फरवरी, १९४४, आगा खाँ महल, पूना में)। यह स्मरणीय है कि १९२३ ई० में जब राष्ट्रीय महासभा के सभापतित्व को स्वीकार करने के लिए 'बा' से आग्रह किया गया, उन्होंने उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि 'महात्मा जी को जो सम्मान प्राप्त है वह मेरा भी सम्मान है और इससे बढ़कर कि महात्मा जी मेरे पति हैं मेरे लिए दूसरा कोई सम्मान हो ही नहीं सकता।' यह कहना उचित न होगा कि इस प्रकार की नारी विभूतियों के व्यक्तित्व में कोई क्षति आयी प्रत्युत 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' उनकी कीर्ति ध्वजा भूमंडल में फहराती ही रहेगी। जो उदारचेता पुरुष अपने स्वार्थ को समष्टि के स्वार्थ में लय करके 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के महान् आदर्श पर चलते, परोपकार अथवा देशोद्धार के लिए मर मिटते अथवा हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर झूल जाते, धर्म के नाम पर पत्थर की दीवार में चुन दिये जाते, परहित के लिए स्वयं अथवा आत्मीयों को घोर-से-घोर आपदाओं में सहर्ष झोंक देते, देश, समाज अथवा दूसरों के प्राण रक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति दे देते अथवा भगवान् के चरणों में अनन्य भाव से आत्मसमर्पण कर देते हैं उनके व्यक्तित्व का ह्रास नहीं उसका परमोच्च विकास समझा जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति में भगवान् का वास है अथवा वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्मस्वरूप ही है इस परमतत्व को साक्षात् करना ही नर अथवा नारी का परम लक्ष्य अथवा व्यक्तित्व विकास की पराकाष्ठा माना गया है। इस स्थिति की

उपलब्धि के लिए जो विविध मार्ग बतलाये गये हैं उन्हीं में एक साधना पति को परम दैवत् मानना और उसकी भक्ति में परमात्मा की भक्ति की उद्भावना करके अपने जीवन को उसके अनुसार अनुप्राणित करना है जो पातिव्रत्य धर्म का सच्चा स्वरूप है। इस आदर्श के अनुसार पति के हित-अहित तथा दुःख-सुख में अपने स्वार्थों की आहुति कर देना पत्नी के लिए एक महान् यज्ञ है। यह नारी के व्यक्तित्व-ह्रास का कारण नहीं उसके व्यक्तित्व की परम अभिव्यक्ति है।

अध्याय ९

बहुपतित्व (पॉलिएन्ड्री), बहुपत्नीत्व (पॉलिगेमी) सवर्ण और असवर्ण (अनुलोम, प्रतिलोम) विवाह

जिस संस्कृति में पातिव्रत्य और सतीत्व स्त्री का श्रेष्ठतम आदर्श स्थापित हुआ और जिसमें यावज्जीवन ही नहीं, मृत्यु के उपरान्त भी वह पति से परलोक में मिलने की आशा रखती है, उसके अनेक पति करने की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति के प्रवर्तकों और संस्थापकों ने पतिव्रत की जिस उदात्त भावना को जन्म और प्रोत्साहन दिया उसे भारतीय नारी ने इस प्रकार अनन्य निष्ठा से अपनाया कि एक पति के सिवाय दूसरे पति की कल्पना मात्र से उसे घृणा और विद्रोह रहता आया जिसका परिणाम यह हुआ कि सहस्त्रों वर्षों के इतिहास में बहुपतित्व को कभी प्रथा का रूप नहीं मिला।

परन्तु अपवाद स्वरूप दो एक उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे बहुपतित्व (पॉलिएन्ड्री) का आरोप सामने आया है। इसका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व विदित उदाहरण द्रौपदी का है जिसका विवाह पाँच पाण्डवों के साथ हुआ। यद्यपि कुछ विद्वानों के मत से उसका विवाह केवल युधिष्ठिर से हुआ तथापि यह एकदेशीय मत ग्राह्य नहीं हुआ और सब पाण्डवों के साथ द्रौपदी का विवाह होना सब प्रमाणों से सिद्ध है। यह विवाह शास्त्र विधान के विरुद्ध था ही लोकमर्यादा से भी विरुद्ध था जिससे उसके समर्थन में महाभारत कार को बहुत कुछ व्याख्या करनी पड़ी।

अतएव इस विवाह की कथा में प्रवेश करना चाहिए। द्रौपदी के स्वयंवर की चर्चा सुनकर उसमें सम्मिलित होने के लिए कुंती के साथ पाण्डवों ने एक-चक्रा से चलकर द्रुपद की राजधानी में ब्राह्मण के वेष में एक कुम्हार के घर में डेरा डाल दिया। नित्य भिक्षा माँगना और लाकर उसे माता को अर्पित करना उनका नियम था। स्वयंवर के दिन संयोग से युधिष्ठिर डेरे पर रह गये और भीम और अर्जुन जो भिक्षाटन के लिए निकले थे स्वयंवर समारोह में पहुँच गये जहाँ द्रुपद की प्रतिज्ञा के अनुसार अर्जुन ने सफलतापूर्वक लक्ष्यवेध करके द्रौपदी की जयमाला प्राप्त की। द्रौपदी के साथ दोनों आवास स्थान पर पहुँच

कर हर्ष के साथ बाहर से ही बोल पड़े 'माता भीख ले आये हैं।' 'सब भाई बाँट खाओ' भीतर से कुंती की आवाज सुनाई पड़ी।

भीतर प्रवेश करने पर द्रौपदी की जाज्वल्यमान मूर्ति पर कुंती की दृष्टि पड़ते ही वह अत्यंत असमंजस और धर्म संकट में पड़ गयी और युधिष्ठिर की ओर कातर भाव से देखकर आग्रह किया कि वे कोई ऐसा मार्ग निकालें जिसमें धर्म की मर्यादा बनी रहे और उसे मिथ्यावादिता का दोष भी न लगे। उस समय मिथ्या भाषण एक घोर पाप समझा जाता था जिससे संभावित पुरुष और स्त्रियाँ सदैव बचने का प्रयत्न करती थीं। कुंती इस सनातन नियम को तोड़ने के लिए तैयार न थी, साथ ही उसे पातिव्रत्य धर्म का यह अटल नियम भी ज्ञात था कि स्त्री को एक के अतिरिक्त दूसरे किसी की कल्पना नहीं करनी चाहिए। माता की दशा देखकर युधिष्ठिर को भी कम असमंजस न हुआ, परन्तु उन्होंने यह निर्णय किया कि उस परिस्थिति में पाँचों के साथ द्रौपदी का विवाह अधर्म नहीं होगा।

युधिष्ठिर ने अपने निर्णय के जो कारण दिये उनकी मीमांसा करनी चाहिए। हमारी संस्कृति में जैसा देख चुके हैं माता का स्थान सर्वोपरि है जो पिता और आचार्य से भी कहीं ऊँचा माना गया है। फिर कुंती पाण्डवों के जन्म से ही नित्य उनके कल्याण करने में तरह-तरह के कष्ट झेल रही थी। उसकी आज्ञा के उल्लंघन में युधिष्ठिर ने एक बड़ा अकर्तव्य देखा और उस पर अपनी अंतरात्मा की साक्षी भी लिया जिसने भीतर से इस प्रकार के विवाह का समर्थन किया। कह सकते हैं कि कोई भी अंतरात्मा के नाम पर कुछ भी कर सकता है। परन्तु यह आक्षेप युधिष्ठिर जैसे असाधारण अमिथ्यावादी पर नहीं घटता जो अपने कार्यों में सर्वदा धर्म और अधर्म का विचार करके तदनुसार आचरण करते आये थे। इस प्रकार के विवेक और धर्माचरण से शुद्ध हुए चित्त से अंतरात्मा की सच्ची पुकार सुनी जा सकती है। यह कर्तव्याकर्तव्य अथवा नीति शास्त्र के पंडितों को भी मान्य है जिसका उल्लेख शकुंतला से विवाह करने के प्रश्न पर दुष्यंत के विषय में कालिदास ने इस प्रकार किया है कि 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'[1]—संदेह उपस्थित होने पर सत्पुरुषों के अंतःकरण की प्रवृत्तियों को आचरण की कसौटी मानना चाहिए। युधिष्ठिर ने इतने से संतोष न करके इतिवृत्त पर दृष्टि डाली तो उन्हें एक स्त्री के अनेक पतियों के दो दृष्टांत स्मरण आए, एक तो किसी जटिला नाम की स्त्री का जिसने सात ऋषियों के साथ तथा दूसरा वार्क्षी का जिसने प्राचेतस नाम के दस

१ शाकुंतल १.२१

भाइयों के साथ विवाह किया था। इसके सिवाय महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने इस तरह के सम्बन्ध को अपनी कुल मर्यादा के अनुकूल भी बतलाया। परन्तु यह मर्यादा क्या थी इसका कोई विवरण उसमें नहीं मिलता। अपनी 'महाभारत मीमांसा' में वैद्य महोदय ने एक मत अपना दिया है जिसका आधार यह बतलाया है कि 'एक स्त्री के अनेक पति करने की प्रथा शुरू-शुरू में उन चन्द्रवंशी आर्यों में थी जो हिमालय से नए-नए आये थे। द्रौपदी के उदाहरण से यह बात माननी पड़ती है। इसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये अनेक पति विभिन्न कुटुम्बों के नहीं एक ही कुटुम्ब के सगे भाई होते थे और आज कल भी हिमालय की तरफ पहाड़ी लोगों में कुछ स्थानों पर जहाँ यह प्रथा जारी है वहाँ भी यही बात है।'[2] यद्यपि यह सच है कि किन्नर देश और जौन्सर बावर इत्यादि हिमालय के अंचल में यह प्रथा पुराने समय से चली आ रही है तथापि यह कहाँ निश्चित है कि वहाँ से चन्द्रवंशी लोग नए-नए आये थे और उनके साथ यह प्रथा भी आई। पाण्डु के थोड़े दिन वहाँ रहने और पाण्डवों के वहीं पर जन्म लेने से तो वे हिमालय के आदि निवासी चन्द्रवंशी कहे नहीं जा सकते और न इसमें कोई संशय कर सकता है कि कौरव और पाण्डव एक ही बहुत प्राचीन कुरु वंश की संतान और उत्तर भारत के प्रसिद्ध प्राचीनतर भरत के वंशधर थे। कौरव पाण्डवों की कोई अलग-अलग कुल प्रथाएँ न थीं और इसी से महाभारत में एक प्रसंग में दुर्योधन ने द्रौपदी के बहुपतित्व पर आक्षेपपूर्ण फबतियाँ कसी हैं। उक्त मत केवल एक अटकल मालूम होता है और युधिष्ठिर की इस सम्बन्ध की कुल मर्यादा का उनके वचन के सिवाय पता नहीं लगता।

कुंती इत्यादि को युधिष्ठिर के निर्णय पर जो कुछ भी संतोष हुआ हो, पर अपने ज्येष्ठ पुत्र धृतद्युम्न से जिसने उसका यह वार्तालाप छिपे-छिपे सुन लिया था उक्त निर्णय को सुनकर द्रुपद बड़े ही असमंजस में पड़ गये। वे एक धर्म-निष्ठ तथा मर्यादा से बँधे हुए लोकनायक राजा थे जिनकी दृष्टि में इस तरह का विवाह धर्म विरुद्ध था। उनका इस पर युधिष्ठिर से विवाद चल ही रहा था कि उनके भाग्य से महर्षि व्यास का पदार्पण हुआ जिन्होंने दोनों को एकान्त में ले जाकर एक रहस्य बतलाया कि द्रौपदी के पाँच पति होने का दैवी विधान हो चुका है। व्यास की बात को कौन काट सकता था और उनके समाधान के पश्चात् द्रौपदी का विवाह विधिपूर्वक संपन्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि द्रौपदी का विवाह लोक संमत नहीं था और एक असाधारण परिस्थिति

२ म० भा० मीमांसा, पृ० २२९-२३०, सी० वी वैद्य : अनुवादक (माधव राव सप्रे)

का परिणाम था और इसीलिए स्वयं महाभारत कार ने इसे 'अमानुष'[३] अर्थात् लोगों में अप्रचलित अथवा अग्राह्य बतलाया है।

इस बहुपतित्व से पाण्डवों और द्रौपदी को बड़े कठोर नियमों के बंधन में पड़ना पड़ा। द्रौपदी को पातिव्रत्य के कृच्छ्र अनुशासन का पालन करना पड़ा जो उस असाधारण स्त्री के ही अनुरूप था जिसके पातिव्रत्य की भूरिशः प्रशंसा न केवल कुंती ने, पतिपरायणा गांधारी, श्री कृष्ण, महात्मा विदुर और वेदव्यास ने की। पाण्डवों ने एक कठिन नियम यह बना लिया कि यदि किसी समय द्रौपदी किसी पाण्डव के घर में वर्तमान हो और उस समय कोई भाई उसमें प्रवेश करे तो उसे बारह वर्ष पर्यन्त निर्वासित होना पड़ता। इस नियम का उन लोगों ने पूर्णतया निर्वाह भी किया जिसका वर्णन महाभारत में यह आया है कि किसी समय एक अग्निहोत्री ब्राह्मण की पुकार पर अर्जुन को युधिष्ठिर के घर में जहाँ उनके साथ द्रौपदी भी वर्तमान थी और जहाँ अस्त्रागार भी था आवश्यक अस्त्र लेने के लिए प्रवेश करना पड़ा और नियम भंग के अपराध में बारह वर्ष का वनवास करना पड़ा।

किन्नर देश तथा जौन्सर बावर के बहुपतित्व प्रथा का घनिष्ठ सम्बन्ध तिब्बतीय प्रथा से मालूम होता है। प्राचीन काल से अनेक पति करने की प्रथा तिब्बत में चली आ रही है और किन्नर देश तथा कुमायूँ और तिब्बत का व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत समय से चला आना एक तथ्य है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार 'सातवीं से आठवीं सदी तक भोट साम्राज्य में रहने से कनौर पर ल्हासा का प्रभुत्व रहा। सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन में इस समय जो परिवर्तन हुआ उसका प्रभाव आज भी कनौर में वर्तमान है।'[४] इस सम्पर्क से बहुपतित्व की प्रथा का तिब्बत से आना अधिक संभव प्रतीत होता है जहाँ वह व्यापक रूप में पायी जाती है। दोनों प्रथाओं में एक अन्तर इस बात में है कि जहाँ तिब्बत में स्त्री किन्हीं अनेक पुरुषों को पति बना सकती है जौन्सर बावर में यह प्रथा इस तौर पर मर्यादित है कि सभी पतियों का सगे भाई होना अनिवार्य है जिससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि यहाँ वालों ने इस प्रथा को तिब्बतियों से लिया। ग्रहण तो की परन्तु भारतीय संस्कृति की छाप से बिलकुल अस्पृश्य न रह सकने के कारण उसे उन्हें एक मर्यादित रूप देना पड़ा। तथापि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ यह प्रथा तिब्बत से ही आयी। हाल में

३ म० भा०, आदि पर्व, २-११७
४ महापंडित राहुल सांकृत्यायन : किन्नर देश में, पृ० ३०१

कुछ अन्वेषकों ने इसका आर्थिक कारण ढूँढा है और स्वयं राहुल जी ने उक्त ग्रंथ में अपना इसी तरह का मत व्यक्त किया है। वे लिखते हैं कि 'बहुपति विवाह को हम तिब्बत की देन नहीं कह सकते। जीवनोपयोगी सामग्री की कृच्छ्रता में खानेवाले मुखों की संख्या सीमित रखने के लिए हिमालय ही नहीं लंका के पर्वतों में भी लोगों ने बहुपतिता को स्वीकार किया था।'[५]

बहुपत्नीत्व (पॉलिगेमी)

स्त्री का व्यक्तित्व उसके पातिव्रत्य और सतीत्व में जितना ऊपर उठा उसकी समानता पुरुष के एकपत्नी व्रत ने कुछ अंश तक तो किया, परन्तु अनेक पत्नी की प्रथा चलाकर उसने इस विषय में नारी जाति से समानता का अधिकार खो दिया। भारतीय नारी जहाँ विवाह के काम-वासना के संयमन के आदर्श पर दृढ़ रह गयी पुरुष उस पर अडिग न रह सका और पत्नी के देहावसान पर विवाह न करने का व्रत लेने की बात दूर रही उसकी जीवितावस्था तक में अनेक विवाह करने पर उतर आया।

बहु विवाह की प्रथा वैदिक युग से चली आ रही है। यद्यपि उससे उत्पन्न होने वाली बुराइयों की ओर विचारशील पुरुष समाज का ध्यान आकर्षित करते रहे फिर भी वह नष्ट न हुई। ऋग्वेद के इस मंत्र से कि 'वह मुझे सवतियों की तरह कष्ट देता है,'[६] यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के समय पुरुष एक से अधिक विवाह कर सकता था और उसे उन स्त्रियों से संतान भी मिलती थी। ऋग्वेद में आये हुए पुरुखा के आख्यान से ज्ञात होता है कि उसके कई स्त्रियाँ थीं। इसी तरह वैदिक ऋषि कक्षीवान और च्यवन के एक से अधिक विवाह करने का पता मिलता है। आगे चलकर रामायण, महाभारत और पुराणों में ऐसे सैकड़ों महान् पुरुषों के नाम मिलते हैं जिनकी अनेक स्त्रियाँ थीं। महर्षि कण्व ने शकुंतला को अपने आश्रम से विदा करते समय सवतों के साथ सखी का व्यवहार करने का जो उपदेश दिया उससे यह निर्विवाद रूप से प्रकट है कि बहु विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित थी। बड़े-बड़े ज्ञानियों के भी कभी-कभी एक से अधिक पत्नियों के होने की सूचना मिलती है जिसका दृष्टांत योगीश्वर याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी स्त्रियाँ हैं जिनका पता बृहदारण्यक उपनिषद् देता है। दशरथ, शांतनु, विचित्रवीर्य,

---

५ वही, पृ० ३०२

६ ऋ० १.१०५.८

पांडु, कृष्ण, अर्जुन इत्यादि की अनेक पत्नियों का पता मिलता ही है और यह क्रम पुरातन युगों से आधुनिक काल तक चला आ रहा है।

कुछ लेखकों का मत है कि बहु विवाह की प्रथा भारत के आदिम निवासियों में थी जिसे आर्यों ने ग्रहण किया। उनके साथ आदिम वासियों के युद्ध में उनकी स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं जिनमें कुछ को विजेता आर्य अपनी स्त्री बना लेते थे। किन्तु यह मत किसी प्रामाणिक आधार पर निर्धारित नहीं प्रतीत होता और यह अधिक सहेतुक है कि बहुपत्नीत्व प्रथा का आरंभ आर्यों के इस धार्मिक विश्वास में हुआ कि विना स्त्री के कोई यज्ञ पूरा नहीं हो सकता और न विना पुत्र के नरक से उद्धार हो सकता है।

संभवतः इस विश्वास के कारण पत्नी की मृत्यु के अनंतर दूसरा विवाह यज्ञ संपादनार्थ तथा पत्नी के जीवित रहते उससे संतान न उत्पन्न होने के कारण पुत्रार्थ दूसरा विवाह कर लेने की प्रथा चल पड़ी। इस तरह जब एक से अधिक विवाह करने की रीति निकल आयी तो दूसरे कारणों के होते-न-होते भी काम-वासना पूरी करने के लिए भी बहु विवाह होने लगे और यद्यपि राम, नल और युधिष्ठिर इत्यादि के उदात्त उदाहरण सामने थे और मनुस्मृति में भी काम से प्रेरित विवाहों को निन्दित बतलाया गया तथापि यह प्रथा चलती ही रही। इस प्रसंग में पुरुष जाति का यह अनौचित्य कहा जायगा कि अपनी ओर न देख उसने स्त्री जाति से यह अपेक्षा की कि वह पति के जीवित रहते अथवा वैधव्यावस्था में भी दूसरा पति नहीं कर सकती थी। विवाह के आदर्शों की रक्षा जितना भारतीय नारी कर सकी वह पुरुष से न हो सकी।

बहु विवाह के अनेक अनर्थ हैं जिनके विवरण देने की आवश्यकता नहीं। इसकी बुराइयाँ प्राचीन काल से देखने में आयी हैं। ऋग्वेद का जो मंत्र ऊपर दिया गया है यही बतलाता है। इक्ष्वाकुवंशी सगर की विमाता ने उसे गर्भ में विष पिलाया, ध्रुव की विमाता ने उसे पितृवात्सल्य से वंचित किया, कैकेयी राम के वनवास और दशरथ के निधन की कारण हुई और कद्रू ने अपनी सपत्नी विनता को बहुत से कष्ट पहुँचाये।

इधर ऐतिहासिक काल में इस तरह के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जिनमें अशोक जैसे महान् सम्राट् की सम्राज्ञी तिष्यरक्षिता के अपने सौतेले पुत्र कुणाल के प्राण लेने का षड्यंत्र इतिहास प्रसिद्ध है। दृष्टान्तों को पल्लवित न कर 'सवतिया डाह' कहावत का संकेत बहु विवाह की बुराइयों को बतलाने के लिए पर्याप्त है।

स्वतंत्र भारत में लोक सभा ने विवाह अधिनियम पारित करके बहुपत्नीत्व की प्रथा को सर्वथा रोक देने का विधान किया है जिस की मीमांसा आगे करेंगे।

सवर्ण और असवर्ण (अनुलोम, प्रतिलोम) विवाह

भारतीय समाज की उस प्राचीन अवस्था में जब ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' के अनुसार वह चार वर्णों में विभक्त था और आधुनिक प्रकार की सैकड़ों जातियों और उपजातियों का जन्म नहीं हुआ था विवाह सवर्णों में ही होते थे इसका असंदिग्ध प्रमाण नहीं मिलता किंतु उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध हो सकते थे इसका पर्याप्त प्रमाण साहित्य और इतिहास में उपलब्ध है। परंतु इस कथन की एक परिसीमा इसलिए करनी पड़ती है कि इस बात का पता नहीं कि इस प्रकार के संबंध सभी वर्णों में संभव थे। असंदिग्ध रूप से इतना ही पता मिलता है कि ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय की कन्या के साथ एवं क्षत्रिय का विवाह ब्राह्मण कन्या के साथ हो सकता था। किसी भी वर्ण के बालक अथवा बालिका का व्याह दूसरे किसी भी वर्ण की कन्या अथवा बालक के साथ हो सकता था अथवा नहीं इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख अथवा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है। अतएव जिस परिसीमा के अंतर्गत ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों में इस प्रकार के विवाह संबंध होते थे उन्हें सीमित अंतर्वर्णीय विवाह कह सकते हैं और इस प्रकार के विवाहों को 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' विवाह की संज्ञा दी गयी है।

वैदिक साहित्य में अनुलोम और प्रतिलोम नामों से विवाह के भेदों का पता नहीं लगता और अधिक संभावना यह है कि विवाह के संबंध में इन शब्दों का प्रयोग बहुत बाद को होने लगा जब चार वर्णों के अंतर्गत जातियों का एक जाल-सा बिछ गया।

प्रतिलोम शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में 'एक उल्टी अथवा मान्य व्यवस्था के विपरीत' बात के अर्थ में हुआ है जैसा कि बृहदारण्यक तथा कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषदों[७] में दृप्त बालाकि ब्राह्मण के ब्रह्मविद क्षत्रिय राजा अजातशत्रु से ब्रह्म की जिज्ञासा करने पर उसके इस उत्तर से प्रकट है कि 'यह प्रतिलोम है कि ब्राह्मण क्षत्रिय से ब्रह्म की जिज्ञासा करे।'

कालांतर में जब विवाह के प्रसंग में इन शब्दों का प्रयोग होने लगा अनुलोम विवाह उन विवाहों को कहने लगे जो ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्याओं के साथ होते अथवा क्षत्रिय के वैश्य और शूद्र कन्या के साथ या वैश्य के शूद्र कन्या के साथ होते और इसके विपरीत क्षत्रिय, वैश्य और

---

७. बृह० कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषत ४.१८

शूद्र के विवाह ऊपर वर्ण वालों की कन्या के साथ होने पर प्रतिलोम कहलाते थे।

अनुलोम विवाहों के दृष्टान्तों में च्यवन, श्यावाश्व, कक्षीवान और विमद जैसे प्रख्यात वैदिक ऋषियों के नाम आते हैं जो वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण थे और इनके विवाह क्षत्रिय कन्याओं के साथ हुए। श्यावाश्व का विवाह राजा दर्भ के पुत्र रथवीति की कन्या शशीयसी के साथ तथा कक्षीवान का राजा भाव्य की पौत्री रोमशा के साथ सम्पन्न हुआ। कक्षीवान का एक दूसरा विवाह भी हुआ था और वह भी एक क्षत्रिय की कन्या के साथ जिसका नाम घोषा था और जो स्वयं एक प्रसिद्ध ऋषिका हो गयी है। विमद का विवाह राजा पुरुमिल्ह की कन्या शुन्यु (कमद्यु) के साथ एवं च्यवन का राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के साथ सम्पन्न हुआ। सबसे प्रथम स्वायंभुव मनु की जो क्षत्रिय थे दुहिता देवहूती प्रजापति कर्दम को ब्याही थी जो ब्राह्मण ऋषि थे। वाल्मीकीय रामायण से पता मिलता है कि बहुत बाद को दशरथ की कन्या शान्ता का विवाह ऋष्यश्रृंग के साथ हुआ था।

इसी प्रकार प्राचीन काल में प्रतिलोम विवाहों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आंगिरस ऋषि की कन्या शाश्वती का विवाह राजा असंग के साथ तथा किसी आंगिरस गोत्रिया ब्राह्मण कन्या का विवाह राजा स्वनयभावयाव्य के साथ सम्पन्न हुआ। शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी राजर्षि ययाति को विवाहित थी। शान्ता के सिवाय इन सभी विवाहों का परिचय ऋग्वेद से प्राप्त होता है जिससे यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वैदिक काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विवाह की अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रथाएँ प्रचलित थीं।

कालान्तर में प्रतिलोम विवाह की प्रथा बिल्कुल बन्द हो गयी और महाभारत काल में पहुँच कर अनुलोम विवाह यदि सर्वथा निषिद्ध नहीं हो गये तो विवाद के विषय अवश्य हो गये। स्वयंवर विवाह प्रणाली पर विचार करते समय दिखलाया गया है कि द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर अनेक क्षत्रियों ने यह आपत्ति उठायी थी कि यह प्रथा केवल क्षत्रियों की है। प्रकारान्तर से न केवल स्वयंवर प्रथा, अनुलोम प्रथा भी ब्राह्मण के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती थी। सम्राट् अग्निमित्र (ई० पू० प्रथम शताब्दी) ने जो वैदिक धर्म के महान् पुनरुद्धारक बतलाये जाते हैं और जो स्वयं ब्राह्मण थे, विदर्भ के क्षत्रिय राजा यज्ञसेन की बहिन मालविका के साथ विवाह किया था। परन्तु कदाचित् समाज में प्रतिष्ठित अनुलोम विवाह का यह अंतिम उदाहरण है। शूद्र

के लिए अनुलोम विवाह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता प्रतिलोम सदा ही उसके लिए वर्ज्य रहा है।

जैसे-जैसे समय बीतता गया और अनेक जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति होती गयी विवाह विषयक नियमों में कट्टरता आती गयी और अन्त में केवल सवर्ण विवाह धर्मसम्मत माने गये। यहाँ तक कि समाज में वैवाहिक संवंध उपजतियों तक परिसीमित हो गये।

प्रतिलोम विवाहों के अंतिम रूप से वन्द हो जाने पर अनुलोम विवाहों को अनुत्साहित करने के प्रयत्न स्मृति शास्त्रों में निरंतर होते रहे। इसमें मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का जिनकी सर्वोपरि प्रतिष्ठा मान्य रही है प्रभाव विलक्षण रूप से पड़ा है। मनुस्मृति ने निश्चित व्यवस्था यह कर दी कि 'पति पत्नी के कार्यों के लिए द्विजातियों को सवर्ण कन्याओं के साथ ही विवाह करना चाहिए।' उसमें यह वतलाया गया कि जो विवाह के आदर्श पर न चल कर काम वासना की तृप्ति के लिए विवाह करना चाहें उन्हें भी नीचे बताये क्रम से विवाह करना चाहिए अर्थात् शूद्र की भार्या केवल शूद्र कन्या हो सकती है, वैश्य की वैश्य और शूद्र कन्या, क्षत्रिय की भार्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या एवं ब्राह्मण की स्त्री इन तीनों वर्णों की तथा ब्राह्मण कन्या हो सकती है।[८] इन वचनों से अनुलोम विवाह का समर्थन होता है परन्तु प्रतिलोम की कोई चर्चा नहीं। इतना ही नहीं, यहाँ पर ब्राह्मण और क्षत्रिय को शूद्र कन्या के साथ विवाह की जो वात कही गयी उसे भी मनुस्मृति ने स्वमत न कह कर दूसरों का विचार कह करके तिरस्कृत कर दिया। उसके अनुसार उस व्यवस्था में दूसरों के मतों का उल्लेख मात्र है, स्वयं मनुस्मृति का मंतव्य यह है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रिय किसी आपत्ति में पड़ जाय तो भी किसी अवस्था में उन्हें शूद्र कन्या के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।'[९] याज्ञवल्क्य स्मृति एक कदम आगे बढ़ कर कहती है कि 'जो लोग यह कहते हैं कि द्विजाति मात्र का विवाह शूद्र कन्या के साथ हो सकता है उससे मैं सहमत नहीं हूँ। इसका कारण यह है कि भार्या में आत्मा स्वयं उत्पन्न होती है।'[१०] याज्ञवल्क्य स्मृतिकार के कथनानुसार इस निषेध का आधार यह है कि शूद्रा भार्या में उत्पन्न संतान शूद्र होती है।

---

८ मनु० ३.१२.१३

९ मनु० ३.१४

१० याज्ञवल्क्य स्मृति, विवाह प्रकरण, पृ० ५६

इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रतिलोम विवाहों के पूर्णतया बन्द हो चुकने के बाद भी अनुलोम प्रथा चलती रही और उसको रोकने का प्रयत्न जारी रहा। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य इत्यादि स्मृतियों में यह सिद्धान्त अन्तिम रूप से स्थापित हुआ कि पाणिग्रहण संस्कार सवर्णों में ही होने चाहिए। असवर्णों में जो विवाह किये जायँ वे पाणिग्रहण मंत्रों से न होकर अन्य विधियों से कर लिए जायँ।[११] इस दूसरे प्रकार से विवाह की गयी पत्नी को धर्म कार्यों में सह-धर्माचार के अधिकार नहीं दिये गये। इन सब प्रतिबन्धों का परिणाम यह हुआ कि सामान्यतः अनुलोम और प्रतिलोम विवाह इतिहास के पन्नों में रह गये। यद्यपि हिमालय के अंचल जौन्सर बावर की वर्णेतर जातियों के अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था को माननेवाले ब्राह्मणों तथा खशों में जो अपने को राजपूत कहते हैं अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा आज तक चली आ रही है परन्तु यह वहाँ के लिए कोई नयी बात नहीं है, प्राचीन प्रणाली का ही सिलसिला है।

अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों को निषिद्ध करने का मुख्य कारण प्राचीनों के उस प्रयास में ढूँढना चाहिए जिसका उद्देश्य जातीय रक्त की विशुद्धता की रक्षा था। याज्ञवल्क्य स्मृति का यह कथन कि आत्मा ही पुत्र रूप में जायमान होता है इसलिए ब्राह्मण को शूद्र कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए[१२] इस प्रयास की ओर संकेत करता है। हिन्दू समाज जिन सैकड़ों जातियों में विभक्त है उनमें अनेक की उत्पत्ति वर्णसांकर्य से हुई है यह स्मृतिशास्त्रों से प्रकट है। इस प्रकार की जातियों का निर्माण महाभारत युद्ध के पहले ही आरंभ हो चुका था जिसका उल्लेख महाभारत में अजगर-युधिष्ठिर संवाद में पाया जाता है जिसमें युधिष्ठिर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जन्म से वर्ण का निर्णय कठिन हो गया है क्योंकि वर्ण-संकरता बहुत बढ़ गयी है।[१३] यद्यपि वर्णों को अपने विशुद्ध स्वरूप में रखने की प्राचीन लोगों को विशेष चिन्ता थी और यह धारणा थी कि शुद्ध रजवीर्य से उत्पन्न ही संतान के पिंडदान से पितरों का उद्धार हो सकता है जिसके लोप की आशंका से अर्जुन महाभारत युद्ध से विमुख होना चाहता था,[१४] तथापि वर्ण-सांकर्य को रोकने एव मेढकों की तरह नयी-नयी उपजातियों के बनने में पुराने मनीषी असमर्थ रहे। स्मृतिशास्त्रों ने अनुलोम और

---

११ मनु० ३.४३

१२ याज्ञवल्क्य स्मृति, विवाह प्रकरण ५६

१३ म० भा०, वन पर्व १८०.३१

१४ गीता० १.४२

प्रतिलोम विवाहों को त्याज्य बतला कर सवर्ण विवाहों पर जोर दिया और इसका दूसरे कारणों के साथ मिलकर अन्तिम परिणाम यह हुआ कि एक ही वर्ण के उपभेदों में अन्तर्जातीय विवाह बन्द हो गये और जो सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न हुईं उनमें भी ऐसे सम्बन्ध जाति-बहिष्कार के कारण हो गये।

लोकतांत्रिक शासन के उन्मुक्त वातावरण में अनेक नवयुवक हिन्दू समाज की सवर्ण विवाह पद्धति से पराङ्मुख हो असवर्ण अथवा अंतर्जातीय विवाह प्रथा की ओर गति-शील हो चले हैं। उनकी चेतना को लोकसभा ने हिन्दू विवाह अधिनियम १९५५ को पारित करके और उसके द्वारा उसके मार्ग के अवरोधक कारणों का निराकरण करके समयानुकूल प्रोत्साहन प्रदान किया है। इस परिवर्तन के विषय में अधिक चर्चा आगे की जायगी।

अध्याय १०

विधवा विवाह और नियोग

विधवा विवाह

विधवा विवाह आधुनिक हिन्दू समाज की एक बड़ी समस्या है जिसका प्राचीन भारत में पता नहीं लगता और उसका एक कारण यह देख पड़ता है कि उस समय न बाल विवाह होते थे और न अधिक विधवाएँ ही होती थीं। बाल विधवाओं का तो नाम भी नहीं सुनायी देता था ! संभवतः इसीलिए वैदिक साहित्य में विधवा विवाह सम्बन्धी व्यवस्था अथवा विचारों का प्रायः अभाव पाया जाता है। आधुनिक समाज सुधारकों ने अपने मत के समर्थन के लिए कतिपय वेद मंत्रों का उल्लेख विधवा विवाह के पक्ष में किये हैं, परन्तु उनके अर्थ में इतनी खींचा-तानी देख पड़ती है कि बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। और उन मंत्रों का यथार्थ तात्पर्य अवगत न होने के कारण वैदिक साहित्य से बाहर इस विषय की जो कुछ मीमांसा हुई है उससे संतोष करना पड़ता है।

मनुस्मृति में विधवा विवाह का विरोध स्पष्टतया पाया जाता है जिसके उसमें कई कारण बतलाये गये हैं। भारतीय संस्कृति की एक प्रधान मान्यता है कि विवाह की प्रतिष्ठा कन्यादान में है और महाभारत की तरह मनुस्मृति की स्थापना यह है कि कन्यादान अनेक बार नहीं, एक ही बार संभव है, जो महाभारत और मनुस्मृति के इस प्रसिद्ध कथन में मिलता है कि 'विभाजन में जो अंश जिसके हिस्से में पड़ जाता है वह एक बार ही होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है, दूँगा यह बात एक ही बार होती है, ये तीनों बातें एक ही बार होती हैं।'[१] विधवा विवाह के विरोध के लिए मनुस्मृति वेद का आधार लेकर यह तर्क देती है कि 'विवाह की विधि में वेद के पाणि-ग्रहण संबंधी मंत्र अनिवार्य हैं और ये मंत्र कन्याओं को ही लागू होते हैं, किन्तु जो कन्याएँ नहीं रह गयीं उनके लिए नहीं, क्योंकि इनके लिए धर्म क्रियाएँ विहित नहीं हैं।'[२]

---

१ म० भा०, वन पर्व २९४.२६

२ मनु० ९.४७

मनुस्मृति विधवा विवाह की कोई व्यवस्था न बता कर विधवा के लिए सरल सात्विक जीवन का मार्ग दर्शन करती हुई कहती है कि 'जिसके साथ पाणिग्रहण हुआ अच्छी स्त्री जिसे पतिलोक की अभिलाषा हो, वह जीता हो अथवा मर जाय, उसका अप्रिय कदापि न करे; पुष्प, फल और मूल इत्यादि पर रहकर अपने शरीर को मिटा दे किन्तु पति के परलोक हो जाने पर दूसरे का नाम तक न ले। एकपत्नियों का जो श्रेष्ठतम धर्म है उसकी इच्छा रखते हुए उसे नियमपूर्वक जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहना चाहिए। सहस्रों विप्र आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके स्वर्ग गये, यद्यपि उन्होंने विवाह करके कोई संतान उत्पन्न न की, इसी तरह पति के मर जाने पर साध्वी स्त्री पुत्रहीन होते हुए भी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर अंत में स्वर्ग प्राप्त कर लेती है[३]।

मनुस्मृति की तरह पुराणों, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा कई अन्य स्मृतियों में विधवा के लिए ब्रह्मचर्य जीवन ही रास्ता बतलाया गया है। याज्ञवल्क्य के इस कथन में कि 'पति जीता हो अथवा मर गया हो जो स्त्री दूसरे पुरुष को ग्रहण नहीं करती समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती है और मरने पर उमा पार्वती के साथ उसे आनंद प्राप्त होता है'[४] मनुस्मृति का ही अनुधावन है एवं उसका यह कथन भी कि 'पति का जो प्रिय हित हो उसके अनुसार चलकर तथा स्त्री के धर्म का पालन करती हुई इंद्रियों पर संयम रखकर स्त्री इस लोक में कीर्ति पाती और मरने पर श्रेष्ठ गति प्राप्त करती है'[५] मनुस्मृति के मत से पूर्णतया मेल खाता है।

इसके विपरीत कुछ स्मृतियों का मत विधवा विवाह के पक्ष में मालूम पड़ता है और उसके समर्थन में बहुधा यह श्लोक उधृत किया जाता है—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पंच स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥[६]

अर्थात् पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, संन्यास ले लेने, नपुंसक होने अथवा पतित हो जाने इत्यादि पाँच आपत् की अवस्थाओं में स्त्री के लिए दूसरे पति का विधान है। स्मृति के इस वचन के समान ही अग्निपुराण[१] के कथन मिलते हैं जिन से विधवा विवाह का समर्थन होता है। परन्तु इस मत पर विद्वानों में गहरा मतभेद है जिसका मुख्य कारण यह

३ मनु० ५.१५६.१६०
४ याज्ञ० स्मृति, विवाह अध्याय
५ वही
६ दे० १५४.५.६

है कि श्लोक का उक्त पाठ जिस से विधवा विवाह का समर्थन होता है व्याकरण के विरुद्ध होने के कारण अशुद्ध है और उसका शुद्ध पाठ निम्नलिखित होना चाहिए।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतितेऽपतौ।
पंच स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

युवावस्था में स्वामी दयानन्द सरस्वती के घनिष्ठ संपर्क में रहनेवाले पंडित भीमसेन शर्मा ने जो बाद को कलकत्ता विश्वविद्यालय के वेद व्याख्याता हो गये थे स्वरचित ग्रन्थ विधवा विवाह खंडन में इस पाठ-भेद को दिखलाते हुए यह विचार प्रस्तुत किया है कि प्रथम पाठ का 'पतौ' शब्द व्याकरण से अशुद्ध है और उसका शुद्ध रूप 'पत्यौ' होता है तथा यह नहीं कहा जा सकता कि स्मृतिकार को व्याकरण का यह साधारण ज्ञान न था। इसलिए उनकी सम्मति में व्याकरणानुसार 'अपतौ' शब्द पाठ का शुद्ध रूप मान कर समीक्षा करनी चाहिए। उस अवस्था में मालूम होता है कि विवाह के लिए वाग्दान जैसी प्रारंभिक विधियाँ हो गयी हों किन्तु पाणि ग्रहण और सप्तपदी की विधियाँ जिनसे विवाह की पूर्णता होती है उनका संपादन न हो पाये और इस अभ्यंतर में प्रस्तावित पति जो 'अपति' है किसी प्रकार नष्ट हो जाय, मर जाय, संन्यास ले ले, पतित हो जाय अथवा उसके क्लीव होने का पता लग जाय तो स्त्री (जो अभी पत्नी नहीं हुई है) को दूसरे को पति करने का विधान है। इस तर्क को सारहीन नहीं कहा जा सकता और इसकी पूरी संगति इस विचार धारा और परंपरा से लगती है कि सप्तपदी के बिना विवाह वैधानिक नहीं माना जा सकता। इस तरह हम देखते हैं कि स्मृति का जो मत विधवा विवाह का समर्थक बतलाया जाता है उसमें भी भारी संदेह है। और यदि इतिवृत्त को देखा जाय तो विधवाओं की चर्चा मिलती तो है किन्तु किसी विधवा के पुनर्विवाह का एक भी दृष्टान्त नहीं पाया जाता। एक उदाहरण तारा का मिलता है जिसे उसके पति बालि के निधन पर उसके अनुज सुग्रीव ने रख लिया था पर उसके पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं है। संभव है जिस तरह द्विजातियों के अतिरिक्त दूसरी जातियों में सगाई की प्रथा प्रचलित है उसी ढंग पर तारा सुग्रीव संबन्ध स्थापित हुआ हो।

इस में संदेह नहीं कि पुराणों और धर्म शास्त्रों ने विधवा विवाह के प्रश्न पर ऊँचे आदर्श के आलोक में ही अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि संभवतः उन के समय में विधवाओं की दशा उस उग्र और शोचनीय स्थिति तक नहीं पहुँची थी जिस से पश्चाद्वर्ती समाज आक्रांत

हुआ। स्मृतियों की रचना का क्रम विच्छिन्न न हुआ होता तो बाद की परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर किसी नयी स्मृति की रचना अवश्य हुई होती।

स्पष्ट है कि केवल स्मृतियों के आधार पर विधवा विवाह के प्रश्न का विवेचन अधूरा होगा। देश काल की परिस्थिति से विधवा की समस्या का समाधान आवश्यक है इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। बाल विवाह की घातक प्रथा ने विधवा की संख्या में अति वृद्धि की यह एक तथ्य है। जहाँ भारतीय संस्कृति में विवाह का आदर्श संसार के अन्य देशों के आदर्शों में सर्वश्रेष्ठ है और जिसका भारत को उचित गर्व है, विधवाओं की बहुत बड़ी संख्या से, जिसमें नन्हीं-नन्हीं बालिकाएँ भी सम्मिलित हैं, हमारा मस्तक झुक भी जाना चाहिए। सैकड़ों वर्षों से हिन्दू समाज ने आदर्श के नाम पर 'विधवा' के प्रति निर्दय होकर मानवता के बड़े धर्म का परित्याग कर दिया है जिसका कुफल वह भोगता आ रहा है। परिवार का अभिन्न अंग होती हुई भी विधवा उसमें तिरस्कृत होती आयी है और पदे-पदे उसे उसके वैधव्य का स्मरण कराया जाता रहा है। कितने दुःख की बात है कि एक ही परिवार में विवाह और तरह तरह के अनेक मंगल के अवसरों पर सब सदस्य हर्ष मनाएँ और विधवा अमंगल की मूर्ति बन कर विषाद की भट्ठी में सुलगती रहे। यदि किसी प्रकार की संपत्ति की वह उत्तराधिकारिणी हो तो वह भी उसके लिए विपत्ति का कारण होता है और उसके सम्मान और प्राण संकट में पड़ जाते हैं। किसे नहीं मालूम कि अनेक विधवाओं को शारीरिक यातनाओं एवं नैतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और बहुतेरी ऊबकर अनैतिक जीवन बिताने अथवा परधर्म ग्रहण करने को विवश हो जाती हैं। जब अपने ही परिवार में विधवा सब तरह से अवांछित तथा अपमानित हो तो उसके बाहर समाज से वह किस स्थान अथवा सम्मान की आशा कर सकती है।

विधवा की समस्या को समाज सुधारक ही नहीं कट्टर पुरातनवादी भी स्वीकार करते हैं और शास्त्रमर्यादा के प्रबलतम सनातनधर्मावलंबी विद्वान् भी इसकी विभीषिका से दुःखी पाए जाते हैं। परंतु सनातन परंपरा के उल्लंघन के भय से उन्हें जहाँ एक ओर विधवा विवाह के समर्थन में अनर्थ दिखायी देता है विधवा की समस्या का समाधान निकालने में वे असमर्थ भी देखे जाते हैं। स्वामी विवेकानंद जैसे समाज सुधारक मनीषी ने भी विधवा विवाह का प्रत्यक्ष समर्थन न कर बालविवाह निरोध में ही इन प्रश्न का हल बतलाया है। संभवतः विधवा की दशा पर सबसे पहिले प्रसिद्ध समाज सुधारक राजा राम मोहन राय का ध्यान गया किंतु उस पर द्रवीभूत हुए उन्नीसवीं

शताब्दी के दो बड़े मनीषियों में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने अथक परिश्रम द्वारा हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम २० सन् १८५६ पारित कराकर-उसकी दशा सुधारने का श्रेय प्राप्त किया तो वैदिक संस्कृति के आधुनिक काल के महान् प्रचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् १८८१-१९४० : १८२४-१८८२ ई०) ने स्वसंस्थापित आर्य समाज के द्वारा विधवा विवाह के प्रचार का एक प्रकार से व्रत ले लिया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर और स्वामी दयानंद संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् थे और सामाजिक सुधार के लिए वैदिक प्रमाणों का पर्याप्त आश्रय भी लेते थे। विधवा विवाह के विरोध में पंडितों ने जहाँ शास्त्रों के प्रमाण उधृत किये उसके समर्थन में विद्यासागर ने उन्हीं के अनेक उद्धरण दिये।

परन्तु पातिव्रत्य और सती धर्म की शिक्षा और उस पर यथासाध्य चलने का प्रयास जिसकी एक सनातन परंपरा सहस्रों वर्षों से चली आयी और जिसके अनुसार लोकमत का निर्माण और संवर्धन होता आया उससे पुरुष समाज विधवा विवाह का विरोधी था ही, स्वयं नारी जाति उसके नाम से घबराती रही है और इस बड़ी अड़चल के कारण कानून की सहायता और प्रेस और प्लैट-फार्म के प्रयत्नों के होते हुए भी इस दिशा में प्रगति बहुत कम हुई, यद्यपि विरोधी भावनाएँ विलीन होती जा रही हैं।

इस स्थिति में सामाजिक चेतना को एक प्रबल धक्के की अपेक्षा बनी हुई है। जिस बाल विवाह के निरोध में स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार विधवा सुधार का एक बड़ा समाधान है बाल विवाह-निरोधक शारदा ऐक्ट के बन जाने पर उसे कानून के सहारे पर छोड़कर उस दिशा में समाज प्रायः सो गया। इधर जब तक समाज जाग्रत और प्रयत्नशील नहीं होता विधवा की समस्या के हल में भी प्रगति संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों को विधवा विवाह में धर्म के लोप और सनातन धर्म मर्यादा के उल्लंघन की आशंका होती है उन्हें अपने दृष्टिकोण को बदलने का औचित्य सोचना चाहिए।

धर्मशास्त्रों में ही इस बात के प्रमाण भरे पड़े हैं कि देशकाल को देखकर समय-समय पर स्मृतिकारों ने साधारण धर्म के अपवाद स्वरूप आपद्धर्मों की व्यवस्था बतलायी है। क्या यह मान लिया जाय कि इस दिशा में परंपरागत तत्वों की रक्षा करते हुए आज की विषम परिस्थिति में तदनुकूल नियम निर्माण के लिए बुद्धि की कमी हो गयी है? धर्मशास्त्रों के विधवा पुनर्विवाह की व्यवस्था न करने का कारण विवाह के उच्च आदर्श और उद्देश्य की रक्षा तथा विधवा के चारित्र्य को उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित रखने की महत्वाकांक्षा था। परन्तु

क्रान्तिकारी परिस्थितियों में जब विधवा के नाना-विध कष्टों का प्रत्यक्षीकरण हो रहा है, परिवार और समाज में वह असम्मान की पात्र समझी जाती है और गुप्त रीति से व्यभिचार और भ्रूण हत्या तक के घोर पाप समाज में होने लगे हैं विधवाओं को और प्रधानतया बाल-विधवाओं को विवाह कर लेने के लिए प्रोत्साहित करना अनुचित अथवा धर्म के विरुद्ध नहीं हो सकता। जहाँ कन्या के रजस्वला होने पर उसका विवाह न कर देना उसके अभिभावक को भ्रूण हत्या के पाप का भोक्ता मानने की कुछ स्मृतिशास्त्रों की व्यवस्था हुई उसी संस्कृति में वास्तविक भ्रूण हत्या की घटनाएँ देखकर जिन विधवाओं के सच्चरित्र न रह सकने की संभावना दिखायी पड़े उनका विवाह कराने की व्यवस्था होनी ही चाहिए। ऐसा विधवा विवाह आपद्धर्म होगा और जो विधवा रह कर सच्चरित्र जीवन व्यतीत कर सके वह समाज के लिए पूजनीय है। विधवा विवाह के अनुमोदन और प्रचार का उद्देश्य ऐसी नारियों को विवाह करने के लिए प्रेरित करना नहीं हो सकता। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में आपद्धर्म के रूप में विधवा के संरक्षकों को सावधानी के साथ उसकी आन्तरिक भावना का पता लगाकर उसके पुनर्विवाह की व्यवस्था कर देना एक ऐसा उत्तम कार्य होगा। जो भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों के विपरीत नहीं माना जा सकता।

आदर्श स्थिति तो यही है कि पति के मरने पर विधवा पर पुरुष का नाम न ले और न पुनर्विवाह करे जैसा कि धर्म शास्त्रों का मत मालूम पड़ता है और इसी प्रकार स्त्री के निधन पर पुरुष दूसरी स्त्री की न कल्पना करे और न किसी स्त्री के साथ वैवाहिक संबंध बनाये और यदि विवाह करना ही चाहे तो महात्मा गांधी के मतानुसार विधुर को किसी विधवा को ही अपनी संगिनी बनाना उचित होगा। इस विषय में वर्तमान व्यवस्था की चर्चा उपयुक्त स्थान में आगे की जायगी।

नियोग

X नियोग की कुरीति का उद्गम प्राचीन काल में कतिपय दूसरी प्रथाओं के समान किसी सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ देख पड़ता है जिनका लोप कालांतर में असामाजिक बुराइयों के प्रवेश के कारण हो गया। नियोग धर्मशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जो एक क्रिया विशेष का सूचक है, जिसमें पति की पुत्रोत्पादन शक्ति न रहने से अथवा उसके निःसंतान देहावसानके कारण किसी निकटतम सम्बन्धी के द्वारा स्त्री में पुत्र उत्पन्न करने की एक विधि थी। और यद्यपि नियोग की कुछ घटनाओं का महाभारत काल

में और उसके पहिले भी उल्लेख मिलता है तथापि ऐसे प्रसंगों ने प्रथा का रूप कभी नहीं पाया और न वे समाज की सामान्य स्थिति के द्योतक थे।

कतिपय विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद से पता लगता है कि पुरुकुत्सानी ने अपने पति की जीवितावस्था में नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न किया और इसी तरह पुरंध्रि वध्रिमती और विमदा ने अपने पतियों की अक्षमता के कारण नियोग से संतानोत्पत्ति की[७], जिसके प्रमाण में ऋग्वेद के दो मंत्र कहे जाते हैं।[८] परंतु इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का मत है कि यह विवादास्पद है कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के जो मंत्र विधवा विवाह अथवा नियोग के समर्थन में प्रस्तुत किये जाते हैं सचमुच उनसे इन विषयों का कोई सम्बन्ध है।[९] महाभारत तथा स्मृति ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इस प्रकार संतानोत्पादन को कुछ लोग अधर्म नहीं मानते थे।

किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस संस्कृति में पातिव्रत्य और विवाह संस्था के अत्युच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई उसमें प्रत्यक्ष रूप से गर्ह्य नियोग कर्म को स्थान कैसे मिल गया। कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि तैत्तरीय उपनिषद् का यह उपदेश कि 'प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सी:'[१०]—वंश की परंपरा को टूटने मत दो—और 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' पुत्रहीन को सद्गति नहीं मिलती—यह मान्यता इस प्रथा की उत्पत्ति का कारण रही हो। पुत्रोत्पादन धार्मिक कर्तव्य होने से और उसके लिए पुरुष को असमर्थ होने की अवस्था में ऐसी विधि की खोज की गयी जिसमें पातिव्रत्य और विवाह के आदर्श से यथासाध्य विरोध न हो। एतदर्थ नियोग द्वारा संतानोत्पत्ति को अत्यन्त कठोर और एक प्रकार से असंभव नियमों से जकड़ दिया गया। इन नियमों में पहला यह अपेक्षा करता है कि संतान की संभावना बिलकुल न रह जाय उस दशा में स्त्री का ऐसे पर पुरुष के साथ समागम हो जिसका देवर अथवा सपिंड होना अनिवार्य है और जिसका एक मात्र प्रयोजन प्रजोत्पत्ति है। यह कार्य स्त्री स्वेच्छा से नहीं कर सकती बल्कि इसके लिए उसे अपने पति अथवा गुरुजन से आज्ञा और प्रेरणा मिलनी आवश्यक है।[११] सपिंड में भी पति के बड़े भाई का नियोग इस कथन के द्वारा सर्वथा वर्जित किया गया है कि 'यदि बड़ा

७ वी० एस० उपाध्याय : विमेन इन ऋग्वेद

८ ऋ० ४.४२.८.९

९ पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव हिंदू धर्म शास्त्र, पुस्तक २ भाग १

१० तैत्त० उप०, शिक्षा वल्ली १.११.१

११ मनु० ९.५८

भाई छोटे भाई की स्त्री से, तथा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री से निरापद अवस्था में, नियुक्त होते हुए भी गमन करें तो वे पतित होते हैं' ।[१२] जहाँ स्त्री के ऊपर यह नियंत्रण है नियुक्त पुरुष को अपने शरीर में घी का लेप कर और वाणी पर संयम रखकर रात में उस स्त्री के साथ सहवास करना चाहिए। इस विधि का उद्देश्य एक ही पुत्र पैदा करना है दूसरा नहीं।[१३] नियोग-विधि के कुछ पंडित एक पुत्र का होना न होने के बराबर मान कर धर्मपूर्वक दूसरी संतान उत्पन्न करने को भी उचित कहते हैं।[१४] 'नियोग की विधि से स्त्री के गर्भ हो जाने पर उस पुरुष और स्त्री का पारस्परिक बर्ताव गुरु और पुत्र-वधू की तरह होना चाहिए।'[१५] और इस विधि का यह कठोर नियम है कि दोनों ही नियोग की विधि का उपयोग केवल पुत्र की कामना से न कि काम वासना की पूर्ति के लिए करें जो मनुस्मृति के इन शब्दों में व्यक्त हुआ है कि 'नियुक्त पुरुष और स्त्री यदि नियमों के विरुद्ध काम से प्रेरित होकर वर्तें तो वे पतित हो जाते हैं और पुत्र-वधू अथवा गुरु पत्नी के साथ व्यभिचार करने से जो पाप लगता है वही इन्हें लगता है'।[१६]

मनुस्मृति में जहाँ इन वचनों के द्वारा नियोग की विधि बतलायी गयी वहीं उक्त विधि का उल्लेख करके नियोग का निषेध भी कर दिया गया है जिससे जान पड़ता है कि वास्तव में मनुस्मृति में उसकी प्राचीन विधि का अथवा दूसरे व्यवस्थाकारों के मत का उल्लेख मात्र किया गया है और उसका अपना मत इस कथन में प्रकट किया गया है कि 'द्विजातियों को विधवा स्त्री का किसी से नियोग नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से सनातन धर्म का हनन होता है'[१७] और इसके समर्थन में मनुस्मृति वेदमंत्रों का आधार लेकर कहती है कि 'विवाह के मंत्रों में कहीं भी नियोग की चर्चा नहीं है और न विवाह की विधि में विधवा विवाह का ही उल्लेख है'।[१८]

नियोग के जो उदाहरण ऊपर दिये गये वे निःसंदिग्ध नहीं हैं परन्तु उनके अतिरिक्त महाभारत में कतिपय दृष्टान्त मिलते हैं जिससे भारती युद्ध के पहले

---

१२ मनु० ९.५८
१३ वही ९.६०
१४ „ ९.६१
१५ „ ९.६२
१६ „ ९.६३
१७ „ ९.६४
१८ „ ९.६५

नियोग के अस्तित्व का पता लगता है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय नारी इसे बड़ी अनिच्छा से स्वीकार करती थी। विचित्रवीर्य के निःसंतान होने और भीष्म पितामह के आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा के कारण कुरुवंश के अंत हो जाने के डर से सत्यवती और भीष्म ने सम्मिलित प्रार्थना करके व्यास को विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग के द्वारा संतानोत्पन्न करने को तैयार किया और इस तरह अंबिका से धृतराष्ट्र, अंबालिका से पांडु तथा विचित्रवीर्य की दासी से विदुर की उत्पत्ति हुई। अंबिका को व्यास के पास जाने में बड़ी लज्जा का अनुभव हुआ और उसने अपनी आँखों को मूँद लिया और कहा जाता है कि इसीसे उसके गर्भ से धृतराष्ट्र जन्मजात अंधे उत्पन्न हुए, एवं व्यास को देखते ही अंबालिका एकदम पीली पड़ गयी जिससे पांडु जन्म से पांडुवर्ण थे। इसी प्रकार जब निःसंतान पांडु ने पुत्र की कामना से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने का कुंती से अनुरोध किया तो उसने इस कृत्य को अनुचित बतलाया जिससे उसके संतोषार्थ पांडु ने सौदास का दृष्टांत दिया जिसकी आज्ञा से उसकी रानी दमयन्ती ने पहिले वसिष्ठ से नियोग के द्वारा अश्मक नामक पुत्र उत्पन्न किया था[१९]। कुरु वंश की तीनों स्त्रियों के उदाहरण से अनुमान होता है कि नियोग में काम वासना पर संयम रखने का चाहे जो भी प्रयास किया जाता स्त्रियों को वह अग्राह्य था।

नियोग से स्त्रियों को घृणा थी ही उसके लिए निर्दिष्ट संयमित विधि का पालन असाध्य मालूम पड़ा। फलस्वरूप मनीषियों को नियोग की रीति बहुत खटकी और उन्होंने इस पर पूरी तौर पर रोक लगा दी। नियोग को स्पष्टतया अधर्म्य न कह कर उन्होंने यह कल्पना की—जैसा कि बृहस्पति स्मृति से स्पष्ट है कि 'मनु ने नियोग की बात कही तो किन्तु उन्होंने उसका निषेध भी कर दिया; कारण यह कि सत्ययुग और त्रेता में तपोनिष्ठ ज्ञानी पुरुष ऐसा कर सकते थे परन्तु अबके कामासक्त पुरुष ऐसा करने में असमर्थ हैं'।[२०] बृहस्पति स्मृति की रचना के समय मनीषियों में यह भाव जमे हुए जान पड़ते हैं कि उस समय की अपेक्षा प्राचीनतर काल में जितेन्द्रिय महात्मा अधिक होते थे। आज भी इस देश में यह धारणा लोक में वर्तमान है। कुछ लोगों को यह धारणा तथ्य मूलक न भी प्रतीत हो, किन्तु बृहस्पति के कथन से इतना स्पष्ट है कि नियोग की विधि में काम वासना का निरोध असाध्य है। संभव है बृहस्पति के रचयिता को पूर्व के व्यवस्थापकों का मान रखने के लिए ऐसा

१९ म० भा०, आदि पर्व, १२२.२१.२२
२० बृह० स्मृ०

कहना उचित जान पड़ा। सामाजिक सुधार की दृष्टि से उसकी नियोग की भर्त्सना बड़ी सामयिक थी।

जैसा कि बृहस्पति स्मृति का संकेत है मनुष्य की कामचारिता के कारण नियोग का दुरुपयोग अवश्यंभावी प्रतीत हुआ और इसमें सार्वभौम राजा वेन की स्वेच्छाचारिता ने आग में घी का काम किया। उसने वर्णसंकरता को प्रोत्साहित किया और उसके शासन काल में नियोग का बोलबाला हो गया जिससे एक प्रकार से व्यभिचार का द्वार खुल गया। इससे समाज का कल्याण चाहने वाले नेताओं को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने एक स्वर से नियोग को 'पशुधर्म' घोषित करके उसे एकदम निषिद्ध कर दिया।[२१]

सचमुच नियोग में जिस कठोर आत्म-संयम की अपेक्षा बतलायी गयी थी उसकी पूर्ति वसिष्ठ और व्यास के सदृश जितेन्द्रिय महात्मा कर सकते हों जैसा कि बृहस्पति स्मृति का संकेत है परंतु साधारण पुरुषों के हाथ में वह काम वासना की तृप्ति का बहाना मात्र हो सकता था जिससे उसे रोक देना समाज के नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य हो गया। मनुस्मृति और बृहस्पति इत्यादि स्मृतिशास्त्रों ने यह आवश्यक सुधार करके नियोग को सदा के लिए समाज से मिटा दिया।

२१ मनु० ९.६६-६८

अध्याय ११

सती और सती प्रथा

पातिव्रत्य की उदात्त कल्पना से सती प्रथा की उत्पत्ति हुई दिखाई पड़ती है। इसका मुख्य हेतु वाल्मीकीय रामायण में दिये गये सीता के एक वचन में मिलता है जिसे उन्होंने रामचंद्र से उन्हें अपने साथ वन में ले जाने के लिए आग्रह रूप में यह कहा था कि 'मेरी मृत्यु के बाद भी आपके साथ मेरा कल्याणकारी समागम हो, यशस्वी ब्राह्मणों का यह पुण्य मत सुना जाता है कि पिता ने जिसको जल के द्वारा इस लोक में धर्मपूर्वक कन्यादान करके दे दिया उसकी वह मरने पर भी स्त्री बनी रहती है।'[1] वस्तुतः पातिव्रत्य की भावना में यह कल्पना प्राचीन काल से अंतर्निहित है कि पति-पत्नी का संबंध न केवल इहलौकिक है; परलोक में भी अक्षुण्ण रहता है। पति-पत्नी का सहचारित्व, एक दूसरे की अर्धांग भावना और प्रत्येक धर्म कार्य में अनिवार्य सहकारित्व की भावनाएँ हमारी संस्कृति की अत्यंत प्राचीन विचार धारा में ओतप्रोत रही हैं, किंतु जब से पातिव्रत्य के महत्व पर विशेष बल दिया जाने लगा स्त्री को पति का वियोग अधिकाधिक असह्य प्रतीत होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पतिव्रताएँ बिना यह सोचे-विचारे कि विधवा की अवस्था में वे सुख से रह सकेंगी अथवा उन्हें दुःखों का सामना करना पड़ेगा एकमात्र इस दृष्टि से कि पति का वियोग ही उनके लिए सबसे बड़े कष्ट की बात है पति की चिता पर उसके शव के साथ इस संकल्प को लेकर कि परलोक में उसका साथ रहेगा अपना प्राणोत्सर्ग करने लगीं। इसकी एक परंपरा अथवा प्रथा ही पड़ गयी जिसका आधार पातिव्रत का श्रेष्ठ आदर्श था।

ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि भारतेतर कुछ देशों में जैसे प्राचीन यूनान, मिश्र, चीन और जापान में सती प्रथा की चाल थी। किंतु उन देशों में यह प्रथा जिस रूप में प्रचलित थी उस पर विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि उसे सती प्रथा का नाम देना उचित न होगा। उन देशों में पति के शव के साथ विधवा को गाड़ देते थे जिसमें वह बिलकुल अस्वतंत्र थी और उसकी

१ वा० रा०, अयोध्या कांड, २९.१७-१८

इच्छा-अनिच्छा का कोई विचार नहीं किया जाता था। भारतीय सती प्रथा का मूल और प्रधान हेतु पति के साथ स्त्री के उत्कट और अदम्य सहगमन की स्वतंत्र तथा साहजिक इच्छा थी जिसे निकटतम संबंधी भी रोक नहीं सकते थे। अत्यंत उत्कृष्ट उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण इस आत्म-त्याग की समाज में प्रतिष्ठा हुई और सती का यशः सौरभ फैल गया और उसकी पूजा की एक प्रणाली भी चल पड़ी।

ऋग्वेद में सती प्रथा का कोई उल्लेख नहीं है। किंतु अथर्व वेद में इसके अस्तित्व का कुछ संकेत मिलता है। शंख और हारीत स्मृतियों में सती की बड़ी सराहना हुई है, किन्तु मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में जिनका सर्वाधिक प्रचार और मान्यता है सती प्रथा का उल्लेख नहीं पाया जाता। उनमें कहीं यह नहीं कहा गया कि विधवा को अपने पति के साथ चिता में जल जाना चाहिए, प्रत्युत उसका कर्तव्य यह निर्दिष्ट किया गया कि पवित्र जीवन व्यतीत करती हुई वह यावज्जीवन पराये पुरुष का नाम भी न ले।[२] इन स्मृतियों के अनुसार पतिलोक की भावना अर्थात् परलोक में स्त्री का पुरुष से संबंध बना रहता है[३] जो वास्तव में वैसा ही है जैसा वाल्मीकीय रामायण में ऊपर दिखलाया गया है। सती होने के लिए किसी विधवा को विवश करने का कोई लेख समग्र सांस्कृतिक वाङ्मय में कहीं न मिलेगा जो इस बात का प्रमाण है कि आरंभ में उसका अंतःकरण ही उसके उत्सर्ग का एकमात्र हेतु माना गया था।

पतिव्रता जहाँ पति को सबसे बढ़कर मान्यता देती और पूजती थी उसके निधन हो जाने पर बच्चों के लिए जीवित रहना भी अपना कर्तव्य समझती थी। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि जब पांडु के शरीरांत पर माद्री उसके साथ सती हो गयी उसके पुत्र नकुल और सहदेव एवं अपने आत्मज युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को पालने के लिए जो अभी बहुत कम अवस्था के थे, कुंती ने सती न होकर मृत्यु से बढ़कर जीने को समझा। प्राचीन काल में बाल विवाह के अभाव, वीर्य की शक्ति तथा दूसरे कारणों से विधवाएँ कम होती थीं जिससे समाज के सामने पश्चाद्वर्ती युग की कठिनाइयाँ भी नहीं आती थीं, एवं सती होना धर्म अथवा पातिव्रत्य का कोई आवश्यक अंग भी नहीं माना जाता था जिससे कुछ ही स्त्रियाँ पति के साथ सती होती थीं। इसीसे दशरथ के स्वर्गवास पर उनकी कोई रानी सती न हुई। महाभारत में माद्री के

---

२ मनु० ५.१५७

३ याज्ञ० स्मृ० आचार अध्याय, ८७. ७५; मनु० ५. १५६

सती होने के अतिरिक्त कौरव पांडवों की किसी स्त्री के सती होने का दृष्टांत नहीं मिलता। शांतनु के निधन के उपरांत सत्यवती अनेक वर्षों तक जीवित थी और व्यास के उपदेश से उसने अपने अंतिम दिन तपश्चर्या में व्यतीत किये। विचित्रवीर्य की अंबिका और अंबालिका रानियाँ भी सती न हुईं। भारती युद्ध में असंख्य वीरों ने वीरगति पायी, किंतु महाभारत में इसके फलस्वरूप किसी स्त्री के सती होने का उल्लेख नहीं पाया जाता। इसी तरह जब महाभारत युद्ध के बहुत वर्षों के बाद द्वारका में परस्पर लड़कर लाखों यदुवंशी विनष्ट हो गये, द्वारका समुद्र में डूब गयी और श्री कृष्ण भी अंतर्धान हो गये देवकी, रोहिणी एवं कुछ ही और स्त्रियों के सती होने का उल्लेख मिलता है, दूसरी सैकड़ों स्त्रियों ने अर्जुन की संरक्षकता में द्वारका से इन्द्रप्रस्थ चले जाने का ही निश्चय किया।

सती प्रथा कम अथवा अधिक परिमाण में बहुत समय तक चलती रही। भारत आक्रमण के समय अलेक्ज़ंडर को सती प्रथा को देखकर महान् आश्चर्य हुआ था। सिन्धु के तट पर अवस्थित एक नगर पर उसने चढ़ाई की जिसमें बहुत से भारतीय मारे गये और उनकी विधवाओं ने समूह बनाकर सती हो जाना अपने चारित्र्य की रक्षा का उपाय देखा। कह सकते हैं कि सती प्रथा का यह सामूहिक रूप उस 'जौहर' का प्राग्रूप था जिसके लिए राजपूत काल विख्यात है। लगता है कि उन स्त्रियों को आशंका थी कि विजेता उनके सतीत्व का बलात् नाश करेंगे। यूनानी इतिहासकारों के लेख से पता लगता है कि 'यूनानी सेना में केतियस नामक एक भारतीय क्षत्रिय सेनापति था। उसके मरने पर सती होने के लिए उसकी दोनों स्त्रियों में झगड़ा हुआ। अंत में बड़ी स्त्री को गर्भवती होने के कारण सती न होने दिया गया और छोटी स्त्री इस सम्मान को प्राप्त करके आनंद से सती हो गयी।'[४]

भारतीय नारी स्वेच्छा से सती होती थी इसकी पुष्टि यूनानी इतिहासकारों की साक्षी से पूर्णतया होती है। उनको 'इस बात का बड़ा आश्चर्य होता था कि इस तरह देह तजने का मनोधैर्य इन स्त्रियों को कैसे हो जाता है किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि ऐसा देह त्याग वे अपनी खुशी से ही करती हैं।'[५]

यद्यपि पता नहीं लगता कि सती प्रथा में किन बुराइयों का प्रवेश कब हुआ तथापि सातवीं शताब्दी में उसे रोकने की प्रवृत्ति आरंभ दिखाई पड़ती है। बाण (सातवीं शती) का कादंबरी में सती प्रथा का स्पष्ट विरोध इसी

४ सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा, पृ० २४२, अनुवादक : माधवराव सप्रे
५ वही

बात को सूचित करता है। बाण के इस कथन में कि सती न तो पति को नरक में पड़ने से रोक सकती और न उसे नरक से उबार ही सकती है और न सती हो जाने से परलोक में उसे पा ही सकती है, प्रत्युत आत्महत्या करने वाले को जो नरक मिलता है वही उसे भी प्राप्त होता है इस प्रयास की सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रायः उसी समय गालव नरेश के द्वारा अपने पति कन्नौज के राजा गृहवर्मा के मारे जाने पर सम्राट् हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री ने जब सती हो जाने की तैयारी कर ली हर्षवर्धन ने समय पर पहुँच कर उसे इससे विरत कर लिया। बाण के बाद प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि (नवीं शताब्दी) ने भी सती होना वेद-विरुद्ध तथा आत्महत्या के बराबर पाप बतलाया है।

राजपूत काल जहाँ राजपूतों के पराक्रम के लिए प्रसिद्ध है उसकी ख्याति क्षत्राणियों की चारित्र्य-रक्षा के लिए भी सदा बनी रहेगी। राजपूत दुर्गों से निकल कर मुसलमान आक्रमणकारियों से लोहा लेकर अपने विश्वास के अनुसार सीधे स्वर्ग जाते थे तो वीरसू क्षत्राणियाँ दुर्गों में 'जौहर' करके उनका सहगमन करती थीं। एक भी राजपुत्री दुश्मन के हाथ में न पड़े उनकी यह दृढ़ धर्म भावना नारी के इतिहास का एक स्वर्ण पर्व है। पवित्रतम भावनाओं से प्रेरित होने के कारण भारतीय समाज ने जौहर की भूरि भूरि प्रशंसा की है। राजस्थान के राजपूतों में मुसलमान काल में जो 'जौहर' हुए संसार के इतिहास में उनकी तुलना कहीं नहीं मिलती। अनंत काल से नारी-चारित्र्य की रक्षा का जो माहात्म्य चला आ रहा था उस पर संकट आने पर इन पवित्रात्माओं ने आत्म-बलिदान की जो जीती-जागती मूर्ति खड़ी की उसके सामने नत-मस्तक होना ही पड़ता है। पद्मिनी का सतीत्व लेने पर उतर आये अलाउद्दीन खलजी का अन्तिम आक्रमण चित्तौड़ पर हुआ और एक-एक करके वीर राजपूत मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए लड़कर मरने लगे तो कई सहस्र नारियों ने पद्मिनी के साथ जौहर करके अपनी पूर्ववर्ती पतिव्रताओं का अनुकरण किया। जौहर की दूसरी बड़ी घटना १५३५ ई० के लगभग मेवाड़ में ही हुई जब गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने राणा सांगा की मृत्यु के उपरान्त राजपूतों की आपसी फूट से लाभ उठाकर बूंदी के लोइचा शिविर पर राणा विक्रमाजीत को घेर लिया। चित्तौड़ में भी घमासान युद्ध हुआ जहाँ सांगा के छः साल के एक अन्य पुत्र उदयवीर की रक्षा आवश्यक थी। इस युद्ध में जवाहर बाई ने प्रतिरक्षात्मक कुमुक का नेतृत्व करती हुई प्राणोत्सर्ग का अद्भुत नमूना उपस्थित किया। एक ओर वीर राजपूत कट-कट कर भूमिसात् हो रहे

थे दूसरी ओर जौहर की तैयारियाँ हो रही थीं। यह वर्णन रोमांचकारी होगा कि इस स्मरणीय अवसर पर रानी कर्णवती के साथ तेरह सहस्र स्त्रियों ने एक साथ जौहर की अग्नि में प्रवेश करके अपने प्राणों की आहुतियों से हुताशन को तृप्त किया। जौहर वस्तुतः सती प्रथा का सामूहिक रूप था जो चारित्र्य की रक्षा की दृष्टि से भारतीय नारी के आत्मबलिदान का ज्वलंत उदाहरण है।

जिस सती प्रथा की उत्पत्ति तथा विकास के पीछे एक उदात्त आदर्श की प्रेरणा थी भारत की अवनति के दिनों में वही एक कुरीति में परिवर्तित होकर अवांछनीय हो गयी। यह परिवर्तन कब आरम्भ हुआ इसे बतलाना कठिन है पर इतना कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि सती होने में पति के साथ सहगमन की जो पवित्र प्रेरणा तथा एक मात्र अभिलाषा थी उसका स्थान लोक-लज्जा और भावी दुःखों की सच्ची अथवा काल्पनिक आशंका ने ले लिया। इसके अतिरिक्त विधवा की सम्पत्ति अथवा उसके उत्तराधिकार के लोलुप सम्बन्धियों ने उसे न केवल भुलावे में लाकर बल्कि बलपूर्वक सती होने के लिए बाध्य करना आरंभ कर दिया जो सती प्रथा का सर्वांश में विपर्यास तथा अमानवीय क्रूरता में परिणति था।

सती प्रथा के इस अवस्था में पहुँच जाने पर उसे बंद करने की व्यवस्था राजा का कर्तव्य था। सम्राट् अकबर का ध्यान इस प्रथा पर गया और उसने इसको अमानुषिक समझ कर रोकने का प्रयास किया जिसमें उसे थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई। इस दिशा में अहिल्याबाई होलकर और पेशवाओं के भी प्रयत्न सराहनीय रहे। सिख गुरुओं, विशेष कर गुरु अमरदास, ने सती प्रथा की यथेष्ट निंदा की। परंतु इन प्रयत्नों का सार्वदेशिक तथा स्थायी परिणाम नहीं निकला और अपनी इच्छा से अथवा दबाव के कारण पति की चिता पर जल मरने वाली स्त्रियों की देश में कमी नहीं आयी।

सती प्रथा को अंतिम रूप से बंद करने का श्रेय लार्ड विलियम बेण्टिक को प्राप्त है जो अंग्रेजी शासन में भारत का गवर्नर जेनरल था। उसकी आत्मा को सती प्रथा से उत्पन्न दुर्घटनाओं के कारण घोर दुःख हुआ जिससे कानून की व्यवस्था करके उसे रोकने का उसने निश्चय किया। इसे पूरा करने के उपक्रम में बेण्टिक ने ८ नवंबर १८२९ ई० में एक महत्त्वपूर्ण मंतव्य प्रस्तुत किया जिसके निम्नलिखित अंश से तात्कालिक स्थिति और उस पर बेण्टिक की विषादमयी प्रतिक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा है 'To consent to the consignment, year

after year, of hundreds of innocent victims to a cruel and untimely death, when the power exists, of preventing it, is a predicament which no conscience can contemplate without horror....With the firm undoubting conviction entertained upon this question, I should be guilty of little short of the crime of multiplied murder if I could hesitate in the performance of this solemn obligation. I have already been stung with this feeling. Everyday's delay adds a victim to the dreadful list which might have been prevented by a more early submission of the present question.' अर्थात् 'साल ब साल सैकड़ों निर्दोष प्राणियों को क्रूर और अकाल मृत्यु को झोंकते जाने का अभिमत, जब कि उसके निरोध की शक्ति अपने हाथ में ही है एक ऐसी शोचनीय दशा है जिसकी कल्पना विना भयभीत हुए किसी की अंतरात्मा नहीं कर सकती। इस समस्या पर दृढ़ तथा संशयहीन धारणा रखते हुए यदि मैं इस पुनीत कर्तव्य के पालन में हिचकता हूँ तो मुझे बहुतों की हत्या के पाप का अपराधी होना पड़ेगा। इस भावना से मैं मर्माहत हो गया हूँ। एक-एक दिन के विलंब से उस डरावनी तालिका में एक-एक बलि की वृद्धि हो रही है जिसे वर्तमान प्रश्न के और पहले प्रस्तुत कर देने से रोका जा सकता था।'

बेण्टिक के कानून द्वारा सती प्रथा की रोकथाम के प्रस्ताव को धर्म में अनुचित हस्तक्षेप का नाम देकर अपरिवर्तनवादियों ने उसे एक विस्तृत पत्रक देकर उसका घोर विरोध किया। द्वारका नाथ टैगोर (कवींद्र रवींद्र के पितामह) और समाज सुधारकों में अग्रणी राजा राममोहन राय के नेतृत्व में प्रस्तावित व्यवस्था के समर्थन में गवर्नर जेनरल को एक प्रभाव पूर्ण विनय-पत्रिका दी गयी जिसके नीचे लिखे हुए वाक्यांशों से सती प्रथा से उत्पन्न शोचनीय अवस्था पर पूर्ण प्रकाश पड़ेगा :

'Your petitioners are fully aware from their own knowledge and from the authority of credible eye-witnesses that cases have frequently occurred, where women have been induced by the persuasions of their next heirs interested in their destruction, to burn themselves on the funeral pyres of their husbands; that

others who were induced by fear to retract a resolution rashly expressed in the first moments of grief of burning with their husbands, have been forced upon the pile and there bound with ropes and pressed with green bamboos until consumed by the flames; that some, after flying from the flames have been carried back by their relations and burnt to death' अर्थात् 'श्रीमान के अभ्यर्थियों को स्वयं अपनी जानकारी से तथा विश्वस्त प्रत्यक्षदर्शियों के प्रमाण से यह पूर्णतया ज्ञात है कि इस प्रकार की घटनाएँ बहुत बार हुई हैं जहाँ स्त्रियों के विनाश से अपना हित साधने वाले निकटतम उत्तराधिकारियों के भुलावे में आकर वे अपने पतियों की चिताओं पर जल मरीं; दूसरी वे हैं जिन्होंने शोकग्रस्त होने के कारण अपने पतियों के साथ विना विचार किये जल मरने का संकल्प प्रकट किया परंतु बाद में डर के मारे उसे तोड़ देने पर बलपूर्वक चिता पर डाल दी गयीं और वहाँ रस्सियों से बाँधकर अग्नि की ज्वाला में भस्मीभूत हो जाने तक हरे-हरे बाँसों से दबायी पड़ी रहीं; एवं कुछ स्त्रियाँ ज्वाला से निकल भागने पर अपने संबंधियों द्वारा वापस ले आयी जाकर जला दी गयीं।'

सती प्रथा के कारण विधवाओं के प्रति जो निर्दयता वर्ती जा रही थी उससे बहुत से स्वतंत्रचेता पुरुषों के हृदय को अत्यंत आघात पहुँचा था। राजा राममोहन राय उन लोगों में थे जिन्हें इस प्रथा ने सबसे अधिक मर्माहत किया। वे स्वयं भुक्तभोगी थे। सन् १८११ ई० में उनके ज्येष्ठ भ्राता जगमोहन की मृत्यु पर उनकी विधवा ने राममोहन राय के अनुनय-विनय को अनसुनी करके पति की चिता में प्रवेश किया; परंतु अग्नि-दाह से छटपटा कर निकल जाने का प्रयास करते समय उसे कट्टरपंथियों ने बलपूर्वक चिता में झोंक दिया। आँख देखी इस घटना ने राजा राममोहन राय का हृदय विदीर्ण कर दिया और सती प्रथा के उन्मूलन में कृतसंकल्प होकर उन्होंने सब तरह से गवर्नर जेनरल का हाथ मजबूत किया।

सती प्रथा के मूलोच्छेद के हेतु कृतसंकल्प बेण्टिक को समाज सुधारकों का प्रबल समर्थन अत्यंत सामयिक सिद्ध हुआ और उसने ४ दिसंबर १८२९ ई० में एक प्रस्ताव पारित करा लिया जिसके अनुसार सती का प्रयास और उसमें किसी प्रकार की सहायता अथवा प्रोत्साहन नर-हत्या का अपराध निर्धारित हुआ और उसके लिए कारागार और विकल्प में अर्थ दंड अथवा दोनों प्रकार के

दंड का एक साथ विधान किया गया। इस व्यवस्था से असंतुष्ट होकर अपरिवर्तनवादियों ने उसे अवैध घोषित कराने के लिए प्रीवी कौंसिल में अपील की जिसके विरुद्ध पैरवी करने के लिए राजा राममोहन राय को इंगलैंड जाना पड़ा। प्रीवी कौंसिल के न्यायाधीशों ने अपरिवर्तनवादियों की भावनाओं पर ध्यान न देकर धर्मशास्त्र के मंतव्यों के आधार पर उक्त कानून की वैधता का निर्णय देकर सुधार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संपूर्ण बृटिश भारत पर सती-निरोध कानून का तत्काल अच्छा प्रभाव पड़ा। परंतु पंजाब में जहाँ सिखों का उस समय स्वतंत्र राज्य था एवं देशी राज्यों में जिनके आंतरिक मामलों में अंग्रेजी सरकार हस्तक्षेप नहीं करती थी इस सुधार का प्रभाव शनैः-शनैः पड़ा और १८६१ ई० तक राजपूताने में सती की घटनाएँ छिटपुट होती रहीं।

स्वतंत्र भारत में कुछ वर्षों के अभ्यंतर में एकाध सती की घटना समाचार पत्रों में सुनायी पड़ जाती है। परंतु जब इस बात पर ध्यान देते हैं कि हमारा देश कितना विशाल है और सती प्रथा सहस्राब्दियों से परंपरागत सतीत्व के आदर्श की सहचरी के नाम से समाज में स्थान पा चुकी थी तो इन घटनाओं पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। सती की कुरीति न विद्यमान है और न आधुनिक समाज की कोई समस्या रह गयी है।

साधु संतों की समाधि पर उनके प्रति श्रद्धा के समान सती के चौरों पर उसके लिए श्रद्धा और पूजा का आज भी हिंदू समाज में प्रचलित रहना सती के प्राचीन गौरवमय आदर्श का स्मारक मात्र है।

अध्याय १२

परिवार में स्त्री का स्वरूप

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ : स्त्री-धन और उत्तराधिकार

उषा सा नक्ता वृहती वृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ।
तंतुंततं पेशसा संवयंती देवानाम् देवं यजतः सुरुक्मे ॥

यजु० २०.४१

समाज में स्त्री की अभिव्यक्ति जिन विभिन्न रूपों में होती है उनमें उसका पारिवारिक सम्बन्ध उसके विवेक, बुद्धि, कार्यकुशलता और अनेक के बीच शान्ति के साथ सफलतापूर्वक चले चलने की एक कड़ी कसौटी है। हिन्दू परिवार की नारी बहुधा एक परिवार से दूसरे अपरिचित परिवार में एवं एक स्थान और वातावरण से दूसरे स्थान और वातावरण में जाती है जहाँ उसे परिवार वर्ग को अपने स्वभाव और भावनाओं से परिचित कराने और उनकी कठिनाइयों तथा संवेदनात्मक भावों को समझने में ही कुछ समय लग जाता है। यदि परिवार तथा उसमें नूतन प्रवेश पाने वाली स्त्री एक दूसरे की भावनाओं और कठिनाइयों को समझकर उसके अनुसार चलने लगती है तो परिवार की सुख-शान्ति निश्चित रहती है अन्यथा विपरीत कारणों से वह उजड़ जाता है। इस पृष्ठ भूमि में देखना चाहिए कि हमारी संस्कृति में पारिवारिक विषयों में स्त्री के स्वाभिमान को क्या स्थान दिया गया तथा उसके और परिवार के पारस्परिक कर्तव्यों का क्या स्वरूप निर्धारित हुआ है।

स्त्री के पारिवारिक सम्बन्ध के विषय में सबसे प्राचीन निर्देश ऋग्वेद में मिलता है जिसमें उसके स्वाभिमान का पूरा ध्यान रखा गया है। विवाह के अवसर पर वधू को जो आशीर्वाद देने का मंत्र है इस बात का प्रमाण है। उसके इन शब्दों में 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु'[१]—'तुम ससुर की सम्राज्ञी हो, सास की सम्राज्ञी हो, ननदों की सम्राज्ञी हो और देवरों के बीच सम्राज्ञी के समान प्रतिष्ठित हो'

---

१ ऋ० १०.८५.४६

एक ऐसे परिवार की कल्पना की गयी है जिसमें स्त्री का स्थान अत्यन्त सम्मान-पूर्ण है और जहाँ वह घर की रानी मानी जाती है और संभवतः इसी के अनुसार स्त्री को बहूरानी कहकर सम्बोधन की परंपरा चली आ रही है।

'बहूरानी' का ही दूसरा सम्मान सूचक नाम गृहिणी है। परिवार में इस आदरास्पद स्थान को प्राप्त करने के लिए स्त्री के लिए भी आचार संहिता है जिस पर चलना उसके लिए नितान्त आवश्यक है। इसका निर्देश दूसरे प्रकार से प्रायः ऋग्वेद के शब्दों में ही कालिदास के 'शकुंतला' नाटक में मिलता है जिसमें महर्षि कण्व ने शकुंतला को दुष्यन्त के यहाँ विदा करते हुए उसे 'गृहिणीपद' प्राप्तकर कुटुम्ब में शान्ति का राज्य स्थापित करने के लिए यह उपदेश किया है—

> शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
> भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
> भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
> यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

'बड़े लोगों की सेवा करना, सवतों के साथ प्यारी सखी की तरह व्यवहार करना, पति कभी रूखा व्यवहार करे तो क्रोध के आवेश में आकर उबल न पड़ना, अपने जो आश्रित हों उन पोष्यवर्ग के साथ अनुग्रहपूर्वक व्यवहार करना और कभी अपने वैभव का मद न करना; जो युवतियाँ परिवार में इस प्रकार वर्तती हैं उनका सम्मान गृहिणी कह कर होता है और इसके विपरीत चलने वाली कुल के लिए व्याधि रूप हैं'[२] परिवार में सुख और सम्मान चाहने वाली स्त्री के लिए यह एक कभी न व्यर्थ जाने वाला निर्देश है। इसी प्रकार दुष्यंत को प्रेषित कण्व के संदेश में शकुंतला को 'मूर्तिमती सत्क्रिया'[३] की अर्हता देकर स्त्री के प्रति पुरुष के सत्कारपूर्ण व्यवहार को परिवार के अभ्युदय के लिए आवश्यक बतलाया गया है।

मनुस्मृति में लौकिक और पारलौकिक अर्थों की साधना के लिए परिवार में स्त्री के प्रति आदर की आवश्यकता बतलायी गयी है। मनु के इस कथन में कि 'जिस परिवार में स्त्रियाँ शोक किया करती हैं वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और वे जिस परिवार में शोकाकुल नहीं होतीं उसकी सदा वृद्धि होती रहती है, एवं जिस परिवार में नारियों का आदर होता है वहाँ देवताओं का वास होता है

---

२ शाकुंतल ४.१८

३ वही ५.१६

और जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ परिवार के लोगों द्वारा की गयी धार्मिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं"[४] एक सनातन महत्व का सिद्धान्त है जो इस आवश्यकता पर जोर देता है कि परिवार के सदस्यों को स्त्रियों के प्रति इस प्रकार का वर्ताव करना चाहिए जिससे उनके वचन और कर्मों से स्त्रियों के सम्मान को ठेस न लगे, उनके दिल न दुखें और यथाशक्ति उन्हें उनकी आवश्यकताओं का अभाव न खले। शृंगार रस में विशेष अभिरुचि स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है और विशेष अवसरों पर वस्त्र और अलंकार आदि से अपने को सुसज्जित करके वे गौरव का अनुभव करती हैं। इससे उन्हें वंचित करने का प्रयास अनावश्यक ही नहीं उनके असंतोष तथा गृह कलह का प्रायः कारण होता है। अतएव मनुस्मृति में यह कहा गया है कि 'जो लोग सांसारिक कल्याण चाहते हैं उन्हें नित्य तथा सत्कार और उत्सवों के अवसरों पर स्त्रियों को वस्त्र, आभूषण और तरह-तरह के खाद्य पदार्थों से सम्मानित करना चाहिए।'[५] स्मृतिकार का यह कथन केवल उदाहरणार्थ है न कि सीमा निर्देश।

भारतीय परिवार अथवा समाज राष्ट्र का एक छोटा रूप अथवा केन्द्रबिन्दु है जिसमें उसके प्रत्येक सदस्य को इस सीमित क्षेत्र में ऊँचे आदर्शों पर चलने के अवसर नित्य आते हैं। जिस तरह राष्ट्र के नागरिकों के एक दूसरे के हित को दृष्टि में रखते हुए सहयोग के आधार पर चलने से उसे सफल कहेंगे उसी तरह परिवार के लोगों में संतोष, सहिष्णुता, त्याग और परिवार पर संकट आने पर उससे अकेले बच निकलने का प्रयास न करके सबसे पहले उसे झेलने की तत्परता आदि गुणों के उत्कर्ष में उसकी सफलता निहित है। माता संतान के लिए वात्सल्य तथा त्याग की मूर्ति है तो उसके पुत्र और पुत्रियाँ उसे संसार में सबसे अधिक आदरणीय मानते हैं। पति पत्नी को सब प्रकार से सुखी देखना चाहता है तो पत्नी उसे देवता स्वरूप समझती है। देवर भौजाई को पूजनीय मानता है तो वह भी उसके लिए माता के समान स्नेह-स्रोत बनती है। सास पतोहू से सेवा-सुश्रूषा पाती है तो उसे वह वैसा ही स्नेह देती है जो अपनी संतान को देती आयी है।

स्त्री के पद और वयस् का सम्मान आवश्यक है। इस दृष्टि से परिवार की अथवा परिवार के बाहर सम्बन्ध की कई स्त्रियों के प्रति पूज्य-भाव की प्रतिष्ठा हुई है। इसलिए देखेंगे कि जहाँ मनुस्मृति में माता का स्थान पिता

---

४ मनु० ३.५७-५८

५ मनु० ३.५९

और आचार्य से भी ऊँचा माना गया है भाभी, मौसी, सास और बुआ को गुरु-पत्नी के समान मानकर उनके प्रति पूज्य भाव रखने का उपदेश किया गया है तथा बड़े भाई की स्त्री का सम्मान नित्य प्रति करने का आग्रह किया गया है और बुआ, मौसी तथा बड़ी बहिन के प्रति वैसा ही वर्तांव करने की शिक्षा दी गयी है जैसा माता के साथ करनी चाहिए।[६] स्त्रियों के प्रति सांस्कृतिक निर्देश का यह स्वरूप प्राचीन काल से भारतीय जीवन में समाविष्ट हो गया है जिसके दृष्टांत यहाँ दिये जा रहे हैं।

बड़े भाई की स्त्री के प्रति उसके देवर की पूज्य भावना की पराकाष्ठा सीता के प्रति लक्ष्मण की मातृवत् दृष्टि में हुई है जिसे तुलसी दास ने 'सीय राम पद अंकु बराए, चलहिं लखन मगु दाहिन बाए।' पद में व्यक्त किया है। वनवास की यात्रा पर राम और सीता चले जा रहे हैं लक्ष्मण उनके पीछे चल रहे हैं और देखते जा रहे हैं कि उनके पैर सीता और राम के पदचिह्नों पर न पड़ें। वाल्मीकीय रामायण में लक्ष्मण की सीता में श्रद्धा और पूज्य भावना का वर्णन सीता-हरण के प्रसंग में बड़े मार्मिक ढंग से हुआ है। लक्ष्मण का नित्य का नियम था सीता को चरण-स्पर्श करके प्रणाम करना, परन्तु ऐसा करते समय उनकी दृष्टि सीता के पैरों पर ही पड़ती, उनके मुँह की ओर वे सिर नहीं उठाते थे। रावण द्वारा हरी जाती हुई सीता ने आकाश से अपने कुछ आभूषण गिरा दिये थे कि उन्हें देखकर उनकी खोज करते समय व्यथितहृदय राम को कुछ आभास मिल जाय। संयोग से ये आभूषण सुग्रीव के हाथ आये और जब उसकी राम से ऋष्यमूक पर्वत पर भेंट हुई तो उन्होंने लक्ष्मण से उन्हें पहचानने को कहा। लक्ष्मण के इस उत्तर में कि 'मैं न तो केयूरों को पहचानता हूँ और न कुंडलों को ही जानता हूँ, हाँ, नित्य नियमपूर्वक चरणों की वंदना करते रहने से नूपुरों को पहचानता हूँ'[७] वाल्मीकि ने भावज के प्रति देवर के पूज्य भाव एवं उच्च चारित्र्य स्तर का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

शिष्ट परिवार के सदस्यों में परस्पर सुख-दुःख अथवा मनोभावों की अनुभूति, संवेदना और परिवार के कल्योण के लिए यथाशक्ति त्याग के उदाहरण साहित्य में बहुधा पाये जाते हैं। महाभारत में वर्णित इस तरह का एक दृष्टांत कुरुक्षेत्र के उंञ्छवृत्ति[८] ब्राह्मण का प्रस्तुत है जिसके सक्तुप्रस्थ दान

---

६ मनु० २.१३१-१३३

७ वा० रा०, किष्किन्धा कांड, ६.२२-२३

८ 'उंञ्छवृत्ति' = किसानों के अपने खेतों से अनाज काटकर उठा ले जाने पर जो अन्न के दाने भूमि पर पड़े रह जाते हैं उनमें से पक्षियों और भूमिहीन निर्धनों के चुन लेने पर

की समता युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से की गयी है। किसी समय कुरुक्षेत्र में भीषण अकाल पड़ा जिससे उंच्छवृत्ति के द्वारा अन्न का मिलना प्रायः असंभव हो गया। अन्नाभाव के कारण वृद्ध तपस्वी अस्थिपंजर मात्र हो गया और उसकी ब्राह्मणी, पुत्र और पुत्रवधू अत्यंत क्षीणकाय हो गयी। इसी दशा में एक दिन बड़े प्रयत्न से सत्तू प्रस्तुत करके वे लोग उसे खाने ही जा रहे थे कि एक अभ्यागत अतिथि वहाँ आ गया। अपने प्राण का मोह न करके आतिथ्य धर्म का पालन करने के लिए उस ब्राह्मण ने अपना सक्तु अतिथि के आगे कर दिया जिसे पेट में डालते ही उसकी क्षुधा और तीव्र हो गयी। यह देखकर भूख से तड़पती हुई वृद्धा ने भी गृहपति के आतिथ्य धर्म के संपादन में सहयोग देने के लिए अपना भाग पति को देकर उसे अतिथि को समर्पित करने की प्रार्थना की। इस पर ब्राह्मण ने जो भाव व्यक्त किये उनके द्वारा महाभारत के इन शब्दों में 'तुम्हारी दशा देखते हुए किस हृदय से मैं इसे अतिथि को दूँ, कीड़े-मकोड़े, पतंग और पशु-पक्षी भी अपनी स्त्रियों की रक्षा और पालन-पोषण करते हैं, मनुष्य होते हुए मैं ही ऐसा नीच काम क्यों करूँ, पति का यह बहुत बड़ा कर्तव्य है कि वह सब तरह से भार्या की रक्षा करे, ऐसा न करने से उसकी लोक में अपकीर्ति होती है तथा वह अधोगति को प्राप्त होता है, क्योंकि यह नितांत सत्य है कि दारा के द्वारा अर्थ, काम और धर्म की साधना होती है, उससे पति को जो सेवा प्राप्त होती है उसकी समानता अन्य कोई सेवा नहीं कर सकती और प्रजोत्पत्ति का वही केवल साधन है जिससे पति पितृ ऋण से छुटकारा पाता है'[१] न केवल पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य का निरूपण किया गया बल्कि यह निदर्शन भी किया गया है कि पारस्परिक सहानुभूति पारिवारिक संबंधों की एक दृढ़ कड़ी है।

ब्राह्मणी ने अपने पति को जो उत्तर दिया उसमें भारतीय नारी के उदात्त चरित्र की अभिव्यक्ति मिलती है। उसके इस कथन में कि 'मेरे और आपके धर्म बँटे हुए नहीं हैं, स्त्री का बड़े से बड़ा देवता उसका पति है जिससे उसे रति की प्राप्ति होती है और जिसके सहयोग से उसे सत्य और धर्म आदि प्राप्त होते हैं। पति स्त्री का पालन करता है इसीलिए उसे पति कहते हैं और उसका भरण-पोषण करता है इसी से भर्ता कहलाता है, स्त्री को पति के द्वारा ही पुत्र मिलता है जिससे पति से बढ़कर उसे संसार में कोई वरदान देने वाला

जो बच रहते हैं उन्हें एक-एक करके बड़े परिश्रम से संग्रह करने और उसी पर निर्भर रहने को शास्त्रों में उंच्छवृत्ति कहा गया है।

१ म० भा०, आश्वमेधिक पर्व

नहीं है[१०] भारतीय नारी के स्वरूप का एक सजीव चित्रण अंकित है। अनुत्तर होकर वृद्ध ने अपनी स्त्री का सत्तू अतिथि के आगे बढ़ा दिया जिसे वह क्षण मात्र में घोंट गया।

इसी प्रकार पुत्र ने भी पिता के कर्तव्य संपादन में सहकार द्वारा अपने कर्तव्य पालन का आग्रह करके उसे अपना भाग अतिथि को दे देने के लिए सहमत करा लिया। परंतु वह अतिथि आपत्काल में भी सद्‌गृहस्थों को अपने कर्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिए इसकी परीक्षा लेने में लगा हुआ था और उसने ऐसा प्रकट किया जैसे उसकी भूख ज्यों की त्यों बनी हुई है। अपने कर्तव्य पालन में पीछे न रहने की इच्छा से पुत्रवधू ने सक्तु का अपना भाग अतिथि को देने के लिए श्वसुर देव के सामने रख दिया जिससे वह विस्मित होकर कुछ देर तक पुत्रवधू की ओर निर्निमेष देखता ही रह गया और उसके भाग से अपने आतिथ्य सत्कार की पूर्ति को अपने लिए अकार्य बतला कर उसे लेना अस्वीकार कर दिया। परंतु उसकी पुत्रवधू के विनम्र भाव से उपस्थित किये गये इस तर्क से कि 'मैंने बचपन में यह शिक्षा पायी है कि जिस प्रकार 'गार्हस्थ्य धर्म में अर्थ, काम और धर्म एवं गार्हपत्यादि अग्नियों के पृथक्-पृथक् त्रिवर्ग बतलाये गये हैं उसी तरह पुत्र, पौत्र और स्वर्ग का त्रिवर्ग होता है; पुत्र का धर्म इसमें है कि वह अपने कर्तव्य पालन द्वारा पितरों को नरक से उद्धार करता है और पुत्र पौत्रों से अच्छे लोक प्राप्त होते हैं''[११] प्रभावित होकर उंच्छवृत्ति ने क्षुधार्त वधू का सत्तू अतिथि को खिलाकर उसे परितुष्ट किया। इस परिवार के समान ही स्वयं कष्ट झेलकर कुटुंब के हित के लिए उसके स्त्री-पुरुषों के सर्वदा तत्पर रहने के अनेक दृष्टांतों में एकचक्रा के उस धनहीन ब्राह्मण परिवार का है जिसका उल्लेख कुंती के संतान के पथ-प्रदर्शन पर विचार करते समय हो चुका है और जिसमें यह दिखलाया गया है कि इस परिवार के पुरुष और स्त्री सदस्यों ने एक दूसरे के लिए विस्मयकारी होड़ लगा दिया था।

कौटुंबिक संबंध का स्वारस्य स्थिर रखने में स्त्रियों से कितनी सहायता मिलती है यह तथ्य वाल्मीकीय रामायण में उल्लिखित सुमित्रा के लक्ष्मण को दिये गये उपदेश 'रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।

अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम्॥''[१२]

में सूत्र में मणि की तरह पिरोया हुआ है।

---

१० म० भा०, आश्वमेधिक पर्व

११ म० भा०, आश्वमेधिक पर्व, ९०.७०-७१

कण्व के उपदेश 'कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने' का परिपाक सुभद्रा और द्रौपदी के सौहार्दपूर्ण संबंध में मिलता है जिसके अनुसार नए परिवार में आने के समय से सुभद्रा बड़ी सवत के प्रति सम्मान की मूर्ति बन गई। गांधारी के पुत्रों के कारण पांडवों की वधुओं पर जो आपदाएँ आयीं उन्हें भूल कर द्रौपदी, सुभद्रा और दूसरी बहुएँ बड़ी सास की तरह उसकी सेवा में लगी रहती थीं। सास की सेवा करने में द्रौपदी अग्रगण्य थी। वह उसका आदर-सत्कार वचन मात्र से नहीं करती थी बल्कि उसकी सेवा-सुश्रूषा अपने हाथ से करती थी। अनेक दासियों के होते हुए द्रौपदी का कुंती को अपने हाथ से उबटन लगाना एक साधारण बात थी। कुंती भी द्रौपदी को अपने पुत्रों से अधिक प्यार करती थी जिसे उसने कृष्ण से अपनी एक भेंट में इन शब्दों में प्रकट किया 'जनार्दन! द्रौपदी कुलीन है, रूपवती है, और उसमें सब प्रकार के गुण पाये जाते हैं। वह मुझे सब पुत्रों से अधिक प्रिय है।'[१३]

सीता और उनकी सास के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन साहित्य में बहुत हुआ है। कौशल्या के मुँह से निकली हुई रामायण की उक्ति :

'नयन पुतरि कर प्रीति बढ़ाई। राखेउ प्राण जानकिहि लाई॥
कल्प वेलि जिमि बहुविधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रति पाली॥'

पुत्र-वधू के प्रति स्नेहमय आकर्षण की उद्भावना करती है। क्षुद्र और विवेकहीन सास परिवार अथवा पुत्र पर कोई संकट आये तो उसका कुल कारण पतोहू को मानकर सब तरह से उसे अपमानित करने लगती है परंतु सुसंस्कृत सास का आदर्श कालिदास ने कौशल्या और सुमित्रा के उस व्यवहार में चित्रित किया है जिसे वनवास से लौटने पर उन्होंने सीता के प्रति दिखलाया था। इन दोनों सासुओं के सामने पड़ते ही सीता उनके पैरों पर पड़ जाती है और कहती है कि 'मैं बड़ी मंद भाग्य वाली हूँ क्योंकि मेरे ही लिए आर्य-पुत्र को तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़े।'[१४] इसके उत्तर में कौशल्या और सुमित्रा के इस आशीर्वचन में 'भद्रे! तू कल्याणी है। राम और लक्ष्मण सकुशल लौट आये यह तुम्हारे ही पुण्य कर्मों का फल है'[१५] महाकवि ने पुत्रवधू में किसी प्रकार के दोष ढूँढ़ने की चेष्टा न करके उसके गुणों की प्रशंसा करने और

---

१२ वा० रा०, अयोध्या कांड, ४०.१०
१३ म० भा०, उद्योग पर्व, ९०.४३
१४ रघु० १४.५
१५ रघु० १४.६

सहानुभूति सूचक शब्दों से उसके हृदय की व्यथा को कम करने में सास के कर्तव्य का निर्देश किया है।

इस विषय में घर की स्त्रियों के प्रति गृहपति तथा दूसरे पुरुषों के व्यवहार का महाभारत में उपलब्ध एक उदाहरण उल्लेख योग्य है। महाभारत युद्ध की तैयारियाँ प्रायः पूरी हो जाने पर धृतराष्ट्र ने अपने विश्वस्त दूत संजय को उपप्लव्य में युधिष्ठिर के पास उनका रंग रवैया लेने और हो सके तो युद्ध के द्वारा अपना राज्य लेने का विचार छोड़ देने पर उन्हें सहमत करने के लिए भेजा। दौत्य की समाप्ति पर संजय के द्वारा युधिष्ठिर ने एक गंभीर संदेश भेजा जिसमें पारिवारिक संबंध में स्त्री के स्थान का एक महत्वपूर्ण निरूपण समाविष्ट है। अपने इस संदेश में कौरव पांडवों के कटु संबंध तथा नैतिक और राजनैतिक एवं युद्धविषयक अनेक जटिल और गंभीर प्रश्नों की मीमांसा करते हुए युधिष्ठिर का कुलवधुओं के चरित्र तथा नित्य के जीवन पर विशेष रूप से ध्यान जाना इस बात का प्रमाण है कि स्त्रियों का कल्याण गृहपति का एक भारी दायित्व माना गया है। उक्त संदेश में कहे गये युधिष्ठिर के ये शब्द 'संजय! हमारी वृद्ध माताएँ जो सब तरह के गुणों से सम्पन्न हैं उन्हें तथा दूसरी वयोवृद्ध स्त्रियों को हमारा अभिवादन कहकर मेरी ओर से पूछियेगा कि उनके पुत्र और 'जीवपुत्र' उनके प्रति अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन करते हैं या नहीं। यह पूछने के बाद उन्हें बतला दीजियेगा कि अजातशत्रु कुशलपूर्वक है। मेरी ओर से वंश की महिलाओं का कुशल जानकर पता करियेगा कि वे कुलवधुएँ अपने चरित्र की रक्षा करती हुई सब प्रकार के कलंक से बची हुई हैं और अपने श्वसुरों के प्रति पुत्रवधू के कर्तव्य का पालन करती हुई अपने पतियों के प्रति जो पत्नीव्रती हैं, पातिव्रत्य का पालन करती हैं। मेरा आशीर्वाद हमारी कुल वधुओं को सुनाइयेगा जो विभिन्न प्रशस्त वंशों से हमारे कुल में आयी हैं और अपने गुणों से एवं प्रजावती होकर उसकी वृद्धि कर रही हैं। हमारे कुल की पुत्रियों से उनका कुशल पूछ कर उन्हें मेरा आशीर्वाद कहियेगा कि उनके पति कुशलपूर्वक रह कर सदा उनके सानुकूल रहें'—समाज की वर्तमान अवस्था में भी पारिवारिक कल्याण की दृष्टि से सारगर्भित, शिक्षा-प्रद एवं दिशा निर्देशक हैं।

धार्मिक और दूसरे प्रकार के कार्यों तक स्त्री का सहकारित्व कभी सीमित नहीं रहा, बल्कि परिवार की अर्थनीति को निर्धारित नियमित और संचालित करने में उसकी छाप अनिवार्य रूप से दिखाई पड़ती है। यदि यह कहें

---

१६ म० भा०, उद्योग पर्व, ३०.३२-३७

कि घर के भीतर जिसकी वह देवी और शास्ता है पुरुष के ऊपर स्त्री का शासन चलता है तो अतिशयोक्ति न होगी। परिवार का समस्त आर्थिक ढाँचा स्त्री की प्रबंध पटुता, समझ-बूझ और परिस्थिति को देखकर चलने की शक्ति पर निर्भर है। संतुष्ट और बुद्धिमती स्त्री गृहपति की आर्थिक कठिनाइयों में उसका हाथ बँटाती एवं गृह को सुखी और समृद्ध बनाने का सतत प्रयास करती रहती है। इस दिशा में वैदिक काल से भारतीय नारी की प्रवृत्ति का जिस क्षेत्र में सतत संचार देख पड़ता है वह गृहउद्योग और चर्खे का प्रयोग है। इसलिए चर्खे के विकास का विवेचन हमारे अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है।

१९२० में कांग्रेस का नेतृत्व हाथ में लेने के पूर्व महात्मा गांधी अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' के द्वारा अपनी कल्पना के स्वराज्य की एक झाँकी इस देश को दे चुके थे जिसमें स्वावलंबन के सिद्धांत पर बहुत वल दिया गया है। जब उन्होंने असहयोग आंदोलन का प्रवर्तन किया और उसके चतुःसूत्री अभियान में खादी अर्थात् चर्खे पर कते सूत और उससे करघे पर बने वस्त्र की अनिवार्य उपयोगिता पर जोर दिया तो उनका उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा सत्ता का परिवर्तन न था; उनका अंतिम लक्ष्य 'राम राज्य' था जिसका प्रधान लक्षण अहिंसक समाज व्यवस्था और खादी उसका प्रतीक होती। गांधी जी की कल्पना में चर्खा का घर-घर में वही स्थान होता जो चूल्हे का, जैसा कि भारत में किसी समय सैकड़ों वर्षों तक था। वे जानते थे कि यंत्र के संघर्ष में चर्खा उसी अवस्था में टिक सकता है जब वह प्रत्येक घर में अनिवार्यतः प्रचलित हो। इसीलिए वे चाहते थे कि 'जो काते सो पहने और जो पहने सो अवश्य काते।' वेरोजगारी दूर करने अथवा आर्थिक समस्या के समाधान के लिए चर्खे की आवश्यकता है सही, परंतु जहाँ यंत्र घृणा, राग-द्वेष, मत्सर और असहयोग को जन्म देने में सहायक होता है चर्खा आत्म-निर्भरता, निर्वैर और आत्म-सुख की वृद्धि करता है। देश के नेताओं ने आगे चलकर गांधी जी के लक्ष्य को अपनी दृष्टि में कहाँ तक स्थिर रखा यह एक प्रश्न अलग है।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से १९२१ ई० में चर्खा तथा हाथ से कते सूत और हाथ से बुने वस्त्र की जिसे उन्होंने खादी का नामकरण किया देश में बड़ी माँग हुई। उसके पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के काले कारनामों के कारण चर्खे का प्रयोग बहुत कुछ लुप्त हो चुका था और उसके लिए आंदोलन एक नयी वात थी। चर्खे की उपयोगिता पर केवल आर्थिक दृष्टि से विचार करने वाले

अनेक अर्थशास्त्रियों ने उसकी अनुपयोगिता दिखाने में अपने पांडित्य का वड़ा प्रदर्शन किया। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आर्ट्स कालेज के प्रिन्सिपल आनंद शंकर बापू ध्रुव के, जिन की प्राच्यविद्या विषयक बड़ी ख्याति थी, कुछ अत्यन्त प्रगल्भ निवंध प्रकाशित हुए जिनमें उन्होंने वेदों में चर्खे पर सूत कातने की प्रथा पर अच्छा प्रकाश डाला था। खेद है कि इस समय ये लेख हमें अप्राप्य हैं। किन्तु वेदों के प्रसिद्ध ज्ञाता सातवलेकर की विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'वेदों में चर्खा' उपलब्ध है जिसमें उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनेक अवतरण देकर यह सिद्ध किया है कि चर्खे से वैदिक नारियाँ सूत कातती थीं, कर्घे पर कपड़े बुनतीं और तरह-तरह की कढ़ाई करती थीं। इससे भारतीय नारी के इस कार्य-कलाप की परंपरा को समझने में विशेष सहायता मिलती है।

इन मंत्रों में सृष्टि क्रम तथा उससे संबंध रखने वाले सृष्टि के पदार्थों, उनका सौंदर्य और यज्ञ इत्यादि का वर्णन है। इनके अलंकारिक चित्रण में स्त्रियों के सूत कातने, कपड़े बुनने आदि की हृदयग्राही उपमाएँ दी हुई हैं। यह कार्य-कलाप उस समय अस्तित्व में न होता तो उनकी उपमा न बनती। इन उपमाओं के द्वारा मंत्र-द्रष्टा ऋषियों ने अनेक शिक्षा प्रद उपदेश भी दिये हैं। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मंत्रों पर यहाँ विचार किया जाता है।

वैदिक काल की माताएँ अपने बच्चों के लिए तथा स्त्रियाँ अपने पतियों के लिए वस्त्र बुनने में विशेष आनन्द पाती थीं। ऋग्वेद में कहा गया है कि—

'ऋतायनी मायिनी संदधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयंती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्यकवेश्चित् तंतुं मनसा वियंति।'

सरल स्वभाव वाली दो स्त्रियाँ जिन्होंने सन्तान उत्पन्न किये हैं अपने शिशु का पालन करती हुई चर और अचर सबके बीच में रहने वाले सूत का, कवि की मनःशक्ति के साथ, वस्त्र बुनतीं और प्रमाण लेकर बीच में जोड़ती हैं।[१७] इसमें स्त्रियों के दत्तचित्त होकर सूत कातने और कपड़ा बुनने की सूचना मिलती है। यही बात यजुर्वेद के इस मंत्र में पायी जाती है :

'तिस्रोदेवीर्हविषा वर्द्धमाना इंद्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः ॥
अच्छिन्नं तंतुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तीः[१८]।'

---

१७ ऋ० १०.५.३
१८ यजु० २०.४३

अर्थात् सब प्रकार समर्थ देवी मातृभूमि, मातृभाषा और मातृ सभ्यता— ये तीनों वृद्धि करने वाली देवियाँ संतान उत्पन्न करने वाली पत्नियों के समान दूध और हवन से इन्द्र की पूजा करती हुई न टूटने वाला सूत कातती हैं। इस महत्वपूर्ण मंत्र में मातृभूमि, मातृभाषा और अपनी संस्कृति से प्रेम करने का निर्देश मिलता है और यह सूचना प्राप्त होती है कि वैदिक पत्नी दूध और हवन से इन्द्र की पूजा करती थी और बहुत बढ़िया सूत कातती थी। इसी तरह ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में दो बहिनों के एक साथ मिलकर सूत कातने का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि :

'ते मायिनो ममिरे सु प्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यं नव्यं तन्तुना तन्वते दिवि समुद्रे अंतः कवयः सुदीतयः॥'

वे कुशल तथा विचारवान दानी कवि मिलकर एक स्थान से उत्पन्न हुई और एक घर में रहने वाली परस्पर संबद्ध दो बहिनों के कार्य देखते हैं और द्युलोक के समुद्र के बीच में नए-नए सूत तनते हैं।[१९] इसी तरह ऋग्वेद के मंत्र 'वितन्वतेधियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति'[२०] में यह कहा गया है कि 'माता अपने पुत्र के लिए बुद्धि और वस्त्र बुनती हैं।' संतान की बुद्धि बढ़ाने में माता का कितना हाथ है इस पर विस्तार के साथ लिखा जा चुका है। उसकी सूचना इस वेद मंत्र में विद्यमान है। और स्त्री मातृ रूप में जैसे संतान के लिए वैसे ही पत्नी रूप में अपने पति के उपयोग के लिए वस्त्र स्वयं बुन लेती थी यह अथर्ववेद के मंत्र से प्रकट है—

'ये अन्ता यावतीः सिचोथ ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्यो नमुप स्पृशात॥'

अर्थात् जो कपड़े के अन्तिम भाग हैं, जो किनारियाँ हैं, जो बाने हैं और जो ताने हैं इन सबके साथ जो पत्नियों द्वारा बुना हुआ वस्त्र है वह हमारे लिए सुखदायक हो।[२१] ताना बाना तो स्त्रियाँ तैयार करती थीं ही, कसीदाकारी (Embroidery) के विविध कार्य जानती थीं :

'उषा सा नक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघेशूरमिन्द्रम्
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे'[२२]

१९ ऋ० १.१५९.४
२० ऋ० ५.४७.६
२१ अथर्व० १४.२.५१
२२ यजु० २०.४१

'उत्तम दूध देने वाली दो बड़ी और तेजस्वी ऊषा और रात्रि नाम की स्त्रियाँ उत्तम रंगों के साथ फैले हुए ताना पर उत्तम ढंग से वस्त्र बुनती हुई देवाधिदेव बलशाली इंद्र का यजन-पूजन करती हैं।' यजुर्वेद के इस मंत्र में स्त्रियों के रंगीन वस्त्र तैयार करने की सूचना मिलती है। इस में स्त्री की उपमा ऊषा और रात्रि से बड़ी अलंकारिक भाषा में दी गयी है। ऊषा जब प्राची दिशा में रंग-बिरंगे रूप में सज कर प्रकाशमान होती है तो उसे देख कर ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाला मानव हृदय खिल उठता है और उसे प्रतीत होता है कि रात्रि के साथ मिलकर इस अपूर्व सजधज के साथ ऊषा परमेश्वर के चरणों का स्पर्श करना चाहती है।

मंत्र के इन शब्दों में कि 'बड़ी उत्तम दूध देने वाली तेजस्विनी ऊषा और रात्रि ये दो स्त्रियाँ उत्तम रंगों के साथ फैले हुए ताने पर अच्छे ढंग से कपड़ा बुनती हुई देवों के देव प्रतापी इन्द्र की पूजा करती हैं' उत्तम रंगों के ताने पर स्त्रियों के कपड़े बुनने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। मंत्र से यह भी अनुमान होता है कि वस्त्र बुनने में दो स्त्रियाँ लगती थीं और क्योंकि ऊषा और रात्रि का सनातन सम्बन्ध है इससे यह भी अनुमान संभव है कि वस्त्र बुनने के काम में दो स्त्रियों के सहयोग की आवश्यकता होती थी।

वस्त्रोत्पादन में न केवल एक से अधिक स्त्रियाँ मिलकर उद्योग करती थीं कई स्त्रियों के पुरुषों के सहयोग में एक साथ करघे पर काम करने का वर्णन अथर्ववेद के इन मंत्रों में आता है कि—

'तंत्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखं।
प्रान्या तंतूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंजाते न गमातो अंतम ॥
तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेन द्वयत्युद्गृणत्ति पुमानेन द्विजमाराधि नाके ॥'

'भिन्न रूप रंग की दो स्त्रियाँ क्रमशः छः खूटियों वाले ताना के पास आती हैं। उनमें से एक सूत्रों को खींचती है और दूसरी सूत्रों को रखती जाती है। उनमें से कोई भी काम को बिगड़ने नहीं देती और जब तक काम पूरा न हो जाय उसे छोड़ती नहीं, बड़े मनोयोग के साथ नाचने वाली स्त्रियों की तरह उन दोनो में कौन पहली और कौन दूसरी यह मैं नहीं जानता अर्थात् अपनी कला में दोनों एक दूसरी से बढ़कर हैं। इनके अतिरिक्त एक पुरुष इस बाने को बुनता है, दूसरा इसे अलग करता है और तीसरा पुरुष इसे एक अच्छे स्थान में फैला देता है।'[२३]

---

२३ अथर्व० १०. ७.४२. ४३

करघे पर काम करने के बीच यदि कोई पुरुष उसे अधूरा छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाय तो उसे स्त्री ही पूरा कर लेती है। इस आशय को व्यक्त करने वाले ऋग्वेद के मंत्र 'पुनः समव्यद् विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छंक्मधीरः' में कहा गया है कि 'धैर्यवान पुरुष समर्थ होने पर भी काम को बीच में छोड़ कर चला गया और बाद को उस फैले हुए ताने के ऊपर कपड़ा बुनने वाली स्त्री उत्तम प्रकार से बुनती है'[२४] एवं 'सरीस्तंत्रं तन्वते'—सूत का कांम करने वाली स्त्री ताना फैलाती है इस मंत्र में स्त्रियों के सूत के उद्योग की सूचना पायी जाती है।

वैदिक युग में सूत कातना और उससे वस्त्र उत्पादन करना एक आर्थिक महत्व का कार्य था जो यजुर्वेद के इस मंत्र से प्रकट है कि 'तंतुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व' अर्थात् धन का पोषण करने वाले तंतु से धन का पोषण करो।'[२५] इस मंत्र का प्रयोग यज्ञ के प्रकरण में हुआ है जहाँ तंतु यज्ञ-सूत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तंतु यहाँ संपत्ति का वर्धक बतलाया गया है। ध्यान देने की बात है कि तंतु यज्ञ-सूत्र को ही नहीं सामान्य सूत्र को भी कहते हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के इस साक्ष्य से कोई संदेह नहीं रहता कि सूत और ऊन के वस्त्रों के उत्पादन में भारतीय स्त्री अलग-अलग एवं पुरुषों के साथ मिलकर सादे और रंगीन वस्त्र तैयार करती और किनारियाँ और बार्डर निकालती थी और उसका यह कार्य पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था में बहुत महत्वपूर्ण योगदान था।

वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के ब्राह्मण ग्रंथों से भी हमें स्त्री के इस उद्योग का पता मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि 'तद्वा एतत्स्त्रीणां कर्म यदूर्णासूत्रम्'[२७] अर्थात् ऊन और सूत स्त्री का कार्य है।

अनुमानतः वैदिक युग में प्रवर्तित यह कुटीर उद्योग अबाध रूप से आगे चलता रहा जिसका प्रमाण मौर्यकाल में इसके अस्तित्व में मिलता है। कौटिल्य (ई० पू० ४थी शती) के 'अर्थशास्त्र' से ज्ञात होता है कि बुनाई के लिए राज्य की ओर से एक पृथक् विभाग खुला था जिसके अधीक्षक का काम अंधी, लूली, विधवा और प्रोषितपतिका स्त्रियों के पास कातने के लिए रूई भेजने और उनके पास से कते सूत मँगाने की व्यवस्था करना था। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है

२४ ऋ० २. ३८. ४
२५ वही १०. ७१. ९
२६ यजु० १५. ७
२७ शत० ब्रा० १२. ७. २. ११

कि अधीक्षक यह काम स्त्री सहायिकाओं से लेता था जिससे यह भी अनुमान होता है कि राज्य व्यवस्था में स्त्रियों को किसी काम में नियुक्त करके उनकी जीविका का प्रबंध किया जाता था। अर्थशास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि जिन स्त्रियों की जीविका का कोई साधन नहीं होता अथवा जिनके पति परदेश में होते, तथा जो विधवा अथवा अंगहीन होतीं उन स्त्रियों के यहाँ से विभागाध्यक्ष अपनी दासियों के द्वारा सूत का संग्रह करा लेता था। अर्थशास्त्र में इस शासकीय आदेश का स्पष्ट उल्लेख इन शब्दों में हुआ है 'याश्चानिष्काशिन्यः प्रोषितपतिका विधवान्यङ्गाः कन्यकाऽवाऽऽमानं बिभृयुः ताः स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः।'[२८]

परिवार की अर्थ व्यवस्था में स्त्री सूत कातकर किस प्रकार सहायक होती थी इसका पालि साहित्य के एक ग्रंथ में एक बड़ा ही अर्थ सूचक विवरण मिलता है। किसी स्त्री का पति मृत्यु शय्या पर पड़ा हुआ घर की आर्थिक स्थिति से बहुत चिंतित था। उसकी स्त्री ने उस समय उसे इन शब्दों में आश्वासन दिया कि 'कुसलाहं गहपति कप्पासं कंतितुं वेणि मोलिखितुं सक्काहं गहपति तवाचयेन दारके पोसेतुम्'—'गृहपति! मैं सूत कातने और कपड़े बुनने में कुशल हूँ, मैं बाल-बच्चों का भरण-पोषण कर लूँगी।' अनाथ विधवाओं के लिए ज़ीविका का बहुत समय तक यह एक अच्छा साधन माना जाता था। मनुस्मृति में पति के मरने के बाद विधवा का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह पर पुरुष का नाम भी न लेकर फल, मूल, पुष्प पर निर्भर रहकर शेष जीवन व्यतीत करे।[२९] इस कथन में सूत की कताई-बुनाई का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है किंतु मनुस्मृति के इस श्लोक की टीका करते हुए मेधातिथि (नवीं शती ई०) ने लिखा है कि जिस स्त्री का पति मर गया हो, जिसे कोई संतान न हो और न पति की छोड़ी हुई कोई संपत्ति हो उसे सूत इत्यादि कात कर जीवन यात्रा चलानी चाहिए।[३०] इससे यह बात असंदिग्ध है कि मेधातिथि के समय में स्त्रियों के सूत कातने की रीति प्रचलित थी।

इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वैदिक युग में सूती वस्त्र ही नहीं बल्कि ऊनी और रेशमी वस्त्र भी बनते थे और उनमें रंग-बिरंगे बॉर्डर भी लगाये जाते थे। तरह-तरह के महीन-से-महीन और मनोहर वस्त्र बनाने का प्रचार उत्तरोत्तर होता गया होगा जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्त्रों की

---

२८ कौटिल्य : अर्थशास्त्र २. २३

२९ मनु० ५. १५७

३० वही, मेधातिथि की टीका

माँग पूर्व में बृहत्तर भारत अर्थात् सुमात्रा, जावा, बाली इत्यादि द्वीपों में और पश्चिम में रोम साम्राज्य में एक सुदीर्घ काल तक जारी थी। यह उद्योग भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनाधिरूढ़ होने तक बना रहा। हमारे वस्त्रों के आगे यूरोप के बने कपड़े वहाँ वालों को जँचते ही न थे। इससे इंगलैंड के वस्त्र व्यवसाय को बड़ा धक्का लगा, क्योंकि लंकाशायर के मिलों के कपड़े यहाँ के वस्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में टिक न सके। फलतः वृटिश सरकार ने अपने यहाँ भारतीय वस्त्र की आयात को रोकने के लिए कड़े प्रतिबंध लगाये और ईस्ट इंडिया कंपनी ने हमारे यहाँ के कारीगरों पर ऐसे क्रूर अत्याचार किये कि उसकी कालिमा कभी धुल नहीं सकती। इस विषय में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि कंपनी के कर्मचारियों ने बंगाल के सुनिपुण जुलाहों के हाथ अथवा अँगूठे कटवा डाले जिससे न केवल उत्तम वस्त्रों का बनना बन्द हो गया वरन् जहाँ भारतवर्ष दूसरे देशों को वस्त्र भेजता था परमुखापेक्षी होकर अपने तन ढकने के लिए लंकाशायर और मैनचेस्टर की मिलों पर आश्रित हो गया।

भारत की वस्त्र सम्बन्धी यह स्थिति इस शताब्दी के आरंभ अथवा बंग भंग आन्दोलन के आरंभ तक चली आयी जब लार्ड कर्जन के बंगाल के दो टुकड़े करने पर एक महान् जन जागरण हुआ। १९०५-६ में जब इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण किया और विदेशी बहिष्कार से स्वदेशी की ओर लोग आकृष्ट हुए उस स्थिति में परिवर्तन होने लगा। किन्तु इस आन्दोलन में चर्खे से सूत कातने की चर्चा न थी। देश के कुछ भागों में सूत काते जाते थे किन्तु चर्खे की पुनः प्रतिष्ठा तो महात्मा गांधी ने की जिसका उल्लेख प्रस्तुत कर चुके हैं। असहयोग आन्दोलन के चार महामन्त्रों में विदेशी वस्त्र बहिष्कार था जिसके दो अंग थे, संहारात्मक और रचनात्मक। विदेशी वस्त्रों के विरुद्ध लोकमत बनाने के लिए सैकड़ों स्थानों में इन वस्त्रों की होली जलायी गयी और स्वदेशी वस्त्र के उत्पादन के लिए चर्खे के प्रचार पर अत्यधिक जोर दिया गया। खादी एक राष्ट्रीय निधि के रूप में मान्य हुई और चर्खे की प्रतिष्ठा सुदर्शन चक्र के रूप में स्थापित हुई। कांग्रेस के कार्यकर्ताओं के लिए हाथ के कते और करघे पर बुने खद्दर का उपयोग अनिवार्य कर दिया गया। मिलों में कते सूत अथवा उनके कपड़े स्वदेशी की परिभाषा में नहीं लिए गये। चर्खा स्वराज्य प्राप्ति का एक बहुत बड़ा साधन माना गया और शुद्ध खादी अभय और चरित्र का द्योतक बना। चर्खे के द्वारा सूत के उत्पादन में भारतीय नारी ने सदा से चली आती हुई अपनी निष्ठा का पालन सच्चे मन से आरंभ कर दिया।

इस स्थिति और परिवर्तन का एक साधिकार वर्णन गांधीभक्त राजेन्द्र

बाबू (भूतपूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद) ने अपने ग्रन्थ 'बापू के कदमों में' में समाविष्ट किया है जिस का प्रासंगिक अंश यहाँ अविकल दिया जाता है 'देश की स्थिति यह थी कि बहुत जगहों में चर्खे चलते थे, जिनके द्वारा तैयार हुए सूतों से बहुत प्रकार के कपड़े बना करते थे। बहुत जगहों में तो मोटे-मोटे ही सूत निकला करते थे जिससे मोटे कपड़े ही तैयार हुआ करते थे। पंजाब के बहुत घरों में चर्खा चला करते थे, पर सूत बहुत करके खेस जैसी चीजों के बनाने में ही खर्च होता था। राजपूताना में भी मोटा कपड़ा ही ज्यादा करके बनता था। पर कहीं-कहीं महीन सूत भी बनता था, जैसे आंध्र में। वहाँ का महीन सूत का कपड़ा बहुत ही प्रसिद्ध था। इसी तरह बिहार में एक विशेष प्रकार की रूई हुआ करती थी जिसका रंग बहुत ही सुन्दर होता था। उससे बहुत महीन सूत कात कर बहुत ही मुलायम और खुशरंग कपड़ा बना करता था, जिसे कोकटी कहते हैं। नेपाल राज्य में कोकटी का बड़ा आदर था। विशेष करके नेपाल राज्य से मिले हुए दरभंगा जिले में कोकटी बहुत बना करती थी। नेपाल के प्रोत्साहन से ही यह कपड़ा बनता था। पर यह होते हुए भी यह कहना अत्युक्ति नहीं कि चर्खा प्रायः लुप्त हो चुका था, दिन-दिन लुप्त होता जा रहा था।'[३१]

आरंभ में गांधी जी ने चर्खे को स्वतंत्रता संग्राम का एक महान् अस्त्र बना करके राजनीति से उसे जोड़ा तो था पर इसकी आर्थिक उपयोगिता पर उनकी दृष्टि आरंभ से ही थी। जैसा आरंभ में कह चुके हैं बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों के खादी की अव्यावहारिकता का उद्घोष करने पर भी महात्मा गांधी अपने इस सिद्धान्त पर अटल रह कर बढ़ते गये कि कृषि प्रधान भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश के लिए खादी एक अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी कुटीर उद्योग है। इससे बेकारों तथा दीन-दुःखियों को आर्थिक सहायता तथा उसके साथ स्वावलंबन की शिक्षा मिलती है। इस लक्ष्य में स्त्रियों की दशा का उन्हें विशेष ध्यान था। आगे चल कर गांधी जी ने खादी को राजनीति से परे रखने के लिए अखिल भारतीय चर्खा संघ नामक संस्था की स्वतंत्र स्थापना कर दी और आज खादी इतनी उन्नत अवस्था में है कि वह मिल के बने बढ़िया से बढ़िया वस्त्रों से होड़ ले सकती है। सरकार भी खादी उद्योग को हर तरह के प्रोत्साहन दे रही है। स्वयं गांधी जी ने चर्खे में बहुत कुछ सुधार कराया था और स्वतंत्रता के बाद अम्बर चर्खा के रूप में वह कम समय में अधिक से अधिक सूत निकालने तथा दूसरे प्रकार भी और अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इस उद्योग से सहस्रों

३१ राजेन्द्र प्रसादः 'बापू के कदमों में', पृ० १८४-८५

निरालंब नारियों की जीवन वृत्ति चल रही है और इससे वह शृंखला जारी है जिसका सूत्रपात भारतीय संस्कृति के उषःकाल में हुआ था। परन्तु भारत औद्योगीकरण की ओर तेजी से बढ़ रहा है और इस यंत्र युग में चर्खे को इस संघर्ष के कारण खतरा उत्पन्न होने की पूरी आशंका है। इस खतरे से चर्खे की रक्षा भारतीय नारी ही कर सकती है। क्या ऐसी आशा की जाय ?

स्त्री-धन और उत्तराधिकार

सभी प्रकार की संपत्ति के उपार्जन, उसके स्वामित्व एवं उत्तराधिकार (Inheritance) का अधिकार पुरुष के समान स्त्री को भी प्राप्त हो यह समाज की आदर्श स्थिति माननी चाहिए। परिस्थितियों अथवा समाज की अवस्था के कारण उसमें बहुत कुछ न्यूनाधिक्य आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो सकता है, परन्तु उस संस्कृति को निम्न स्तर की समझना चाहिए जिसमें नारी के लिए इस प्रकार के विधान का सर्वथा अभाव हो अथवा इतना संकीर्ण हो कि उसे नगण्य कहने में अतिशयोक्ति नहीं।

वैदिक काल के आरंभ में पुरुष और स्त्री का विभेद संपत्ति के विषय में नहीं था, कम से कम पति और पत्नी के सम्बन्ध में यह एक तथ्य था जिसकी ओर आपस्तंब धर्म सूत्र के इस निर्देश में स्पष्ट संकेत है कि विवाह के समय से पति और पत्नी सम्मिलित रूप से धर्म कार्य किया करें, सम्मिलित रूप से इन कार्यों का फल प्राप्त करें और पारिवारिक सम्पत्ति पर दोनों का अधिकार हो तथा आवश्यकता पड़ जाने पर पति की अनुपस्थिति में पत्नी उसमें से दान भी कर सकती है।[३२] इतना उदार तथा व्यापक अधिकार स्त्री को किसी संस्कृति में प्राप्त था इतिहास इसका पता नहीं देता। सम्मिलित संपत्ति में पति के समान पत्नी का यह तुल्याधिकार वैदिक नारी के स्वतंत्र वातावरण के सर्वथा अनुरूप था।

परन्तु यह ज्ञात नहीं कि पति के मरने पर उस सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी स्त्री को प्राप्त था अथवा नहीं। संभवतः काणे का यह अनुमान सयुक्तिक है कि अत्यंत प्राचीन काल में पति की उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी नहीं हुआ करती थी, जिसके लिए उन्होंने कालिदास के शकुंतला नाटक में उल्लिखित पुत्रहीन सेठ के निधन पर उसकी स्त्री को दाय न देने के निर्णय को आधार माना है।[३३] कालिदास का वर्णन यों है कि समुद्र से व्यापार करने वाले सार्थवाह

---

३२ आप० ध० सू० २.६.१३.१७-१९

३३ पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, भाग १, पृ० ५८२

धनमित्र सेठ के सामुद्रिक दुर्घटना में निःसंतान मर जाने पर उसकी विशाल संपत्ति के उसकी सेठानी को जाने के स्थान पर दुष्यंत के अमात्य ने उसे राज्य कोश में मिला लेने की राजाज्ञा माँगी। दुष्यन्त की इस आज्ञा में कि धनमित्र की विधवाओं में कोई गर्भिणी है इसका पता लगाया जाय[३४] पत्नी के उत्तराधिकार के अभाव की सूचना मिलती है। जान पड़ता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति की भारतीय व्यवहार शास्त्र में प्रधानता प्रतिष्ठित होने के पूर्व एक सुदीर्घ काल तक स्त्री के उत्तराधिकार की बहुधा यही स्थिति थी, क्योंकि यद्यपि गौतम ने पुत्रहीन की सम्पत्ति पर उसकी विधवा का अधिकार स्वीकार किया है,[३५] परन्तु आपस्तव, मनु और नारद ने ऐसा नहीं माना है और यह उल्लेख योग्य है कि कौटिल्य का भी यही मत है।

दायभाग और मिताक्षरा

भारत के १९४७ में स्वतंत्र होने के पूर्व के तथा पश्चात् के दशक में भारतीय नारी के उत्तराधिकार के विषय में दो-तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनसे उसका यह अधिकार क्षेत्र विस्तृत हो गया है। किन्तु उसके पूर्व भी प्रायः दो सहस्र वर्षों से भारतीय नारी का सापंत्तिक अधिकार उदार रहा है। जहाँ अधिक प्राचीन काल की अपेक्षा उसके वेदाध्ययन तथा स्वतंत्र रूप से धार्मिक कार्यों के संपादन में अपर काल में संकीर्णता आती गयी, इस द्विसहस्राब्दि में उसके सांपत्तिक अधिकारों में वृद्धि आयी।

हिन्दू व्यवहार शास्त्र के दो मुख्य संस्थानों—जीमूतवाहन के 'दायभाग' और विज्ञानेश्वर की 'मिताक्षरा'—ने इस व्यवहार-विकास में प्रमुख कार्य किये। याज्ञवल्क्य स्मृति जो मिताक्षरा का आधार धर्मशास्त्र है स्त्री की संपत्ति के विषय में उदार धारणाओं की प्रतिष्ठापिका है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दायभाग की मान्यता बंग देश में तथा मिताक्षरा की शेष भारत में निर्बाध रूप में रही है और उपर्युक्त वैधानिक परिवर्तनों के साथ आज भी समाज तथा न्यायालयों में बर्ती जा रही है।

संमिलित परिवार की सम्मिलित संपत्ति और उसमें उत्तराधिकार की व्यवस्था मिताक्षरा की अपनी विशेषता है जो दाय भाग में मान्य नहीं है। मिताक्षरा के अनुसार पुत्र और पौत्र को पैतृक सम्मिलित संपत्ति में जन्मतः और सदस्यों के समान अधिकार प्राप्त हो जाता है और इस प्रथा में केवल कतिपय पुरुष ही परिगणित होते हैं, जिससे उक्त वैधानिक परिवर्तन के

---

३४ शाकुंतल, अंक ६
३५ गौत० ध० सू०

पूर्व की स्थिति में किसी सदस्य के मर जाने पर उसका स्वत्व परिवार के शेष जीवित पुरुष सदस्यों को प्राप्त होता है और उसकी उत्तराधिकारिणी मृत की माता, पुत्री अथवा अन्य कोई स्त्री नहीं होती। परंतु दायभाग को पिता की सम्पत्ति में पुत्र को जन्मना स्वत्व प्राप्ति स्वीकार नहीं है और न पिता अथवा पितामह के जीवन पर्यन्त पुत्र उस संपत्ति का विभाजन करा सकता है। पिता के अधिकार की समाप्ति पर जो उसके निधन, संन्यस्त अथवा पतित हो जाने पर निर्भर है उसके पुत्र उसका विभाजन कर सकते हैं अथवा स्वेच्छा से पिता स्वयं विभाजन कर सकता है। दायभाग के अनुसार पति के निधन पर उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार उसकी पत्नी को प्राप्त हो जाता है, वह अपने भाइयों के सम्मिलित ही क्यों न मरा हो। मिताक्षरा के अनुसार यद्यपि सम्मिलित संपत्ति का दाय पत्नी को प्राप्त नहीं होता पति की निजी संपत्ति उसके पुत्रहीन मरने पर उसकी पत्नी को मिलती है, यहाँ तक कि पुरुष दायादों की अपेक्षा स्त्री दायादों को प्राथमिकता दी गयी है, क्योंकि पत्नी, पुत्री, माता और माता महीं इत्यादि दायादों के क्रमशः अभाव में ही मृत के पिता, भाई इत्यादि पुरुष दायादों को उसका धन मिल सकता है। दौहित्र अथवा पुत्री का पुत्र मात्र इसका अपवाद है जो पत्नी और पुत्री के वाद ही आता है, परंतु यह ध्यान देने की वात है कि वह पुत्र की श्रेणी में आता है और उसका संवंध पुत्री अर्थात् नारी के द्वारा ही उत्पन्न होता है। दायभाग में विधवा, पुत्री, माता, मातामही, प्रमातामही उत्तराधिकारिणी मानी गयी हैं, इनके सिवाय अन्य किसी स्त्री का उत्तराधिकार उसे मान्य नहीं है।

स्त्री-धन

उपर्युक्त नियमों के अनुसार किसी नारी को दायस्वरूप जो धन उपलब्ध होता है उसमें उसका सर्वाधिकार नहीं होता, यावज्जीवन उसका वह उपभोग कर सकती है, किंतु उसे न नष्ट कर सकता और न बेच सकती है; निर्दिष्ट आवश्यकताओं के लिए उसे वंधेज रख सकती अथवा विक्रय और अंशतः दान भी कर सकती है। परंतु इस प्रकार की संम्पत्ति के अतिरिक्त हिंदू नारी को चाहे वह विभाजित परिवार की हो अथवा अविभाजित, एक प्रकार की संपत्ति में सर्वाधिकार प्राप्त है जिसकी शास्त्रानुसार पारिभाषिक संज्ञा 'स्त्री-धन' है। इस पर स्त्री का संपूर्ण अधिकार है जिसे वह न केवल उपयोग में ला सकती है वंधेज, विक्रय और दान इत्यादि से पृथक् भी कर सकती है। उसके इस अधिकार में उसका पति अथवा अन्य

कोई संबंधी किसी प्रकार का न्यायतः हस्तक्षेप नहीं कर सकता।[३६] स्त्री धन का उत्तराधिकार भी पुरुष की संपत्ति के उत्तराधिकार से भिन्न नियमों पर आधारित है, जिसमें पुरुष की अपेक्षा नारी दायाद को प्राथमिकता प्राप्त है। कौन-कौन-सा तथा किस उद्गम से संप्राप्त धन 'स्त्री धन' कहलाता है इसके विषय में स्मृतिकारों, टीकाकारों और दायभाग एवं मिताक्षरा व्यवहार शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में थोड़ा बहुत अंतर है। परंतु हम कह चुके हैं कि स्त्री धन की उत्तराधिकारिणी प्रथमतः स्त्री ही होती है, जो उसकी एक विशेषता है, उदाहरणार्थ साधारणतः स्त्री धन का उत्तराधिकार क्रमशः कुँवारी कन्या, विवाहिता किंतु असंपन्ना पुत्री, संपन्ना विवाहिता पुत्री और पुत्री की पुत्री को प्राप्त होता है और ऐसे दायादों के अभाव में ही वह क्रमशः दौहित्र, पुत्र और पौत्र एवं पति और उसके दायादों को जाता है। इसे स्त्री के सांपत्तिक अधिकार की दृष्टि से मौर्यकालीन स्थिति से उदार परिवर्तन मानना होगा क्योंकि कौटिल्य ने स्त्री धन का उत्तराधिकार पुत्र और पुत्री को समान रूप से दिया है।[३७] स्त्री धन की याज्ञवल्क्य के मतानुसार यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उस पर से स्त्री के स्वत्व का अपहरण 'विरुद्ध अधिग्रहण से नहीं हो सकता।'[३८]

यह प्रायः निश्चित है कि संपत्तिविषयक स्त्री के अधिकारों में पूर्वापेक्षा पश्चाद्वर्ती समयों में उदार विकास हुए हैं। क्योंकि यद्यपि जैसा आपस्तंव के निर्देश से ज्ञात होता है संपत्ति पर स्त्री का पुरुष के समान अधिकार अत्यंत प्राचीन काल में पाया जाता है तथापि वह पुरुष की उत्तराधिकारिणी मानी गयी इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं पाया जाता। अपितु ऋग्वेद के इस मंत्र से कि 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्'[३९] हमें ज्ञात होता है कि पिता के धन का दाय पुत्र ही को मिलता था, उसके रहते उसमें पुत्री को कोई अंश नहीं मिलता था।

मिताक्षरा धर्मशास्त्र में अंत में व्यवस्था स्थिर हुई कि पुत्र हीन पति की प्रथम उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी है। इस मत के प्रतिपादक प्रधानतः कात्यायन, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ हैं। पत्नी के पश्चात् क्रमशः पुत्री, माता, मातामही के अभाव में ही मृत के पिता, भाई इत्यादि दायाद माने गये हैं। जब कि ऋग्वेद में सर्वस्व दाय पुत्र लेता है और उसकी बहन उसमें भाग नहीं

३६ याज्ञ० २. १४७
३७ अर्थशास्त्र ३. २
३८ याज्ञ० २. २५
३९ ऋ० ३.३१.२

पाती, मनुस्मृति की व्यवस्था है कि अपनी बहन के विवाहार्थ सब भाई अपने-अपने अंश का एक चतुर्थ दें और जो भाई ऐसा न करे वह पतित है।[४०] यह दायित्व भाइयों की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ दिया गया है। याज्ञवल्क्य (२. १४७) की टीका में मिताक्षरा ने स्पष्ट विधान कर दिया है कि संपत्ति का विभाजन करते समय भाइयों को एक चतुर्थ भाग बहिन के विवाह के निमित्त अलग कर देना चाहिए।

हिंदू नारी के सांपत्तिक एवं दाय संबंधी अधिकारों की उत्तरोत्तर जिस प्रकार वृद्धि हुई है उसे देखते हुए कह सकते हैं कि हमारे व्यवस्थापकों की दृष्टि न केवल अनुदार नहीं थी, नारी के प्रति उदार और प्रगतिशील रही है। इंगलैंड के तत्संबंधी विधान के देखने से यह उदारता स्पष्ट हो जाती है। जहाँ भारतीय नारी के स्त्री धन के विषय में उसका पति किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता, अंगरेजी विधान के अनुसार विवाहित स्त्री के सम्पत्तिविषयक अधिकारों में सुधार के लिए पारित अधिनियम १८८२ के पहले विवाह संबंध मात्र से पति को पत्नी के जीवनपर्यंत के लिए उस संपत्ति में (Freehold Estate) प्राप्त हो जाता था जो पत्नी को मातृकुल से उत्तराधिकार में मिलता, तथा आजीवन स्वत्व स्त्री के उस धन में मिलता था जो पत्नी को विवाह के समय अथवा वैवाहिक संबंध बने रहने के काल में प्राप्त होता और पत्नी की वैयक्तिक चल संपत्ति में पति को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।[४१]

---

४० मनु० ९. ११८

४१ Married Women's Property Act, 1882

अध्याय १३

हिन्दू-शासन में नारियों की राज्य शक्ति

समाज में नारी की प्रतिष्ठा उसके गृहस्वामिनी के रूप में है और घर उसका प्रधान कार्य-क्षेत्र बतलाया गया है जहाँ उसके मातृत्व में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के भाग्य का समुदय और विकास होता है।

परन्तु देश को जब कभी उसकी आवश्यकता पड़ी, भारतीय नारी ने घर के अपने राज्य के बाहर बृहत्तर क्षेत्र में शासन के सूत्र ग्रहण किये और मातृभूमि के लिए सेना का संचालन अपने हाथ में लिया।

इस संदर्भ में हमारा ध्यान सर्वप्रथम उन वैदिक संस्थाओं पर जाता है जिन्हें 'समिति', 'सभा' और 'विदथ' कहते थे। समिति और सभा निश्चित रूप से राष्ट्रीय संस्थाएँ थीं जिनमें से समिति एक प्रकार से आधुनिक लोकसभा की पूर्ववर्ती रूप थी जिसमें राष्ट्र के राजनीतिक विषयों पर विवेचन किये जाते थे और सभा एक क्षेत्रीय संस्था थी जो ग्रामों तक सीमित थी और जिसमें स्थानिक एवं राजनीतिक विषयों के अतिरिक्त न्याय शासन की व्यवस्था होती और जिसके द्वारा गोष्ठियाँ और तरह-तरह के मनोरंजन प्रस्तुत होते रहते। यज्ञों का सम्पादन एक साधारण बात थी जिसके अभ्यंतर में यज्ञों के रूप और महत्व की मीमांसा होती, प्राचीन आख्यान, 'नाराशंसी' इत्यादि सुनने-सुनाने और भाषणों की चाल थी और इसका एक रूढ़ि नाम विदथ था। सभा में उस काल में स्त्रियों के सम्मिलित होने का स्पष्ट साक्ष्य मैत्रायणी संहिता के इस निषेध वाक्य में मिलता है कि 'तस्मात् पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः'—इसलिए सभा में पुरुष ही जाते हैं स्त्रियाँ नहीं[1] और उनके विदथ में भाग लेने का प्रमाण ऋग्वेद के 'तुम साधिकार विदथ में वक्तृता दोगी'[2] मंत्र में पाया जाता है जिसका विवाह के अवसर पर वधू को संबोधन करते हुए वर उच्चारण करता है। इतना ही नहीं, विदथ के अतिरिक्त, तैत्तरीय संहिता से उस युग की एक

---

१ मैत्र० सं० ४.७.१

२ 'वशिनी त्वं विदथमावदासि' ऋ० १०.८५.२६

पृथक् स्त्री संस्था के अस्तित्व का पता मिलता है, जहाँ स्त्रियाँ नारी विषयक समस्याओं एवं उनके अधिकार और कर्तव्यों पर विचार-विमर्श करतीं।[३]

अध्यात्मविषयक सम्मेलनों का उल्लेख 'छांदोग्य उपनिषद्' में आता है जिनमें पुरुषों के साथ तत्वान्वेषण में अभिरुचि रखनेवाली स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। इस प्रसंग में गार्गी और सुलभा के नाम आते हैं।

बौद्ध साहित्य में संघमित्रा तथा दूसरी भिक्षुणियों के धर्म प्रचारार्थ परिभ्रमण और ईसवी छठी शताब्दी में मंडन मिश्र और शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में उभय भारती के मध्यस्थता करने से यह निःसंकोच कह सकते हैं कि उस पुरानी परंपरा का क्रम वहुत दिनों तक चला, यद्यपि मैत्रायणी संहिता के विरोध के कारण भारती काल में स्त्रियों का सभा में सम्मिलित होना बुरा समझा जाने लगा था जिसका आभास द्रौपदी की इस आपत्ति में मिलता है कि उसे सभा में ले जाकर कौरवों ने सनातन धर्म की मर्यादा नष्ट की।

स्त्रियों के राजनीति में अभिरुचि रखने अथवा शासनसूत्र हाथ में लेने की सूचना वहुत प्राचीन काल में मिलती है। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी इन दो प्रमुख क्षत्रिय वंशों के इतिवृत्त से इस बात का समर्थन होता है। जनमत ले लेने पर भी दशरथ के राम को युवराज वनाने के प्रस्ताव को विफल करने में कैकेयी की केवल स्वार्थपूर्ति की भावना न थी। इसमें सही या गलत उसकी राजनीतिक चाल भी थी। कालिदास ने रघुवंशियों का इतिवृत्त देते हुए अयोध्या नरेश अग्निवर्ण की विधवा रानी का जो उल्लेख किया है उससे ज्ञात होता है कि सुदर्शन के अग्निवर्ण को राज्य सौंप कर संन्यास ले लेने पर वह अपनी अतिकामुकता तथा विलासिता के कारण थोड़े दिनों में राजयक्ष्मा से आक्रांत होकर चल बसा और उसकी विधवा राजमहिषी ने जो उस समय गर्भवती थी राजकाज अपने हाथ में लेकर शासन किया।[४]

प्राचीन काल की अनेक स्त्रियों के नाम सुरक्षित हैं जिनका राजनीतिक और शासकीय ज्ञान कम नहीं था। इन स्त्री रत्नों में विदुला का स्थान वहुत ऊँचा है जिसने एक वार शत्रु से हार जाने पर हतोत्साह हुए अपने पुत्र संजय को क्षात्रधर्म की ऐसी स्फूर्तिदायिनी शिक्षा दी जिसने उसकी प्रसुप्त आत्मा को जगा कर अजेय पराक्रम पर आरूढ़ करके शत्रु पर विजय दिलायी। विदुला ने राजनीति के रहस्य वर्णन में शत्रु से किस प्रकार निवटना चाहिए इसकी बहुत विशद व्याख्या की है और उसका यह उत्साहवर्धक वाक्य 'उठो,

---

३ कल्चरल फ़ोरम, जनवरी १९६४, पृ० १२३

४ रघु०, सर्ग १९

जागो, उत्तम कामों में लग जाओ, मन में किसी प्रकार की शंका न आने देकर यह ठान लो कि कार्य होकर रहेगा'[५] आज भी शौर्य का आदर्श है। विदुला की प्रतिमूर्ति कुंती थी जो राजनीति की एक बड़ी पंडिता थी। राजनीति में राजा के महान् प्रभाव के संबंध में उसके विचार उस समय के राजधर्म के श्रेष्ठ ज्ञाता भीष्म पितामह के विचारों से मिलते-जुलते थे। राजनीति के एक प्रधान अंग के सिद्धांत का महत्व जिसका कुंती ने विवेचन किया है आज भी कम नहीं है। 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली लोकोक्ति का आधार कुंती के इस अमर वाक्य में मिलता है कि 'राजा का कारण काल है अथवा काल का कारण राजा है, इस विषय में संदेह न करो कि राजा ही काल का कारण है।'[६] शासन की जो भी प्रणाली हो—अनियंत्रित, मर्यादित अथवा सर्वहारा—वस्तुतः राष्ट्र का बनना-बिगड़ना राजा अथवा शासन सूत्र के संचालकों के हाथ में ही होता है और यही बात जनतांत्रिक शासन प्रणाली के संबंध में भी है जहाँ कहने के लिए शासन जनता का रहता है जिसे 'शासकों का स्वामी' कहा जाता है, किंतु बहुधा कार्य और व्यवहार में उसका सूत्र शासक दल के हाथ में रहता है। जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन कुंती के इस वाक्य में हुआ है उसका एक चिरस्थायी महत्व है। कुंती के पहले कुरुकुल में ही सत्यवती शासन सूत्र में सहयोग का एक उदाहरण स्थापित कर चुकी थी। शांतनु के निधन पर सिंहासनारूढ़ चित्रांगद के अल्पवयस्क होने से भीष्म पितामह ने राजचक्र अपने हाथ में लिया किन्तु सत्यवती उन्हें सहयोग और मंत्रणा देती रही। इसी प्रकार द्रौपदी के कई प्रसंग के पांडित्यपूर्ण भाषणों से उसके राजनीति विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है।

ऐतिहासिक काल में स्त्रियों के राजनीति और शासन में सहयोग एवं उसके संचालन की परंपरा बराबर चली आती दिखायी देती है जिससे यह अनुमान कर सकते हैं कि राजघरानों में कन्याओं को शासन-संबंधी शिक्षा दी जाती होगी। शातवाहन (या शालिवाहन) वंश की नायनिका (ई० पू० दूसरी शती) इसी परंपरा के अंतर्गत आती है जिसका प्रमाण उसका नाना घाट का गुहा अभिलेख है। नाना घाट के गुहा चित्रफलक पर शातकर्णी के साथ उसकी रानी नायनिका का चित्र इस बात का द्योतक है कि उसका राज्य शासन में पूरा सहयोग था। राजा के मरने पर उसने अल्पवयस्क वेदश्री और

५ म० भा०, उद्योग पर्व १३५.२९.३०
६ म० भा०, उद्योग पर्व १३२.१७

शक्तिश्री नामक राजकुमारों की अभिभावकता की और शासन भी किया। इसी प्रकार वाकाटक वंश में प्रभावती गुप्ता (चतुर्थ शती ई०), चालुक्य वंश की विजय भट्टारिका (सातवीं शती ई०), कश्मीर की सुगंधा और डिड्डा (दसवीं शती ई०) ने अपने पुत्रों के वयस्क होने तक विशाल राज्यों का शासन किया। अपने पति के मरणोपरांत कश्मीर पर शासन करनेवाली रानियों में जयमती का भी नाम इतिहास में आता है। और इसी प्रकार गुप्त राजाओं के समय में भी शासन में नारी के सहयोग का एक उदाहरण पाया जाता है। चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-२० ई०) के सिक्कों पर उसकी महादेवी कुमार देवी का चित्र पाया जाता है।[७] इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजपुत्री प्रभावती गुप्ता ने, जो वाकाटक नृपति पृथिवीसेन प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ विवाहित थी, अपने पति के निधन पर उसके पुत्र प्रवरसेन द्वितीय के अल्पवयस्क होने के कारण रिजेन्सी के रूप में राज्य किया।[८] एक ओर जहाँ प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रपत्र का अभिलेख जिसमें उसने अपने पितामह समुद्रगुप्त को 'अनेकाश्वमेधयाजी' की उपाधि से स्मरण किया है उसकी यज्ञों की मान्यता तथा अतीत के प्रति गर्व का द्योतक है उसका अपने गुरु आचार्य चणल स्वामी को ग्रामदान से सम्मानित करना उसके विद्यानुराग का परिचायक है।[९] एवं वाण के हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि हर्ष वर्धन को शासन में उसकी बहन राज्यश्री से पर्याप्त सहकार मिलता रहा। चालुक्यों के राज्यकाल (९८०-११६०) में राज्यपाल अथवा दूसरे महत्व के पदों पर रानियों की नियुक्ति एक साधारण सी बात थी।[१०] इतिहास बतलाता है कि गुजरात के प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह की माता मिनल देवी ने ग्यारहवीं शती के अंत में वहाँ का शासन किया तथा इसी तरह मुगल काल में जोधपुर की रानी दुर्गावती ने अपने पुत्र के शैशव काल में न केवल राज्य पर शासन किया सम्राट औरंगजेब से वीरतापूर्वक युद्ध करके उसकी रक्षा की। और इधर देखते हैं कि इस परंपरा को अहिल्या बाई और लक्ष्मी बाई ने अपने सुशासित शासन द्वारा उन्नीसवीं शती तक अविच्छिन्न रखा है।

राजनीति के समान ही स्त्रियों को शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्राचीन काल में दी

---

७ एलेन : गुप्त क्वाइंस

८ ए. एस. अल्तेकर : पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन

९ राधाकुमुद मुकुर्जी : दि गुप्त एम्पायर, पृ० ४६

१० वही, पृ० १४७

जाती थी जिसके विषय में अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का यह कथन उल्लेखनीय है कि शस्त्रास्त्रकी उत्पत्ति वर्णन से अनुमान होता है कि उनका ज्ञान स्त्रियों को अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ होगा। 'नीति प्रकाशिका' (अ० २, श्लोक ४५-४७) के इस कथन से कि 'दक्ष प्रजापति की दो कन्याएँ थीं—जया और सुप्रभा और दोनों ब्रह्मा के पुत्र कृशाश्व को व्याही थीं, ब्रह्मा की प्रतिज्ञा के अनुसार जया तो सब शस्त्रास्त्रों की माता हुई पर उसकी बहन सुप्रभा के दस पुत्र हुए जो संहार कहलाये और फिर ब्रह्मा की विशेष कृपा से ग्यारहवाँ पुत्र हुआ जिसका नाम सर्वमोचन हुआ, जया के पुत्र सामान्य शस्त्रास्त्र थे और सुप्रभा के मंत्र दैव संयुक्त दुराधर्ष और दुरतिक्रम अत्यन्त बलवान हुए। सर्वमोचनं सबका छुड़ानेवाला था' अत्यन्त प्राचीन काल में स्त्रियों को शस्त्र और अस्त्र का ज्ञान कराया जाता था।[११] और उनके कभी-कभी पुरुषों के साथ युद्ध में सम्मिलित होने का पता लगता है।

स्त्रियाँ अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा का आवश्यकतानुसार उपयोग भी करती थीं। ऋग्वेद से मालूम होता है कि अगस्त्य के पुरोहित खेल ऋषि की पत्नी विश्पला अपने पति के साथ युद्ध में गयी जिसमें उसकी जाँघ टूट गयी और अश्विनी कुमारों ने उसे अच्छा किया।[१२] इसी तरह ऋग्वेद (१०.१०२.२) से ज्ञात होता है कि मुद्गलानी ने शत्रुओं से लड़कर उनकी एक सहस्र गोवों को जीत लिया एवं ऋग्वेद (५.३०.९) से पता मिलता है कि दास नमुचि ने एक स्त्री सेना बनायी थी। वृत्रासुर की माता 'दनु' अपने पुत्र के साथ युद्ध में गयी थी और इन्द्र ने उसे मार डाला था। यह प्रसिद्ध है कि देवासुर संग्राम में दशरथ ने इन्द्र की सहायता की थी और उसमें पति के साथ कैकेयी भी गयी थी जिसने रथ की कील टूट जाने पर उसकी जगह अपनी अंगुली लगाकर उनकी समयानुकूल सहायता की।

संस्कृत नाटकों से मालूम होता है कि सैनिक शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ राजाओं की अंगरक्षिका नियुक्त होती थीं और उन्हें तीर चलाने का अच्छा अभ्यास होता था। दक्षिण भारत में ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो यह बतलाते हैं कि संकट के अवसरों पर वीर क्षत्राणियाँ घर की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेती थीं। कर्णाटक की स्त्रियों ने इस काम में अधिक ख्याति प्राप्त की है। मैसूर की एक वीरांगना ने १०४१ ई० में एक ग्राम युद्ध में लड़कर मृत्यु पायी तथा कर्णाटक की एक दूसरी स्त्री किसी डाकू को पकड़ लेने के उपलक्ष

११ अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : हिन्दू राज्य शास्त्र, पृ० २८६

१२ ऋ० १. ११२. १०; १. ११८. ८

में पुरस्कृत की गयी थी। तत्कालीन राज्य ने १२६४ ई० में उसे रत्न इत्यादि भेंट करके बहुत सम्मानित किया था। नीलगुंड के एक अभिलेख में एक सैनिक अभियान का उल्लेख मिलता है जिसकी सेनानायिका एक मंडलेश्वरी थी। १४४६ ई० में अपने पिता की हत्या के प्रतिशोध में शिमोगा ताल्लुका की एक वीरांगना ने युद्ध किया जिसमें बड़ी शूरता के साथ लड़कर उसने वीरगति प्राप्त की।[13]

राजपूत स्त्रियों की खड्ग तथा भाला चलाने की निपुणता अत्यन्त प्रसिद्ध है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर उन्होंने सैन्य संचालन किये एवं शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिये। वे अपने पति अथवा पुत्र का क्षात्रधर्मानुसार रण में शूरता के साथ लड़कर मर जाना अच्छा और युद्धक्षेत्र से भाग खड़ा होना अत्यन्त अपमानजनक समझती थीं। यह एक ऐतिहासिक घटना है कि शाहजहाँ से विद्रोह करके उत्तराधिकार के निमित्त लड़ रहे औरंगजेब से प्रतिपक्ष के समर्थक महाराजा यशवंतसिंह के हारकर युद्ध-क्षेत्र छोड़ जाने पर उसकी महारानी ने दुर्ग के फाटक बंद कराकर उसका प्रवेश रोक दिया। वस्तुतः ऐसी क्षत्राणियों के नाम बहुतायत से मिलते हैं जिन्होंने युद्ध में पीठ दिखा कर आनेवाले पति के लिए दुर्ग के प्रवेशद्वार बन्द करा दिये। उनकी एक प्रतिनिधि क्षत्राणी कहती है, 'मारा गया, हे बहिन! हमारा कान्त। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।'[14] सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (सं० ११५०-११९९) के सभापण्डित जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में अपभ्रंश के उदाहरण में इस वाक्य को दिया है जो एक सामान्य अवस्था का परिचायक है। कर्मदेवी की शूरता प्रसिद्ध है जिसने अपने पति सामरसी के निधन पर राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेकर आक्रान्ता क़ुतुबुद्दीन को खदेड़ दिया। और बाद को राणा सांगा के चतुर्थ पुत्र विक्रमाजीत को दुर्बल देखकर गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह ने उसे चारों ओर से लोइछा में जब घेर लिया, इसकी परवाह न कर चित्तौड़ की आन पर मरने वाले राजपूत वीर उसे छोड़ कर चित्तौड़ में राणा सांगा के अल्पवयस्क पुत्र उदयसिंह की रक्षा

---

१३ ए० एस० अलतेकर : पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन

१४ 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि! महारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु।'
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास,
१३ वाँ संस्करण, पृ० २४)

में पिल पड़े; उन्हें प्रोत्साहित करने के लिऐ राणा सांगा की विधवा रानी जवाहर बाई स्वयं कवच पहन कर सेना के आगे बढ़ी और शूरतापूर्वक लड़कर अपने प्राणों की बलि दी।

इसी प्रकार स्वदेश की रक्षा के लिए अकबर से घोर युद्ध करके संग्राम में प्राणों की आहुति देने वाली गोंडवाने की रानी दुर्गावती को भी इतिहासकार कभी नहीं भुला सकेगा और न मुगल काल की राठौर रानी दुर्गावती द्वितीय को जिसका नामोल्लेख ऊपर हुआ है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में मराठों का राज्य भारत के एक विशाल भाग में फैल गया था जिससे उन्हें अपनी सामरिक शक्ति बढ़ाने की आवश्यकता को पूरी करने के लिए लड़कियों के सैनिक प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना पड़ा। यशवंतराव होल्कर की पुत्री रानी भीमादेवी ने सर जॉन मालकम को एक भेंट में बतलाया था कि पति तथा पुत्र के अभाव में राजकुमारियाँ सैन्य संचालन अपना कर्तव्य मानती हैं। कोल्हापुर राज्य का संस्थापन एक स्त्री के द्वारा ही हुआ था। सैनिक क्षमता के लए कमला बाई सिंधिया का भी नाम लिया जाता है और झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई ने अपनी दुर्दमनीय देशभक्ति और आदर्श शासन के अतिरिक्त भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध में वीरता और अद्भुत सैनिक-संचालन का प्रदर्शन किया ही झाँसी के दुर्ग की रक्षार्थ एक स्त्री-सैन्य भी संघटित किया। मराठा राजनीति में जीजाबाई, उमाबाई दाभाडे आदि के भी नाम प्रसिद्ध हैं।

अध्याय १४

भारतीय शिल्प में नारी

वैदिक वाङ्मय में सत्य की खोज और फलस्वरूप जीव, जगत् और परमात्मा के स्वरूप निरूपण से जो मूल सिद्धान्त स्थापित हुए उनका शाश्वत विकास विभिन्न रूपों में होता आ रहा है। जिन व्यक्त रूपों में उनकी अभिव्यक्ति हुई है उनमें भारतीय नारी के स्थान और योगदान का पिछले अध्यायों में यथा संभव निरूपण किया गया। जीवन विषयक चिंतन पर आधारित पुरुषार्थ-अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष रूपी चतुर्वर्ग के अंतर्गत एक सुदीर्घ काल से हमारी संस्कृति शिल्प कला अर्थात् स्थापत्य, चित्र और मूर्ति के क्षेत्र में भी अभिव्यक्त और विकसित होती आ रही है। उसमें नारी के स्थान और सहयोग की मीमांसा से उसके शिल्प संबंधी विकास पर प्रकाश पड़ेगा।

शिल्प कला का स्वरूप : आदर्श और विकास

शिल्प की गणना प्राचीन काल से विविध विद्याओं और कलाओं में होती आयी है। छांदोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के संवाद में देवजन विद्या अर्थात् शिल्प कला का उल्लेख मिलता है जहाँ नारद ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण इत्यादि अपनी पढ़ी हुई १८ विद्याओं के साथ देवजन विद्या का नाम लिया है।[१] महाभारत के अनुसार नीतिशास्त्र के बहुत प्राचीन आचार्य शुक्र थे जिनके नाम पर 'शुक्रनीतिसार' ग्रन्थ प्रसिद्ध है और बतलाया जाता है कि उसमें उनकी नीतियों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में ३२ विद्याओं और ६४ कलाओं का अस्तित्व बतलाया गया है जिनमें शिल्प कला का भी समावेश है। जैन ग्रन्थों में ७२ कलाएँ बतायी गयी हैं जिनमें नत्त (नृत्य), गीय (गीत), वाइय (यंत्रवाद्य) वत्थु विज्जा (वास्तु विद्या) की परिगणना मिलती है। साहित्य और संगीत भी कला कहलाते हैं परन्तु, जैसा भर्तृहरि के 'साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात्पशुः पुच्छविषाण हीनः'—जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कला से अनभिज्ञ है उसे बिना सींग पूँछ का पशु

१ छांदो० उप० ७.१.२

समझना चाहिए—कथन से स्पष्ट है कला को साहित्य और संगीत से एक पृथक् वर्ग माना गया है। इस वर्गीकरण के अर्थ में कला से वास्तुकला अथवा स्थापत्य, मूर्ति और चित्र का बोध होता है और उसके लिए शिल्प रूढ़ शब्द है।

शिल्प शास्त्र के प्रख्यात विद्वान् आनंद कुमार स्वामी के कथनानुसार 'आदि आर्य हस्त कौशल, गृह निर्माण, लकड़ी के रथ बनाने और दौड़ाने, धातुओं की कारीगरी, गृहस्थी और कर्मकांड में उपयोग में आनेवाले अयस के वर्तन बनाने एवं सुवर्ण के आभूषणों के प्रयोग में कुशल थे। वे कपड़े बुनना, सीना, चमड़े का प्रयोग भी जानते थे और मिट्टी के वर्तन बनाते थे। किंतु आरंभिक कृतियों से इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि उस काल में किसी प्रकार की प्रतिमाएँ बनायी जाती थीं। परंतु यह मान लेना असंभव है कि जिन कृतियों का ऊपर उल्लेख हुआ है वे महत्वपूर्ण अलंकारों से शून्य होती थीं। यह अत्यंत संभव है कि आरंभ में शिल्प कला अलंकरण तक सीमित थी'।[२] मोहेन-जो-दड़ो (लरकाना, सिंध) की खोदाइयाँ जिस सभ्यता पर प्रकाश डालती हैं और जिसे पुरातत्वविद् सिंधु घाटी की सभ्यता कहते हैं कमसे कम ५०००–३००० (अथवा ३०००–१५००)[३] ईसवी पूर्व के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं और उनसे तत्कालीन शिल्प के अस्तित्व का परिचय मिलता है। सर विलियम ओर्पेन के इस कथन में कि 'पीतल सभ्यता की इन हड्डियों से अब तक शिल्प के कोई चिह्न नहीं पाये गये, यदि हम उन मुहरों और कवचों का विचार न करें जिन पर पशुओं की आकृतियाँ ढली पायी जाती हैं प्रायः उसी प्रकार जैसी स्त्री रूपिणी मृण्मयी आकृतियाँ (Terra Cotta) जिनसे उन आभूषणों का पता लगता है जिन्हें स्त्रियाँ पहनती थीं", प्रकारान्तर से प्राचीन काल में शिल्प कला का अस्तित्व स्वीकार है और यदि उसका विशद प्रमाण नहीं मिलता तो उसका एक सयुक्तिक कारण उक्त ग्रन्थकार ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है कि 'भारत में जहाँ साहित्य की इतनी वृद्धि हुई और जो स्थापत्य में अद्वितीय रहा चित्रकारी और मूर्ति कला के चिह्न कम पाये जाते हैं बहुत कुछ आरंभिक कला कृतियाँ विनष्ट हो गयीं, क्योंकि मिस्र और मेसोपोटामियाँ की तरह इसमें रक्षणात्मिका शक्ति नहीं है। बहुत करके भारतीय शिल्प कला का आरंभ बौद्ध कृति में

२ आनंद के० कुमारस्वामी : हिस्ट्री, ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० ८

३ वासुदेव एस० अग्रवाल : इंडियन आर्ट, पृ० ३८, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी १९६५

४ दि आउटलाइन ऑव आर्ट, संपादक सर विलियम ओर्पेन, पृ० ३६०, संशोधक होरेस शिप

हुआ है। यद्यपि इसमें लकड़ी पर खुदी हुई हिन्दू सृष्टिवाद की देवी देवताओं की पूजा की प्रतिध्वनि पायी जाती है'।[५] कदाचित् यह मत समीचीन है कि यहाँ के जलवायु के कारण अत्यन्त प्राचीन काल की कलाएँ नष्ट हो गयी हों। 'ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें ज्ञात होता है कि यज्ञों में नाना प्रकार की वेदियाँ और चितियाँ बनायी जाती थीं जिनके आधार पर रेखागणित शास्त्र की उत्पत्ति हुई।'[६] और वेद मंत्रों तथा बड़ौदा में प्राप्त संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ 'यंत्र सर्वस्व' से निश्चित पता लगता है कि कई तरह के वायुयान भी वैदिक युग में निर्माण होते थे।[७] यह असंभव नहीं कि विमान के नमूने अथवा मॉडेल काष्ठ, मिट्टी अथवा धातु के बनाये जाते रहे हों जो कालांतर में नष्ट हो गये।

मोहेन-जो-दड़ो की खोदाइयों के अतिरिक्त हड़प्पा के उत्खननों से भी सम-सामयिक कला पर बहुत प्रकाश पड़ा है। इनमें हाथीदाँत तथा फ़ेएंस (faience) की मुहरें, टेराकोटा की मूर्तियाँ, सुवर्ण के आभूषण, सिक्के, भांड और पक्की ईंटों के सुंदर ढंग से बने अनेक तल्लों के मकानों का पता चलता है जो उस सुदूर अतीत के शिल्पकला के विकास के प्रमाण देते हैं। इसी प्रकार चूना पत्थर की लघु प्रतिमाएँ, 'टेराकोटा की मूर्तियाँ, धातु की प्रतिमाएँ, मुहरों पर मनुष्य की आकृतियाँ यह बतलाती हैं कि सिंधु घाटी के कलाकार कला के विभिन्न माध्यमों से परिचित थे तथा वे इस बात का प्रमाण देती हैं कि वे लोग विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते थे। हड़प्पा की दो प्रख्यात लघु मूर्तियाँ जिनमें एक लाल पत्थर की और दूसरी नीले पत्थर की है उत्कृष्ट कला के नमूने हैं। इसी तरह मोहेन-जो-दड़ो में प्राप्त ताम्र मूर्ति जो किसी नृत्य करती हुई लड़की की है अपने ही ढंग की है'[८] एवं इस नर्तिका की जो भावभंगी दिखायी गयी है वह आधुनिक और ग्राम नृत्यों में भी पायी जाती है। अत्यंत प्राचीनकाल की कला कृतियों का ऐतिहासिक काल के शिल्प के साथ तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि यद्यपि 'सिन्धु घाटी सभ्यता और ऐतिहासिक काल के बीच लगभग दो हजार वर्षों का व्यवधान पड़ता है तथापि दोनों युगों के शिल्प में अनेक बातों की समानता आश्चर्यजनक है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

---

५ वही

६ रामगोविन्द त्रिवेदी : वैदिक साहित्य, पृ० १४८

७ वही, पृष्ठ ३६१

८ भारत ऐय्यर : इंडियन आर्ट : ए शॉर्ट इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३७।

उस प्राचीन काल में शिल्प में जो परंपराएँ स्थापित हो गयी थीं उनमें से कुछ आधुनिक काल तक चली आ रही हैं।[९]

प्राचीन काल से आधुनिक युग तक कला की परंपराओं का साम्य ही नहीं, उसके विविध रूपों में देश के विभिन्न भागों में पाये जाने से शिल्प में हमें भारत की सांस्कृतिक एकता के उस स्वरूप का दर्शन मिलता है जो साहित्य का एक आवश्यक विषय रहा है। वस्तुतः 'हर युग की कला के प्रयोजनों की एकता कम आश्चर्यकारी नहीं है। अहिच्छत्र में प्राप्त टेराकोटा प्लेक पर जिस कुंडलितपट का रूप है उसका उल्लेख बाण ने उन उपहारों के वर्णन में किया है जिन्हें कामरूप के भास्करवर्मा ने हर्ष के पास भेजे थे। यह तो सहस्रों में दो ही उदाहरण हैं और इससे पता चलता है कि कला के प्रयोजन किस प्रकार देश में परिभ्रमण करते रहे और राष्ट्रीय शैली के अंग बनते गये। बाण का यह भी वर्णन है कि मंदाकिनी नामक मुक्ताहार को नागार्जुन ने अपने मित्र त्रिसमुद्राधिपति राजा सातवाहन को भेंट में दिया जो उत्तरोत्तर अनेक के अधिकार से उत्तर भारत के हर्ष के हाथ में आया जिससे इस बात का पता मिलता है कि वेंगी और उत्तर में ऐसी वस्तुओं का संचार किस प्रकार हुआ करता था। तेजपुर (असम) के मंदिर के द्वार तथा भूमरा और देवगढ़ के खचित दरवाजों में अद्भुत सादृश्य है। इसका कारण अत्यंत निकट संबंध का वह अंतस् संचार हो सकता है जो सार्थवाह व्यापारियों, तथा कला के सुंदर-तम पदार्थों के साथ बहुमूल्य उपहारों का आदान-प्रदान करनेवाले राजदूत एवं उन तीर्थयात्रियों के द्वारा होता था जिनमें कलापोषक समृद्ध गृहस्थ तथा कलानिर्माता शिल्पी हुआ करते। इससे स्पष्ट है कि देश के एक भाग के निवासियों की अभिरुचि अन्य प्रांतों में विकसित कला-प्रयोजनों में उद्भूत होकर एक सार्वभौम कला-चेतना को जन्म देती थी जो सर्वसाधारण की एकमेव संस्कृति में परिणत हो जाती।[१०]

ऐतिहासिक काल में गज और वृषभ का जो प्रचुर प्रतीकात्मक (symbo-lical) चित्रण मिलता है वह सिंधु घाटी के शिल्प में भी विद्यमान था तथा वृक्ष जगत् के अश्वत्थ का जो चित्रण उस युग में हुआ उसकी ऐतिहासिक काल में अत्यधिक प्रतिष्ठा हुई। इसी तरह बाद की कला में दैवी एवं पवित्र आत्माओं के मुख-मंडल पर जो 'प्रभा मंडल' दिखाया जाता रहा है उसका उद्गम सिंधु

---

९ वही

१० वासुदेव एस० अग्रवाल : इंडियन आर्ट पृ० २९४

घाटी सभ्यता में प्राप्त मुहर पर चित्रित मनुष्याकृति पर बने वृक्ष के घेरे में समझना चाहिए।

परवर्ती काल की कला में लोकोत्तर शक्तियों की द्योतक बहुशीर्ष और बहु बाहुमयी मूर्तियों की विशेषता भी इस सभ्यता की कला में अवलोकनीय है। एवं इन उत्खननों में एक मानवाकृति पद्मासन की मुद्रा में उपलब्ध हुई है जिसके दोनों ओर उपासक वृन्द दिखाये गये हैं और जिसकी स्पष्ट छाप बौद्ध-कला की बुद्ध की मूर्तियों में दिखाई पड़ती है।[११] सर जान मार्शल के मोहेन-जो-दड़ो की खोदाइयों के विस्तृत विवरण 'मोहेनजोदड़ो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेशन' नामक ग्रन्थ की 'पहली जिल्द की १२वीं प्लेट की १३, १४, १५, १८, १९ और २२वीं टेब्लेट्स में जो मूर्ति चित्र दिये गये हैं वह ऐसे योगियों के हैं जो कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यान मग्न हैं और नग्न दिगंबर हैं। मूर्तियाँ जटा युक्त हैं। कहीं सिर पर, कहीं पार्श्व में त्रिशूल बने हैं। हाथी, हिरण, बैल, सिंह आदि पशुओं की मूर्तियाँ अंकित हैं। धर्मचक्र और विनीत भाव से बैठे उपासक, उपासिकाओं के चित्र भी अंकित हैं।"[१२] मोहेन-जो-दड़ो में कुछ ऐसे मुहर पाये गये हैं जिन पर तीन मुँह के देवता तथा त्रिशूल की तरह शिरो-वस्त्र और पीपल के वृक्ष ऐतिहासिक काल के अंकित हैं जिनका सादृश्य साँची के त्रिशूल प्रतीक और अमरावती के बौद्ध त्रिशूल में दिखायी देता है और इन सब तथ्यों के आधार पर मानना पड़ता है कि सिंधु घाटी सभ्यता के समय से शिल्प की प्रगति अविच्छिन्न रूप से होती आयी है। इन मूर्तियों में आध्यात्मिकता और उपासना की भावना विद्यमान है और उनमें मूर्तिपूजा का स्पष्ट बीजांकुर भी वर्तमान दिखायी पड़ता है।

शिल्प-कला के विकास की दृष्टि से मूर्ति पूजा के विकास का विवेचन मनोरंजक और आवश्यक है। वेदों में अग्नि, वरुण, इन्द्र, विष्णु, रुद्र, सूर्य तथा दूसरे देवताओं की स्तुति और उपासना बतलायी गयी है किन्तु इस उपासना का माध्यम मूर्तियाँ थीं इसका वेदों से पता नहीं चलता, यद्यपि वेदों में सृष्टिकर्ता की शक्ति के रूप में जिन देवताओं की स्तुति की गयी है उनके साकार रूप का पता चलता है जैसे एक ऋक् में इंद्र को शक्तिमान, ग्रीवा, बड़े पेट और अच्छी भुजा से युक्त[१३] और दूसरे मंत्र में हरे बाल और दाढ़ी वाला[१४] बतलाया गया है। इसी तरह ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इन्द्र के वर्णन में ऋषि का कथन है कि

---

११ भारत ऐय्यर : इंडियन आर्ट, ए शॉर्ट इंट्रोडक्शन
१२ वैदिक साहित्य : सम्पादकीय, पृ० १२
१३ ऋ० ८.१७.८
१४ ऋ० १०.९६.८

इन्द्र की टुड्डी के वाल वहुत नीले हैं और उसकी टुड्डी को कभी आघात नहीं लगता।[१५] शुक्ल यजुर्वेद की रुद्राष्टाध्यायी में इन्द्र के साकार रूप के वर्णन की तरह रुद्र को नीलकंठ, शितिकंठ, कपर्दी, सहस्राक्ष[१६], अघोरतनु[१७] इत्यादि कहकर उनके साकार रूप की प्रार्थना की गयी है। किन्तु इन देवों की उपासना का माध्यम मूर्तियाँ बनायी जाती थीं इसका पता वेदों में नहीं मिलता। प्राचीनतम उपनिषदों में जिनमें ब्रह्म की उपासना वतलायी गयी है मन, प्राण और प्रणव[१८] इत्यादि को प्रतीक मानकर ब्रह्मचिंतन का साधन वतलाया गया है परंतु उनमें भी कहीं पर मूर्ति के द्वारा उसकी पूजा का विधान नहीं मिलता। परंतु वाद की रचना वाले मानव, वौधायन और सांख्यायन गृह्य सूत्रों तथा गौतम और आपस्तंव धर्मशास्त्रों में जिनका निर्माण काल ईसा पूर्व ४ थी ५ वीं शती के पूर्व सर्वसम्मत है मूर्ति पूजा का असंदिग्ध प्रमाण मिलता है। वाल्मीकीय रामायण में देवालयों और उनमें देवताओं की अर्चना का अस्तित्व मिलता है, यद्यपि यह स्पष्ट पता नहीं लगता कि वह अर्चना मूर्ति पूजा के रूप में की जाती थी। दशरथ के स्वर्गवास पर ननिहाल से लौटते समय भरत का अयोध्या में विस्मय के साथ यह देखना कि 'देवों के घर शून्य हैं और पहले जैसी उनकी तड़क-भड़क नहीं है, देवताओं की पूजा वंद हो गयी है, और यज्ञशालाओं में यज्ञ नहीं हो रहे हैं'[१९] इस बात को सूचित करता है। किंतु महाभारत में हमें देव मंदिरों में मूर्तियों की स्थापना का निश्चित पता कई स्थलों पर मिलता है जैसे एक जगह अपशकुन के वर्णन में यहाँ तक कहा गया है कि 'देवता की प्रतिमाएँ काँपती और हँसती हैं, मुखों से रुधिर वमन करती हैं, गिर-गिर पड़ती हैं और उनमें पसीना आता है'[२०] इत्यादि।

परमात्मा की उपासना के लिए मनुष्याकृति की प्रतिमाओं, मूर्तियों और चित्रों के प्रयोग का इतिहास शिल्प कला के विकास पर प्रकाश डालता है तथा उससे शिल्प के स्वरूप और लक्ष्य का परिचय मिलता है। स्थापत्य, मूर्ति और चित्र कला का जो आदर्श निर्दिष्ट हुआ उसका आधार दार्शनिक और आध्यात्मिक है। वेदों और उपनिषदों में परमात्मा को इंद्रियातीत, अनाम

---

१५ ऋ० १०.१०५.७

१६ शु० यजु०, रुद्राष्टाध्यायी, ५.२८

१७ वही, ४.२९

१८ छां० उप०

१९ वा० रा०, अयोध्या कांड, ७१. ४०

२० म० भा०, भीष्म पर्व का प्रारंभ

और अरूप कह कर यह अंतिम सिद्धान्त बतलाया गया कि जो तत्व मन के ग्रहण में भी नहीं आ सकता उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते, केवल निर्विकल्प समाधि में उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। परंतु इस मार्ग पर चलना अत्यंत कठिन है। यह मुमुक्षुओं को ज्ञात था जो कठोपनिषद् के 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदंति'[२१]—ज्ञानी लोग इस मार्ग को तीक्ष्ण किये गये छुरे की धार पर चलना बतलाते हैं—वाक्य से प्रकट है। वस्तुतः इस प्रकार ब्रह्म चिंतन द्वारा उसकी प्राप्ति विरले ही कर सकते हैं। तथापि जिन महात्माओं ने एकाग्रचित्त से ध्यानावस्थित होकर उस अनंत ज्योति का दर्शन किया उन्होंने यद्यपि उसे एक और अनंत पाया उसकी बहुत प्रकार की कल्पना करके विभिन्न प्रकार से उसका निरूपण शब्दों के द्वारा किया है जिसका परिणाम यह है कि वेदों में ही विना कान, विना नाक, विना आँख मुख, बाहु अथवा शिर वाले परमात्मा को सहस्रबाहु, सहस्राक्ष और सहस्रशीर्ष[२२] इत्यादि विभूतियों से संपन्न उसकी स्तुति करने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल में चल पड़ी और आगे चलकर परमात्मा की सृजनात्मिका शक्ति के रूप में चतुर्मुख ब्रह्मा, रक्षणात्मिका शक्ति के रूप से चतुर्बाहु विष्णु और संहारिणी शक्ति के रूप में त्रिनेत्र अथवा पंचमुख शंकर की उद्‌भावना की गयी और कदाचित् उसी समय से उपासना के लिए उनकी कल्पना के अनुरूप मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ भी बनने लगीं।

इस प्रकार निर्गुण और निराकार परमेश्वर की उपासना साकार और मूर्त रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुई। परंतु साधारणतः मनुष्य कोई ऐसा सुलभ और सुगम मार्ग चाहता है जिस पर चल कर वह परमेश्वर को प्राप्त कर सके। वह ऐसे देव को चाहता है जो उसके साथ सहानुभूति रखे, उसके सुख दुःख में सम्मिलित हो, उसके ऊपर वरद हस्त रखे और संसार सागर से उसे उबार कर अपने में मिला ले। इसलिए हम देखते हैं कि अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि 'इस प्रकार सदा योग-युक्त होकर जो भक्त आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यय और अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं उनमें सबसे अधिक 'योग-युक्त' कौन है[२३] भगवान् कृष्ण ने बतलाया है कि दोनों ही परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं किंतु 'जो अव्यक्त का चिंतन करते हैं उन्हें बड़ा कष्ट होता है, क्योंकि अव्यक्त की प्राप्ति देहधारी व्यक्त पुरुष को दुःख से मिलती है परन्तु जो

२१ कठ उप० १.३.१४
२२ ऋ० १०.११४.५
२३ गीता० १२.१

अपने सब कर्मों को मुझे समर्पण करते हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान और उपासना करते हैं मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार-सागर से उनका उद्धार कर देता हूँ।'[२४] इस उपदेश का परिणाम यह हुआ कि भक्ति मार्ग में मनुष्य रूप धारी परमेश्वर की कल्पना पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हुई और अपने को परमेश्वर बतलाते हुए कृष्ण ने यह आश्वासन दिया कि 'जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूँ, साधु पुरुषों की रक्षा और बुरे कर्म करनेवालों को दंड देने के लिए हर युग में उत्पन्न होता हूँ।'[२५] इस प्रकार जब अवतार के रूप में परमेश्वर की भक्ति प्रचलित हो गयी राम, कृष्ण इत्यादि की मूर्तियों का निर्माण भी होने लगा और वेदों में जहाँ ३३ देवता बतलाये गये महाभारत और पुराणों के देववाद में देवताओं की संख्या ३३ करोड़ अर्थात् अनगिनत हो गयी और उनकी देवियों तथा वाहनों की भी कल्पना बहुदेववाद में सम्मिलित कर ली गयी। सृष्टि परमेश्वर की अभिव्यक्ति अथवा व्यक्त स्वरूप मानी गयी और सृष्टि की कोई भी विभूति, श्री अथवा तेजोमय सत्व, ईश्वरीय तेज का अंश[२६] माना गया।

सकल सृष्टि एक ही सत्ता की अनंत शक्ति से उत्पन्न होती, स्थिर रहती और समय पर उसी सत्ता में विलीन हो जाती है। इस अनंत शक्ति के सृजनात्मक पक्ष को चतुर्मुख ब्रह्मा, रक्षणात्मक पक्ष को शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्बाहु विष्णु और संहारात्मक पक्ष को त्रिनेत्र पंचमुख शंकर, विघ्नों के निवारण करनेवाले गणेश इत्यादि की कल्पना और भक्ति की प्रतिष्ठा हुई, एवं ब्रह्मा की ब्रह्माणी, रुद्र की दुर्गा, विष्णु की समृद्धिदायिनी श्री, लक्ष्मी और विद्यादात्री सरस्वती इत्यादि स्त्री रूपिणी देवियों की कल्पना और पूजा बहुदेवोपासना के अन्तर्गत परमेश्वर की विभूतियों के रूप में जहाँ साहित्य के विविध क्षेत्रों में विशद रूप में निरूपित हुई उसे शिल्पियों ने बड़ी कुशलतापूर्वक अपनी कला में मूर्त रूप दिया। साहित्य और शिल्प एक दूसरे के पूरक हुए। लक्ष्य दोनों का आध्यात्मिक अथवा एक रहा।

काव्य में इस उद्देश्य की सिद्धि 'रसानुभूति' में मानी गयी। वस्तुतः परमात्मा की प्राप्ति में जिस दिव्य रस की प्राप्ति होती है उसे ही अध्यात्मवाद में आनन्द अथवा 'ब्रह्मानंद' कहते हैं। साहित्य दर्पण में 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' काव्य का लक्षण माना गया है एवं साहित्य के सभी प्रमुख आचार्यों ने रसानुभूति को काव्य

---

२४ गीता० १२,५.६.७
२५ गीता० ४.७-८
२६ गीता० १०.४१

और नाटक की परिसमाप्ति बतलायी है। तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म को 'रस'[२७] रूप और 'आनंद'[२८] रूप भी कहा गया है जिससे यह कहना युक्ति-युक्त है कि काव्य और अध्यात्म के आदर्शों में कोई महत्व का अंतर नहीं है। इसी रसोत्पादन के आदर्श को लेकर उत्कृष्ट कोटि का भारतीय शिल्प भी अग्रसर हुआ है। मूर्ति कला एवं चित्रकला का आधार धर्म तथा अध्यात्म है। 'विष्णु धर्मोत्तर' में इस विषय का सविस्तर और साधिकार निरूपण हुआ है। 'कला कला के लिए' पाश्चात्य कलाकारों का यह सिद्धान्त भारतीय शिल्प में मान्य न होकर उसका स्वरूप भारतीय शिल्प के मर्मज्ञ ज़िमर के शब्दों में 'कला के भारतीय प्रतीक उसी सत्य को मुखरित करते हैं जिसे भारतीय दर्शन और आख्यान। वे परात्पर की प्राप्ति के उसी ध्येय के पथिक की उन्नति के मार्ग के सिगनल हैं जो मनुष्य की शक्तियों को परात्पर तक पहुँचने के ध्येय का निर्देशन करते हैं'[२९] व्यक्त हुआ है और इसी स्वरूप का निरूपण इस कला के दूसरे विशेषज्ञ आनंद कुमार स्वामी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'कला में स्वयमेव जीवन के गंभीर से गंभीर तत्त्व समाविष्ट हैं जो जीवन की कला के, जो स्वतः एक बड़ी से बड़ी कला है, सच्चे से सच्चे पथप्रदर्शक हैं। यथार्थ जीवन जो भारतीय संस्कृति का आदर्श है स्वयं एक है और वह एक कला है क्योंकि उसकी एक मात्र प्रेरणा आध्यात्मिक भूख की तृप्ति है।[३०] इस तरह कलाविदों ने भारतीय शिल्पकला को जीवन के भारतीय रूप का दर्शक माना है और इस आदर्श के सफल चित्रण को कला की सफलता का मापदंड स्थिर किया है।

इस रूप में शिल्प कला का उत्कृष्ट विकास धार्मिक आवश्यकताओं के कारण हुआ और मंदिरों के निर्माण और स्थापत्य से शिल्पकार का प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा। स्थापत्य, मूर्ति और चित्र विषयक शास्त्रों से यह ज्ञात होता है कि शिल्पी एक साधारण व्यक्ति नहीं वरन् उसे धर्म और अध्यात्म के रहस्य का विशेषज्ञ होना चाहिए। उसका कार्य फोटोग्राफर की तरह रूपमात्र लेने का नहीं है बल्कि वह सृजनकार है और जिस कला का वह सर्जन करता है अनन्य भाव से अपने चित्त में पहले उसके स्वरूप का ध्यान करता है। आराध्य की आराधना के विभिन्न साधनों देवी, देवता और उनके वाहनों और उनके अभिप्राय को समझना और इसे मूर्ति अथवा चित्र में उतारना उसकी कला की

---

२७ तैत्त० उप० २. ७

२८ वही ३. ६

२९ हिएनरिख़ ज़िमर : मिथ्स ऐंड सिम्बल्स इन इंडियन आर्ट ऐंड सिविलिज़ेशन

३० आनंद के० कुमार स्वामी : एसेज़ इन नेशनल आइडियलिज़्म

अजन्ता गुहा, चौबीसवीं : प्रस्तर शिल्प
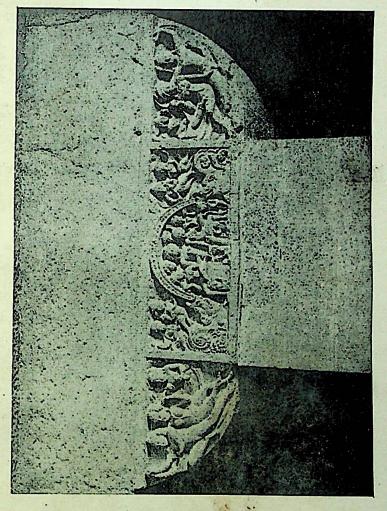
अजन्ता गुहा, द्वितीय : झूला

प्लेट ६
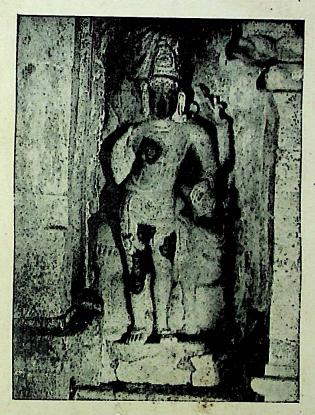
पतीश्वरम : अर्धनारीश्वर
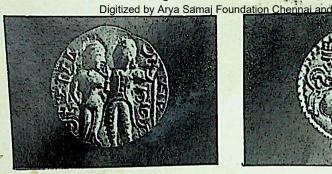
चित्र १ : सम्मुख (ऑववर्स) चद्रगुप्त प्रथम के साथ साम्राज्ञीकुमारीदेवी
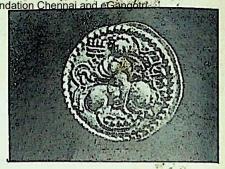
चित्र २ : पृष्ठ भाग (रीवर्स) देवी मूर्ति

चित्र ३ : सित्तनवासल, प्रस्तर गुहा : सम्राट और सम्राज्ञी के चित्र

चित्र १
मृण्मूर्ति

'शाकुन्तल' में कण्व के आश्रम का दृश्य

चित्र २ : रानी गुफा : प्रस्तर शिल्प

साँची स्तूप, प्रथम : उत्तरी द्वार
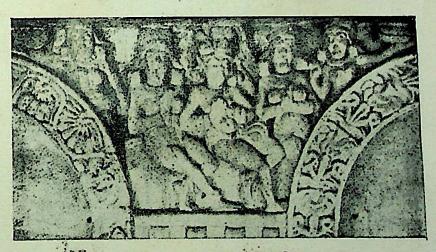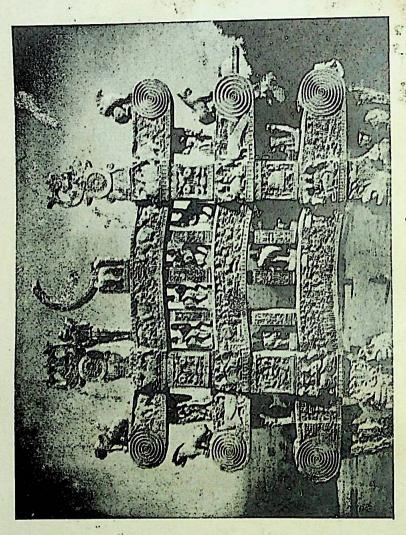
बेग्राम, हाथी दाँतकी तश्तरी [प्लेक] : प्रसाधन
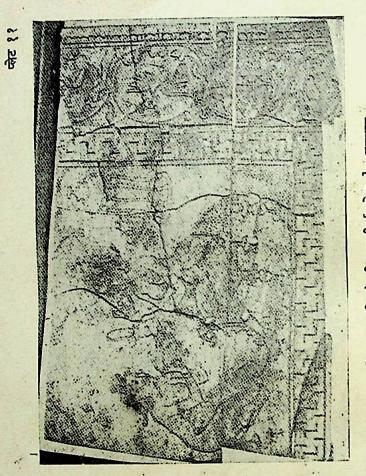
वेग्राम, हाथी दाँतकी तश्तरी [प्लेक] : प्रसाधन

कसौटी है। उत्कृष्ट कला का मर्म ऊपर-ऊपर देखने से हृदयंगम होना असंभव है। उसका आनंद पाने के लिए कला-दृष्टि अथवा अनुभव और हृदय का योग आवश्यक है। उत्तम कोटि के साहित्यिक चित्रण के सदृश श्रेष्ठ कला से साधारण जन का मनोरंजन और कौतूहल हो जाय पर वह उसके लिए मूक है और उसका असली रूप उसके पारखी को ही मुखरित होता है।

इस प्रकार की कला का आरंभ कब हुआ इसका समाधान अभी तक इतिहास नहीं कर पाया है। तथापि एक प्रकार से यह निश्चित-सा है कि भगवद्गीता में अवतारोपासना के रूप में भगवद्भक्ति को प्रधानता प्राप्त होने के अनंतर मूर्ति निर्माण और देव-चित्र द्वारा शिल्प कला की उन्नति हुई जिसे बौद्धों और जैनियों ने अपनाकर चरम सीमा को पहुँचाया।

यद्यपि श्रेष्ठ कला का आधार धार्मिक तथा आध्यात्मिक है तथापि जीवन का मनोरंजनकारी और कलात्मक चित्रण भी आरंभ से ही शिल्प का अंग रहा है और दोनों प्रकार के चित्रणों में जहाँ देवों और पुरुषों को कला का विषय बनाया गया देवियों और स्त्रियों को भी उसमें स्थान प्राप्त हुआ। वस्तुस्थिति यह है, और जैसा कि भारत ऐय्यर का कथन है, कि 'सभी कालों में स्त्री मूर्तियों का वह बाहुल्य जिसमें स्त्री की विविध चारुता का चित्रण हुआ है एक ऐसी विशेषता है जिसका मेल इस विचारधारा से नहीं होता कि भारतीय कला केवल पारलौकिक और धार्मिक विषयों तक सीमित है।[३१] इस बात को दृष्टि में रखते हुए हमें शिल्प में नारी चित्रण का दिग्दर्शन करना है।

स्वर्ण पत्र पर अंकित नारी का एक नग्न चित्र जो पृथ्वी देवी का प्रतीत होता है प्राप्त हुआ है और जो ईसवी पूर्व ७वीं अथवा ८वीं शती का आँका गया है इस बात का द्योतक है कि उपासना में उन दोनों कलापूर्ण प्रतिमाओं का प्रयोग प्रचलित था।[३२] अर्धनारीश्वर रूप की जो मूर्तियाँ पायी गयी हैं जिनका आधा भाग महादेव और आधा पार्वती का प्रतीकात्मक रूप है परमात्मा और उसकी अभिन्न शक्ति की, और पर्याय से नर और नारी की मौलिक एकता की उद्भावना करती हैं। इसी प्रकार राधा और कृष्ण एवं कृष्ण और गोपियों की मूर्तियाँ और चित्र जीव और ब्रह्म के सम्मिलन के प्रतीक हैं।

सिंधु घाटी सभ्यता की उपलब्ध कांस्य मूर्ति में संभवतः स्त्री का प्राचीनतम चित्रण हुआ है। यक्षिणी रूप में स्त्री-चित्रण बहुतायत से पाया जाता है। मौर्यकालीन (ई० पू० चौथी-तीसरी शती) तथा शुंगकालीन

---

३१ भारत ऐय्यरः इंडियन आर्ट, ए शॉर्ट इंट्रोडक्शन

३२ मुल्क राज आनंद : दि हिन्दू व्यू ऑव आर्ट, पृ० १८

(ई० पू० २री शती) एवं कंकाली टीला मथुरा की प्राचीन यक्षिणी मूर्तियों में स्त्री का कलात्मक चित्रण अपने ढंग का है। इसी भाँति मौर्य और शुंग काल के टेराकोटा में स्त्री चित्रण इस बात का प्रमाण है कि जन-जीवन में स्त्री का एक महत्वपूर्ण स्थान था। अमरावती में एक ऐसी प्रतिमा पायी गयी है जिस पर चरण-चिह्न और कमल भगवान् बुद्ध के जन्म-सूचक प्रतीक हैं जिनकी पूजा में निरत स्त्रियों का अभिचित्रण एवं ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के साँची स्तूप के उत्तरी तोरण द्वार पर, जिसे संसार का सुंदरतम तोरण द्वार बतलाया जाता है, बुद्ध की माता माया देवी की खड़ी मूर्ति पर दो हाथियों का अपने सूँड़ों से घट द्वारा जल सिंचन कलाकार की श्रद्धा को मूर्त करने के साथ शिल्प में नारी के महत्त्व का ख्यापन है।

शुंगकालीन शिल्प का एक दृश्यांकन शैली का उदाहरण भीटा से प्राप्त शाकुंतल नाटक का दृश्यांकित ठीकरा (प्लेक) है। वर्तमान बस्ती जनपद जो प्राचीन काल में उत्तर कोसल और शाक्य जनपदों के अंतर्गत था और जो वर्तमान काल में भगवान् बुद्ध की जन्म-स्थली लुंबिनी के समीप अवस्थित है निःसंदेह उनके प्रभाव क्षेत्र में था। और यहाँ के डूहों में बुद्ध सम्बन्धी मूर्तियाँ अधिकता से मिलती हैं। लुंबिनी के समीपवर्ती बस्ती जनपद के शोहरतगढ़ के सन्निकट प्राप्त कुषाणकालीन माया देवी की प्रस्तर मूर्ति सिद्धार्थ के जन्म का चित्रण करती है और उसमें सिद्धार्थ खड़े रूप में माता के पैरों के बीच दिखाये गये हैं, माया देवी के दाहिने उनकी दासी तथा बाईं ओर कोई अन्य नारी संभवतः बुद्ध की मौसी प्रजावती गौतमी-उत्तरीय के परिधान में खड़ी है। बौद्ध साहित्य में जिस तरह जन्मजात सिद्धार्थ का खड़े हो जाने का वर्णन आता है उसी का यह कलात्मक चित्रण है एवं इस जनपद के प्राचीन स्थान सिसवनिया में उपलब्ध विविध आभूषणों से आपाद-मस्तक अलंकृत शुंगकालीन मृण्मयी स्त्री मूर्तियाँ तत्कालीन स्त्रियों के वेशभूषा पर प्रकाश डालती हैं। राजपूत काल की कराली देवी की त्रिशूल और खड्ग धारिणी प्रस्तर मूर्ति राक्षस के ऊपर एक पैर रखे हुए तत्कालीन देवी उपासना की उस पद्धति पर प्रकाश डालती है जिसमें देवी के दुष्टों को दमन करने की भावना की जाती है। इन मूर्तियों में मृण्मयी पृथिवी की मूर्ति भी मिली है जिसके अलंकरणों में शुंगकालीन स्त्रियों की अलंकार प्रियता तथा उसके वक्षः स्थल पर अनेक शिशुओं के चिपके रहने से पृथिवी के प्रति प्राणियों की धरित्री देवी के रूप में देखने की भावना विद्यमान है। सिसवनिया के टीले पर श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी को अनेक खिलौनों में प्राप्त एक स्त्री मूर्ति को उन्होंने लखनऊ

प्लेट १२

दंदाँ यूइलिक (अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया) : नारी आकृति

प्लेट १३

सित्तन वासल : प्रस्तर गुहा : नृत्यकी एक भंगिमा

के पुरातत्व संग्रहालय को भेंट कर दिया। उसकी कला के विषय में 'उत्तरप्रदेश के संग्रहालयों की उन्नति तथा कार्य विवरण १९५०' के पृष्ठ ४० पर उल्लेख है कि 'बस्ती के खिलौनों में शुंगकालीन टीकरा (प्लेक) बड़ा ही सुंदर है जिस पर सुंदर अलंकारों से सुशोभित एक रमणीय नारी मूर्ति अंकित है।' सिसवनिया से चन्द्रचूड़ मणि को भी मौर्यकालीन लघु मूर्ति (statuette) शिल्प की एक विशिष्ट नारी प्रतिमा मिल चुकी है। राजपूतकालीन एक प्रस्तर मूर्ति में पार्वती के दाहिने कार्तिकेय और बाएँ एक हाथ में लड्डू लिए गणेश और पास में मूषक तथा उसी काल की बाराही देवी की द्विभुजी प्रस्तर मूर्ति से जिसके दाहिने दो कृपाण युक्त चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनी हैं देवी उपासना की विभिन्न भावनाओं का परिचय मिलता है।[३३]

बम्बई राज्य के पश्चिमी घाट के कार्ली का बौद्ध चैत्य जो पर्वत की चट्टान तराश करके ईसवी प्रथम शती शुंग काल में निर्मित हुआ भारतीय स्थापत्य कला का एक उत्तम नमूना है जिसकी गणना संसार के उच्च कोटि के स्मारकों में की जाती है। पहाड़ी काट कर यहाँ शिल्प के जो अनेक रूप खड़े किये गये उनमें एक दाता की मूर्ति के साथ उसके वामपार्श्व में उसकी धर्मपत्नी की ईसवी प्रथम शती की खड़ी मूर्ति शिल्प के द्वारा स्त्री पुरुष के सहकार को साकार करती है। मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित ईसवी दूसरी शती की अपने बालक के साथ नारी मूर्ति एवं सम्मिलित जुलूस में स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ साथ-साथ होने से तत्कालीन जन-जीवन में नारी के स्थान का हमें पता मिलता है। इसी तरह दशम शती में निर्मित कुंभकोणम् के नागेश्वर स्वामी के मंदिर पर बनी हुई स्त्री मूर्ति इस बात की साक्षी है। उसके दान से इस उत्कृष्ट कोटि के स्थापत्य का निर्माण हुआ। स्थापत्य की अभिवृद्धि में जयचंद के पितामह गोविंदचंद (राज्यारोहण सन् ११४४) की रानी कुमार देवी का योगदान महत्वपूर्ण था जिसने बौद्ध धर्म की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया और श्रावस्ती तथा सारनाथ में कई बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। उसके द्वारा बनवाया हुआ नव खंडों में विभक्त सारनाथ का धर्मचक्र जिन विहार बड़ा ही सुंदर और विशाल था जिसमें ग्रीष्म ऋतु में रहने योग्य सुरंग थी और उसमें भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्ति प्रतिष्ठित थी एवं विहार की भित्तियाँ नाना प्रकार की स्थापत्य कला से परिपूर्ण थीं। ६ठी शती की एक स्त्री की विशाल मस्तक मूर्ति जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सुरक्षित

---

३३ ये मूर्तियाँ श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी, बस्ती, उत्तर प्रदेश, के निजी संग्रह में हैं।

उसी शताब्दी की प्रस्तर मूर्ति जिसमें गोपियों का दधि-मंथन अभिचित्रित हुआ है शिल्प में नारी जीवन की अच्छी अभिव्यक्ति करती हैं। अमरावती और साँची के जगत्प्रसिद्ध स्तूप की कला में वास्तविक जीवन का चित्रण प्रचुर मात्रा में हुआ है जिसमें मनुष्य की सामान्य वृत्तियों के चित्रण के साथ नारी सौंदर्य और उसके मातृत्व का अभिचित्रण पूर्ण रूप से हुआ है। इसी प्रकार बेसनगर (ग्वालियर जनपद) की दीवारों के मध्य में अवस्थित सात फुट ऊँची वह विशाल स्त्री-मूर्ति जिसे स्थानीय लोग तेलिन कहते हैं और जिसे कलाविद् मथुरा शैली (ई० पू० ३००—२००) की कला की बतलाते हैं इस बात का प्रमाण है कि शिल्पकार के समक्ष जन जीवन में स्त्री का महत्व कम नहीं रहा है।[३४] स्त्री की अलंकार प्रियता का चित्रण मोहेन-जो-दड़ो के समय से विविध भाँति के आभरणों से युक्त स्त्री मूर्तियों में, नारी के शिरोवस्त्र और केश-शृंगार में अभिव्यक्त होता हुआ गुप्त काल की स्त्री मूर्तियों के उत्कृष्टतम केश-कलाप में दिखायी पड़ा। केश शृंगार की कला में प्रवीण प्रसाधिकाओं ने छत्राकार, भ्रमरक, सीमन्तक और मधुमाक्षिक इत्यादि उसके जिन विविध रूपों के द्वारा नारी सौंदर्य की अभिवृद्धि की, उसे कलाकार ने शिल्प में रूपान्तरित किया जो अहिच्छत्र और राजघाट (वाराणसी) के उत्खननों से प्राप्त गुप्तकालीन स्त्री के शिरोभाग की मृण्मूर्तियों में अत्यंत निखरा हुआ देख पड़ता है।

शिल्प शास्त्रों में नृत्य कला का ज्ञान भी शिल्पकार के लिए आवश्यक माना गया है। फलतः उसका अभिचित्रण शिल्प में भी पाया जाता है। यह कला अपनी चरम सीमा को पहुँची थी जिसकी जहाँ नर रूप में नटराज के तांडव नृत्य में सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई नारी रूप में 'त्रिभंग मुद्रा' का बहुत बढ़िया उदाहरण एक स्त्री मूर्ति में उपलब्ध हुआ है जो नारी सौंदर्य का एक अद्भुत रूप खड़ा करता है।

प्राचीन मुद्राशास्त्र के उत्कृष्ट उदाहरणों में चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ उसकी महादेवी कुमारदेवी का चित्रांकित सिक्का है। इससे 'कुमार देवी चन्द्रगुप्त के साथ शासन में समान रूप से भाग लेती जान पड़ती है।'[३५] विशेषतया भित्ति चित्र में भारतीय शिल्पकार ने आश्चर्य किया है जिसकी परंपरा दक्षिण भारत में मध्ययुग तक निर्बाध रूप से चलती रही। बादामी ६ठीं शती,

---

३४ वी० एस० अग्रवाल : स्टडीज इन इंडियन आर्ट, पृ० ११६, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

३५ प्रोफेसर एन० एन० घोष : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० २९१, हिंदी अनुवाद चन्द्रचूड़ मणि, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९५१

सित्तन वासल : प्रस्तर गुहा : नृत्य की एक भंगिमा
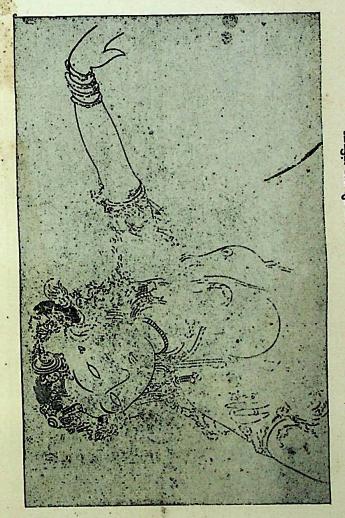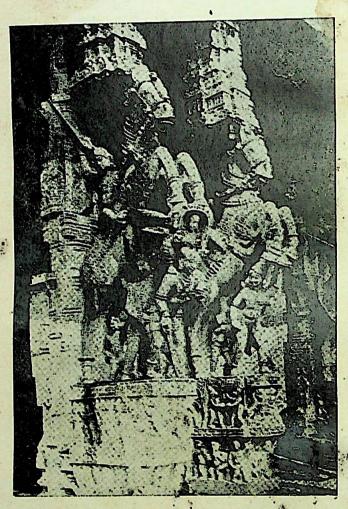
श्रीरंगम मन्दिर, त्रिचिनापल्ली : हयशाल [ल० १५९० ई०]

सित्तनवासल ७ वीं शताब्दी तथा एलौरा और कांचीपुरम् ८वीं शती और बाद को तंजोर के भित्तिचित्र इस कौशल के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एवं सुदूर दक्षिण में मालावार के राज प्रासाद एवं कोचीन के राजमहल के भित्तिचित्र जो क्रमशः सत्रहवीं और अठारहवीं शती में निर्मित हुए दर्शक को मुग्ध कर देते हैं। इनमें जहाँ पुरुषों तथा अन्य दृश्यों का चित्रण हुआ है स्त्रियों के चित्रों की भी कमी नहीं है। तंजोर के एक भित्तिचित्र में एक ओर जहाँ एक स्त्री विविध प्रकार के शृंगार करने में दत्तचित्त है, दूसरी ओर यहीं के वृहदीश्वर मंदिर के भित्तिचित्रों में रानियों के चित्र विशेष आकर्षक हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में कागज का प्रयोग आरंभ हो जाने से पुस्तकों में चित्रकारी का सूत्रपात हुआ जिसमें जैन, मुगल और राजपूत शैलियों की प्रधानता रही है जो अजंता की शैली से भिन्न तथा अपने ढंग की हैं। जैन शैली में जैन धर्मविषयक १४३९ ई० की मांडू में प्राप्त 'कल्प सूत्र' हस्तलिपि में तीर्थंकर अरिष्टनेमि का जन्म चित्रित है जिसके ऊपरी भाग में समुद्र विजय और उनकी रानी सिवा तथा निम्न भाग में अरिष्टनेमि का जन्म दिखाया गया है। हस्तलिपि राष्ट्रीय-संग्रहालय नई दिल्ली में देखी जा सकती है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला भवन में भी तिब्बती, नेपाली, उड़िया और गुजराती इत्यादि भाषाओं के अनेक चित्रित हस्तलिखित ग्रन्थों (Illuminated Manuscripts) के बार्डरों पर स्त्री चित्र देख सकते हैं। चित्र कला की राजपूत शैली जिसकी विशेष अभिवृद्धि मालवा, ग्वालियर तथा बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर, कृष्णगढ़ तथा राजस्थान के अन्य प्रमुख राजधानियों एवं पंजाव के चम्बा इत्यादि पर्वतीय राज्यों में हुई प्राचीन चित्र कला के आदर्श को सामने रखकर अग्रसर हुई, यद्यपि राजपूत और मुगल शैलियों ने एक दूसरे पर कुछ न कुछ अपनी अपनी छाप डाली। इसका एक परिणाम यह हुआ कि मुगल शैली में जिसका आदर्श स्रोत ईरानी शैली थी बहुत कुछ भारतीयता आयी। राजपूत शैली की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उस पर भक्ति की स्पष्ट छाप पड़ी है जिसमें चंडीदास, विद्यापति, जयदेव और सूरदास के साथ मीरा का प्रभाव किसी तरह कम नहीं है। परन्तु इस शैली में एक मात्र भक्ति का चित्रण नहीं हुआ है। अपितु उसमें नारी शृंगार, प्रेम और उसकी विविध परिस्थितियों की मनोवृत्तियों जैसे पति वियोग की विरहावस्था, एवं मिलन के आनंद इत्यादि का चित्रण बड़ा ही मार्मिक हुआ है। राधा और कृष्ण गोपी और कृष्ण एवं नल और दमयंती के चित्र जिनमें इस प्रकार की व्यंजनाएँ दिखायी गयी हैं अत्यंत भावपूर्ण हैं।

प्राचीन भारत की स्त्रियों की चित्रकला विषयक अभिरुचि का हमें संस्कृत साहित्य से अच्छा पता मिलता है। कालिदास के शाकुंतल और भवभूति के उत्तर रामचरित नाटकों से पता लगता है कि प्राचीन काल की स्त्रियों को चित्र से आनंद मिलता था, वे स्वयं चित्र निर्माण करती थीं जिससे हम पाते हैं कि श्री हर्ष के 'रत्नावली' नाटक की नायिका सागरिका इस कला में इतनी सिद्धहस्त थी कि राजा को एक बार देखकर ही उसका उसने एक भावपूर्ण चित्र बना दिया। वस्तुतः चित्रकला प्रागैतिहासिक भारत में प्रचलित हो चुकी थी जिसके चित्रों के अवशेष सिंहनपुर और मिर्जापुर में पाये गये हैं। इनमें न केवल मनुष्यों बल्कि मृग और गज इत्यादि पशुओं एवं आखेट के चित्रण सम्मिलित हैं। ऐतिहासिक काल में चित्र लक्षण तथा 'विष्णु धर्मोत्तर' इत्यादि ग्रन्थों में चित्रकला का शास्त्रीय विवेचन हुआ एवं वात्स्यायन ने जिसका काल ईसा की तीसरी शताब्दी के पश्चात् किसी दशा में नहीं टाला जा सकता अपने 'काम सूत्र' में चित्र कला के रूप-भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, योजना, सादृश्य और वर्णिक भंगी इत्यादि षडंग का निरूपण किया है जिससे चित्रकला की तत्कालीन समृद्धि का पता लगता है। षडंग चित्रण के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अजंता के भित्तिचित्रों में देखने में आते हैं जिनमें से एक में जो ६ठीं शती का है भगवान् बुद्ध भिक्षु वेष में दाहिने हाथ में भिक्षा पात्र लिए खड़ी मुद्रा में दिखाये गये हैं और उनके सम्मुख यशोधरा खड़ी है जो अपने बाएँ हाथ में बालक राहुल का बायाँ हाथ पकड़े है और दाहिना हाथ राहुल के कंधे पर रखे हुए उसे पिता से पितृ-धन माँगने का निर्देश कर रही है। कितने ही भावों का एक साथ संनिवेश इस चित्र में हुआ है। वस्तुतः अजंता के भावविभोर करनेवाले चित्रों में भित्तिचित्र कला में मानवीय अंतर्दृष्टि की गहराई और शिल्पकला की कुशलता का अपूर्व और आश्चर्यकारी सन्निवेश हुआ है।

चित्रकला में नारी की कलाप्रियता उसका स्वाभाविक गुण प्रतीत होता है जिसकी अभिव्यक्ति बहुधा साधारण स्त्रियों में भी दिखाई पड़ती है। गृह द्वारों और भित्तियों पर विविध रंगों में नाना प्रकार के ग्रामीण पशु पक्षियों और मनुष्यों के रूप-विन्यास एवं फूल पत्तों के चित्रों और विभिन्न प्रकार की अल्पना में सामान्य नारी की कलाभिरुचि मुखरित हो उठी है।

अध्याय १५

नारी की अध्यात्म साधना

वैदिक मान्यता के सभी सम्प्रदायों एवं संसार के प्रायः सभी मतावलम्बियों का विश्वास—अनीश्वरवादियों के अतिरिक्त—इस भौतिक जगत् से परे स्वर्ग नरक की विभिन्न कल्पनाओं तथा एक अनन्त शक्ति में है जिसे अपनी अपनी बुद्धि और श्रद्धा के अनुसार उन्होंने नाना नाम दे रखे हैं। यह संसार और इहलौकिक सुख नाशवान है इस विश्वास एवं आत्यंतिक सुख की कामना से प्रेरित होकर सभी धर्म दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति और परम सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य को यत्नशील होने की प्रेरणा देते आये हैं। यद्यपि यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध का आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास था तथापि बौद्ध धर्म, जो वैदिक धर्म की संतति है, यह मानता है कि मानव की अंतिम स्थिति निर्वाण अथवा मोक्ष है जो सनातन नैतिक सत्य के नियमों के अनुकूल सम्यक् आचरण के द्वारा दुःख की निवृत्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय संकृति की कर्म विपाक और उसके कारण चलने वाले आवागमन के चक्र की मुख्य मान्यता भी बुद्ध को पूर्णतया स्वीकार है और उससे छुटकारा अथवा मोक्ष पाने का लक्ष्य उनके निर्वाण के सिद्धान्त के अन्तर्गत है।

भौतिक सुखवाद से ऊपर उठकर निःश्रेयस् के निमित्त विभिन्न साधनाएँ अध्यात्म साधना के भीतर मानी गयी हैं।

मोक्ष के स्वरूप का निरूपण बुद्धि और आत्मानुभव की पहुँच के अनुसार ऊँचे से ऊँचे स्तर पर हुआ है और इसीलिए स्वर्ग के सुख को भी, चाहे वह कितना भी चिरस्थायी क्यों न हो वेदांत में क्षणभंगुर बतलाकर त्याज्य ठहराया गया और ब्रह्मात्मैक्यज्ञान उसका सच्चा स्वरूप निर्धारित हुआ जिसका स्पष्ट उल्लेख 'मुंडकोपनिषद्' के इस कथन में हुआ है कि स्वर्ग के सुख का अनुभव करके वे मृत्युलोक अथवा उससे हीन योनि में प्रवेश करते हैं[1] और प्रायः उसी प्रकार कृष्ण की इस उक्ति में हुआ है कि 'त्रैविद्या मां

१ मुं० उप० १.२.१०

सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥' अर्थात् जो सोम पान करनेवाले त्रैविद्य अर्थात् ऋक, यजुस्, और साम इन तीन वेदों के कर्म करने वाले, जिनके पाप धुल गये हैं, विविध यज्ञों के द्वारा मेरी पूजा करके स्वर्ग चाहते हैं वे इन्द्र लोक में पहुँच कर स्वर्ग में देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं और उस विशाल स्वर्ग लोक का उपभोग करके पुण्य का क्षय हो जाने पर फिर जन्म लेकर मृत्यु लोक में आते हैं, इस प्रकार काम्य सुख की इच्छा रखते हुए त्रयी धर्म के यज्ञ-याग इत्यादि श्रौत धर्म का पालन करने वालों को आवागमन प्राप्त होता रहता है।[२]

इस ध्येय की प्राप्ति में पुरुष का एकाधिकार है अथवा उसका द्वार स्त्री के लिए भी खुला है इसे देखना चाहिए। वैदिक धर्म का मूल स्वरूप यज्ञ-प्रधान है और यज्ञों के सम्पादन में पति के साथ पत्नी की सहचारिता अनिवार्य होने से उनके द्वारा स्वर्गादि का जो फल पुरुष को मिलता है वही स्त्री को भी प्राप्त होता है। यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है 'स्वर्ग कामो यजेत्' इत्यादि श्रुति वाक्यों से प्रकट है। अतएव जहाँ तक यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का प्रश्न है स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं किया गया और स्त्री के लिए वेदाध्ययन का निषेध हो जाने पर भी यज्ञों में पुरुषों का सहकारित्व बना रहने से स्त्रियों का स्वर्ग प्राप्ति का अधिकार अक्षुण्ण रह गया। इसी प्रकार स्मृतिशास्त्रों और पुराणों में जहाँ पातिव्रत्य धर्म के पालन के लिए स्त्रियों को प्रेरणा दी गयी उनके सामने स्वर्ग का लक्ष्य रखा गया। किन्तु देखना यह है कि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माने गये मोक्षरूपी पुरुषार्थ में स्त्री को कौन सा स्थान प्रदान किया गया है। इस सिद्धांत के सर्वमान्य होने से कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती इस विषय में स्वभावतः सर्वप्रथम वेदों पर ध्यान जाता है जिनके प्रधानतया कर्मकांडात्मक होते हुए भी उच्चतम ज्ञान के स्रोत होने में कोई संदेह नहीं।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' के ऋषियों ने वैदिक धर्म ने तत्वज्ञान के अथाह समुद्र में बैठ कर जिन तथ्यों को खोज निकाला उनसे आगे पाश्चात्य अथवा पौर्वात्य कोई भी तत्वज्ञानी आज तक नहीं जा सका, जिसके विषय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का यह

---

२ गीता० ९.२०.२१

कथन कि 'सृष्टि के अगम्य मूलतत्व और उससे विविध दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जैसे विचार इस सूक्त में प्रदर्शित किये गये हैं वैसे प्रगल्भ, स्वतंत्र और मूल तक की खोज करने वाले तत्वज्ञान के मार्मिक विचार अन्य किसी भी धर्म के मूल ग्रन्थ में दिखायी नहीं देते। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे अध्यात्म विचारों से परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेख भी अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है' सर्वथा युक्तियुक्त है। इस तरह के ज्ञानगर्भित बहुत से सूक्त वेदों में भरे पड़े हैं जिनमें से अनेक स्त्रियों की रचनाएँ हैं। देवीसूक्त की ऋषिका वाक् और घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, विश्वावारा, सिकता, सूर्या, इंद्राणी, सर्पराज्ञी, ममता, यमी, रोमाशा, जुहू, निवावारी, उर्वशी, श्रद्धा इत्यादि नारियाँ इसी श्रेणी की थीं और अध्यात्म साधना के क्षेत्र में उनकी गणना सर्व प्रथम होगी।

अध्यात्म का अधिक विशद विश्लेषण और विवेचन उपनिषदों में हुआ है और उनमें मनुष्य जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के दो मार्ग बतलाये गये जो प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा 'ज्ञान निष्टा' और 'कर्म योग' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कर्मयोग के मार्ग को अपनाने के लिए 'ईशावास्य उपनिषद्' में जहाँ यह उपदेश मिलता है कि कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने से उसका लेप मनुष्य को नहीं होता,[४] संन्यासमार्गी मुंडकोपनिषद् में कहा गया कि यज्ञरूपी साधन नाशवान हैं और जो मूढ़ इन्हें ही श्रेय मानते हैं वह बार-बार मरते और जन्म लेते हैं।[५] इसी प्रकार अधिकांश उपनिषद् संन्यास मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कर्म को मोक्ष मार्ग में बंधन का कारण बतलाकर यज्ञ-याग आदि कर्मों का त्याग कर देने का ही उपदेश करते हैं। इस उपदेश में सिद्धान्ततः स्त्री के लिए मोक्ष का निषेध नहीं हुआ और इसीलिए औपनिषदिक काल में अध्यात्म की साधना में अनेक स्त्रियों को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित पाते हैं। प्राचीन काल में मुक्ति का मार्ग स्त्रियों के लिए अवरुद्ध नहीं था इसका दृष्टान्त सांख्य ज्ञान के प्रवर्तक कपिल मुनि का है जिन्होंने अपने ज्ञान का उपदेश सर्वप्रथम अपनी माता देवहूति को किया जिस पर आरूढ़ होकर उसने मोक्ष प्राप्त किया[६]। हारीत स्मृति से ब्रह्मवादिनियों के अस्तित्व

३ बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य, हिन्दी अनुवाद, माधवराव सप्रे, पृ० २५०
४ ईशा० उप० २
५ मुंड० उप० १.२.७
६ भागवत० ३. ३३. ३०

का पता लगता है एवं बौधायन धर्म सूत्र में 'स्त्रीणां चैके' पद मिलता है जिसका मिताक्षरा में यह अर्थ लिया गया है कि कुछ स्त्रियाँ संन्यास लेती हैं।

परंतु इनसे भी प्राचीन बृहदारण्यक उपनिषद् का वह प्रसंग अत्यंत महत्वपूर्ण है जहाँ मैत्रेयी को 'ब्रह्मवादिनी' के नाम से अभिहित किया गया है और जिसमें याज्ञवल्क्य के समक्ष उसकी ब्रह्म की जिज्ञासा का उल्लेख है। उनके संन्यास लेने का अपना संकल्प तथा अपनी स्त्रियों कात्यायनी और मैत्रेयी में अपनी संपत्ति का विभाजन कर देने का विचार प्रकट करने पर मैत्रेयी का यह पूछना कि 'क्या मैं धन से अमर हो जाऊँगी' तथा याज्ञवल्क्य के इस उत्तर पर कि 'धन से अमरत्व की कोई आशा नहीं', उसका यह आग्रह करना कि 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उससे मेरा क्या प्रयोजन; आप जो तत्व जानते हैं मुझे वही बताइये' स्त्रियों के वैराग्य और सत्य के लिए हृदय की तड़पन का ज्वलंत उदाहरण है और इसी प्रकार मैत्रेयी के आग्रह को आदर देकर याज्ञवल्क्य का यह कथन कि 'प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति'[७]—आप निश्चय हमें प्रिय हैं और आपने हमारा बहुत प्रिय किया। तुम्हें व्याख्या सुनाता हूँ। मेरे विवेचन को मन में धारण करो—उस युग के सबसे बड़े तत्वज्ञानी द्वारा स्त्रियों की अध्यात्मविषयक अर्हता का प्रमाण है। इस उपनिषद् में गार्गी का नाम कई तत्वज्ञानियों के साथ लिया गया है जिन्होंने जनक के दार्शनिक सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया। एवं महाभारत से पता लगता है कि उसी युग में सांख्य और योग के द्वारा सुलभा अध्यात्म साधना के लिए प्रख्यात थी। सुलभा के समान ही तत्वज्ञान की खोज में एक आश्रम से दूसरे आश्रम में पर्यटन करनेवाली रामायण काल की आत्रेयी का भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में सजीव वर्णन किया है। 'मालविकाग्निमित्र' में कौशिकी संन्यासिनी का कालिदास ने, तथा (महाभाष्य २.१००) में पतंजलि ने शंकरा नामकी प्रव्राजिका का नामोल्लेख किया है जिससे कह सकते हैं कि शुंग काल में स्त्री का संन्यास वैदिक धर्म में सर्वथा अमान्य न था।

किन्तु गार्गी, सुलभा और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनियाँ इनी-गिनी ही हो सकती हैं और इनके सिवा साधारण स्त्रियों के लिए निवृत्ति मार्ग की प्रधानता के कारण वैदिक यज्ञ-यागादि में पति की सहकारिता से उन्हें जो

---

७ बृह० उप० ४. ५. ५

समान रूप से सद्गति का साधन सुलभ था उससे उनका वंचित होना सांख्यनिष्ठा का एक निश्चित परिणाम कहा जा सकता है।

महाभारत काल में सत्यवती के घर बार छोड़ कर तपस्या करने का उल्लेख महाभारत में हुआ है तथा महाभारत के कथनानुसार पत्नी पति के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश करके मोक्ष की तैयारी कर सकती थीं[८] जिसका एक प्रमुख उदाहरण गांधारी का धृतराष्ट्र के साथ वन जाने का है और उन्हीं के साथ विधवा कुंती ने भी संन्यस्त अवस्था में ही प्राण त्याग किया। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी अर्थात् बुद्ध के पहले वैदिक समाज में स्त्रियों के लिए संन्यास वर्जित हो गया। स्मृति में स्त्री के लिए संन्यास को उसके पतन का कारण बतलाया गया है।[९] इससे आभास मिलता है कि स्त्रियों के संन्यास के कारण कुछ अनैतिक प्रसंग सामने आये और समाज में विकास की दिशा में बाधायें दिखाई पड़ीं।

मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों का आश्रयदाता कह कर समाज की रीढ़ बतलाया गया है और समाज पारिवारिक विघटन के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। स्त्रियों के संन्यास के विरोध की धारणा पर्याप्त पुरानी और समाजव्यापी हो गयी थी जिससे बुद्ध भी 'विनयपिटक' (चुल्ल वग्ग, पजापति पवज्जा सुत्त)' के अनुसार आरंभ में स्त्रियों को भिक्षु धर्म अथवा संन्यास की दीक्षा देने के विरोधी थे।

बौद्ध संघ में भिक्षुणियों के प्रवेश की कथा मनोरंजक ही नहीं सदय भी है। किसी समय भगवान् बुद्ध चारिका करते हुए कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे जहाँ जाकर महाप्रजापति गौतमी ने उनसे स्त्रियों को बौद्ध धर्म में घर से बेघर हो प्रव्रज्या लेने की अनुज्ञा माँगी जिसे उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इसमें उसकी रुचि, नहीं होनी चाहिए। इससे महाप्रजापति को बहुत दुःख पहुँचा। परंतु वह अध्यात्म मार्ग के लिए व्यग्र थी। उसने अपने केश कढ़ा दिए और काषाय वस्त्र धारण कर शाक्य-स्त्रियों के साथ वैशाली के लिए प्रस्थान किया जहाँ महावन की कूटागार शाला में बुद्ध विहार कर रहे थे। उसके नये वेष तथा धूलधूसरित शरीर और फूले पैरों को देखकर भगवान् बुद्ध से उनके परम प्रिय शिष्य आनंद ने प्रजापति को प्रव्रज्या देने के लिए अनुरोध किया और उनके सहमत न होने पर उन्हें तर्क के द्वारा मनवा लिया। आनंद ने प्रश्न किया 'भन्ते! क्या तथागत-

८ म० भा०, शान्ति पर्व ६१.४
९ अत्रि स्मृ० १३६.१३७

प्रवेदित धर्म में घर से वेघर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सकृद-गामि-फल, अनागामि-फल, अर्हत्व-फल को साक्षात् कर सकती हैं ?' बुद्ध के इस उत्तर पर कि 'कर सकती हैं' आनन्द ने कहा 'यदि भन्ते ! तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ अर्हत्व फल को साक्षात् करने योग्य हैं, तो भन्ते ! अभिभाविका, पोपिका, क्षीरदायिका हो, भगवान की मौसी महाप्रजापति गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है। जननी के मरने पर (उसने) भगवान् को दूध पिलाया। भन्ते ! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले'। संसार के दुःख से दुःखी हो उसे दूर करने के मार्ग की खोज में राज्य श्री का लोभ त्याग कर जिसने प्रव्रज्या ली थी वह महाप्रजापती के प्रति कैसे उदासीन रह सकते थे। किंतु स्त्रियों के लिए प्रव्रज्या की अर्हता मानते हुए भी महाप्रजापति को बुद्ध ने आठ कठिन नियमों के स्वीकार कर लेने पर ही उपसंपदा देकर बौद्ध संघ में ग्रहण किया। इन नियमों का प्रयोजन बुद्ध के ही इस कथन से प्रकट है कि मैंने रोक-थाम के लिए भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया'।[१०] इतना करने पर भी स्त्रियों के संन्यास से उत्पन्न होनेवाली बुराइयों के प्रति बुद्ध इतने आशंकित हुए कि उन्होंने साथ ही यह भविष्यवाणी कर दी कि यों जो बौद्ध संघ एक सहस्र वर्ष तक जीवित रहता भिक्षु संघ में स्त्रियों के प्रवेश के कारण उसकी जीवनावधि पाँच सौ वर्ष होगी। यद्यपि भिक्षु-भिक्षुणी के उपदेश के विषय में कोई विभेद नहीं किया गया भिक्षुणियों के पालन के लिए कतिपय विशेष अनुशासन निर्धारित कर दिये गये जिसके अनुसार भिक्षुणी का भिक्षु के प्रति सविशेष विनयशील होने पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि 'यह कठोर नियम उसी प्रकार आवश्यक है जैसे तड़ाग के जल को रोकने के लिए बाँध की आवश्यकता होती है।'[११] तथापि बुद्ध ने धर्म के तत्वों के उपदेश में कोई भेद-भाव नहीं किया और उनके निर्वाण के पहले अनेक स्त्रियाँ भिक्षु-संघ में सम्मिलित हुईं, यहाँ तक कि आम्रपालि वेश्या को भिक्षु संघ में प्रविष्ट करके उन्होंने उसका उद्धार किया।

स्त्री को बौद्ध धर्म में प्रवेशाधिकार प्राप्त हो जाने पर वे भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने लगीं जिनमें कुछ स्वयं अपनी अध्यात्म साधना से संतुष्ट न रहकर दूसरों को उसका उपदेश करती हुई दिखाई पड़ती हैं। इसीसे हम देखते हैं कि संसार

---

१० राहुल सांकृत्यायन : बुद्ध चर्या, पृ० ७३-७४

११ राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, हिन्दी संस्करण, पृ० २४५

के इतिहास में एक देश से दूसरे देश में धर्मप्रचार करने वाली स्त्रियों में सर्वप्रथम एक भारतीय नारी थी। अशोक की आज्ञा से जहाँ राजकुमार महेंद्र ने ताम्रपर्णी (लंका) के राजा के साथ बहुत से पुरुषों को बौद्ध धर्मावलंबी बनाया उसकी बहिन संघमित्रा थेरी ने राजा की बहिन अनुला देवी और पाँच सौ कन्याओं तथा पाँच सौ अंतःपुर की स्त्रियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करके लंका में भिक्षुणी-संघ की स्थापना की।

बौद्ध धर्म में जहाँ स्थविरों का बहुत ऊँचा स्थान है थेरियों की भी प्रतिष्ठा कम नहीं है। उनकी रचनाएँ वैराग्य मार्ग के लिए अच्छी देन हैं जिसका प्रमाण तिहत्तर थेरियों की रचनाओं से जो 'थेरी गाथा' के नाम से प्रसिद्ध हैं मिलता है। थेरी गाथाओं में ग्रथित उनके वैराग्य और अध्यात्म साधना का विवरण शिक्षाप्रद ही नहीं अत्यंत रोचक भी है। थेरियों में सभी वर्ण और विभिन्न श्रेणियों की स्त्रियों के नाम मिलते हैं जो बुद्ध के उपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रजित हुईं।

बौद्ध भिक्षुणियों अथवा थेरियों में अनेक की अध्यात्म साधना उत्कृष्ट कोटि की हुई दिखाई पड़ती है और स्वयं भगवान् बुद्ध ने कुछ भिक्षुणियों को जो उनके निर्वाण के पहले उनकी अनुयायिनी हो गयी थीं नामोल्लेख करके अध्यात्म जगत् में अमर कर दिया है। 'एतदग्गवग्ग' से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने जैसे कुछ भिक्षुओं को विशिष्ट साधनाओं के लिए अग्र स्थान दिया थेरियों को भी इसी प्रकार सम्मानित किया। उदाहरणार्थ उन्होंने महाप्रजापति गौतमी को भिक्षुणी-श्राविकाओं में, खेमा (बिम्बसार की रानी) को महाप्रज्ञाओं में, उत्पलवर्णा को ऋद्धिमतियों में, पटाचारा को विनयधरों में, धम्मदिन्ना को धर्मकथिकाओं में, नन्दा को ध्यानियों में, भद्राकुंडलकेशा को क्षिप्राभिज्ञाओं में, भद्रा कापिलायिनी को पूर्व-जन्म-अनुस्मृतिज्ञाओं में, भद्राकात्यायिनी (राहुल माता) को महा-अभिज्ञा प्राप्तों में, कृशा गौतमी को रुक्ष-चीवर धारिणियों में, शृगालमाता को श्रद्धालुओं में, सुजाता (सेनानी दुहिता) उपासिका श्राविकाओं में, विशाखा मृगार माता को दायिकाओं में, खुज्ज उत्तरा को बहुश्रुताओं में, सामावती (वत्सराज उदयन की राज-महिषी) को मैत्रीविहार प्राप्तों में, उत्तरानन्द माता को ध्यानियों में, सुप्रवासा को प्रणीतदायिकाओं में, सुप्रिया को रोगियों की सुश्रूषा करनेवालियों में तथा गृहपत्नी को विश्वासिकाओं में अग्रणी बतलाया।

अमरावती (जिला गुन्टूर) में पाये गये अभिलेखों में बौद्ध साधकों और साधिकाओं के लिए कुछ शब्द इस प्रकार प्रयुक्त मिलते हैं—भिक्खुनी (भिक्षुणी),

पवजिका (प्रव्राजिका), उवज्झाया: उवज्झयिनी (उपाध्याया, उपाध्यायिनी), अंतेवासिक्की (शिष्या) जिससे स्पष्ट है कि बौद्ध भिक्षुणियों में कुछ अध्यापिकाएँ होती थीं, यद्यपि वह भिक्षुओं को भी पढ़ाती थीं इससे ज्ञात नहीं होता।

जैन धर्म में भी पार्श्वनाथ के समय (महावीर से २५० वर्ष पूर्व) से ही जो इस धर्म के आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं स्त्रियों को संन्यास का अधिकार प्राप्त है। किन्तु उनकी मुक्ति के विषय में जैन धर्म के दोनों संप्रदायों—श्वेतांबर और दिगंबर—में एकमत नहीं है। श्वेतांबर मत के अनुसार स्त्री रूप में जीव को पूर्णता की प्राप्ति संभव है परंतु दिगंबर संप्रदाय की मान्यता के अनुसार साधक का दिगंबर होना अनिवार्य होने तथा स्त्री का पूर्णतया दिगंबर जीवन अव्यावहारिक होने से जब तक अपने सत्कर्मों के फल-स्वरूप उसका पुरुष योनि में पुनर्जन्म न हो स्त्री को मोक्ष नहीं मिल सकता। बौद्ध धर्म में जिस प्रकार भिक्षुणी का भिक्षु के प्रति सविशेष विनम्र भाव आवश्यक धर्म है जैन धर्म के दोनों संप्रदायों में साधु से साधुनी का स्थान लघु माना गया और उसके लिए 'महापरिज्ञान' 'अरुणोपपत' तथा 'दृष्टिवाद' के कुछ अंशों का पाठ वर्ज्य है। फिर भी, अध्यात्म साधना के क्षेत्र में जैन स्त्री का स्थान नगण्य नहीं रहा है और इस धर्म के आरंभिक काल में स्त्रियाँ पति की जीवितावस्था में भी घरबार छोड़ कर मठों में साधु जीवन व्यतीत कर सकती थीं, एवं उसके उत्थान काल में अनेक राजकुमारियों तथा समृद्ध और आभिजात्य वर्ग की स्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने वैभवमय सुखोपभोग का तृणवत् परित्याग करके जैन मुनियों के कठोर जीवन को अंगीकार किया। इन नारियों में स्वयं तीर्थंकर महावीर की (ई० पू० ६ठीं शती) बुद्धिमती पुत्री पियदंसा का नाम आता है जो जैन मत को स्वीकार करने के कुछ समय के अनंतर गार्हस्थ्य जीवन से साधु हो गयी। इसी प्रकार जैन ग्रंथों में कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक की पुत्री जयंती प्रसिद्ध है जिसने कौशाम्बी में महावीर के आगमन पर उनसे जैन धर्म और अध्यात्मविषयक गूढ़ तत्वों पर प्रश्नोपप्रश्न करके उनसे प्रभावित होने पर संसार को त्याग दिया।

पिछले अध्याय में स्थापत्य तथा मूर्ति कला की अभिवृद्धि में कुमारदेवी के योगदान का जो उल्लेख हुआ है वह उसकी अध्यात्म साधना का एक बाह्य लक्षण है। वस्तुतः उसका सारा जीवन अध्यात्म साधना से परिपूर्ण था जिस का सारनाथ के उत्खनन से प्राप्त शिलालेख पर उत्कीर्ण संस्कृत के २६

श्लोकों में पद्यबद्ध उसकी प्रशस्ति के १३वें श्लोक में यह उदाहरण मिलता है–

धर्माद्वैतमतिर्गुणा हितरतिः प्रारब्ध पुण्याचति
दानोदार धृतिर्मतंगजगतिर्नेत्राभिरामा कृतिः।
शास्तृन्यस्तनति जनोदितनुतिः कारुण्यकेलि स्थिति
नित्य श्री वसतिः कृताद्य विहतिः स्फायद् गुणाहंकृतिः॥

—धर्म में उसकी अनन्य निष्ठा है और वह सदा सद्‌गुणों के उपार्जन में लगी रहती है। पुण्य का संचय उसका व्रत है। दानधर्म में वह कभी विचलित नहीं होती। उसकी चाल हाथी के समान है। उसे देखकर चित्त प्रसन्न होता है। शास्ता (भगवान् बुद्ध) के चरणों में वह प्रणतियाँ अर्पित करती है और लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। वह दया की मूर्ति मती क्रीडास्थली है। श्री उसमें वास करती है। पापों को उसने मार भगाया है तथा उसमें गुणों का इतना प्रसार हुआ है कि वे अपने को धन्य मानते हैं।

बौद्ध धर्म की प्रचारिकाओं में गुह्या, अनोपमा, सुमेधा इत्यादि भिक्षुणियों के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। घोष के अनुसार 'मल्लिका, श्यामावती, संघमित्रा, चारुमती और राज्यश्री के वाद कुमारदेवी ही भारत की एक ऐसी नारी हुई जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार और उत्थान में त्याग दिया। यह स्मरण रहे कि यह कुमार देवी जिसके स्मारक में उसके पुत्र विजयचन्द्र (११५५-११७० ई०) ने एक भव्य स्तूप का निर्माण किया जो काशी के अनेक अवशेषों में एक है, उस कुमार देवी से भिन्न है जो चन्द्रगुप्त प्रथम की राजमहिषी थी।'[१२]

यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार में स्त्रियों ने बहुत भाग लिया तथापि जैसी स्वयं बुद्ध को आशंका थी बौद्ध विहारों में भिक्षु-भिक्षुणियों के एक साथ रहने से ऐसे दोष उत्पन्न हुए जो बाह्य आक्रमणों के सिवाय उन आंतरिक बुराइयों में गिनाये जाते हैं जिनके कारण बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ।

मोक्षसाधक ज्ञानाश्रयी धारा अथवा सांख्यनिष्ठा के साथ कर्मयोग का प्राचीन मार्ग जो कालांतर में विलुप्त हो गया था उसके साथ भक्ति का मेल करके कृष्ण ने अध्यात्म साधना का द्वार सबके साथ नारी के लिए खोल दिया। उन्होंने

---

१२ प्रोफेसर नगेन्द्रनाथ घोष : भारत का प्राचीन इतिहास, हिंदी अनुवाद चन्द्रचूड़ मणि, प्रकाशक इंडियन प्रेस, प्रयाग।

कर्म-योग निष्ठा की जो परंपरा बतलायी है उसकी प्राचीनता उनके इस कथन से प्रकट है कि 'मैंने इस सनातन योगकर्म को विवस्वान को बतलाया था विवस्वान ने इसे मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को बतलाया। परंपरा के साथ चले आते हुए इस कर्म योग को राजर्षि लोग जानते थे, किंतु बहुत समय हो जाने पर कालांतर में वह कर्म योग लुप्त हो गया।[13]

सांख्य निष्ठा अथवा निवृत्ति मूलक संन्यास और कर्म योग निष्ठा अथवा प्रवृत्ति मार्ग दोनों का एक ही लक्ष्य मोक्ष अथवा परमेश्वर की प्राप्ति है और दोनों में परमात्मा का पूर्ण ज्ञान अनिवार्य माना गया है। उनमें महत्व का भेद यह है कि संन्यासमार्गी चित्त शुद्धिपूर्वक विहित कर्म करता हुआ परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर कर्मों को सर्वथा त्याग देने का आग्रह करता है। इसके विपरीत कर्मयोगी परमात्मा का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर भी फलाशा का परित्याग कर असंग बुद्धि से लोकसंग्रह के लिए सभी कर्तव्य कर्म जीवन पर्यंत संपन्न करता रहता है। इस दूसरे मार्ग को ही 'नारायणीय', 'सात्वत' अथवा 'भागवत धर्म' भी कहते हैं जिसको दोनों मार्गों में कृष्ण ने श्रेष्ठ कहा है और दोनों निष्ठाओं में अव्यक्तोपासना से परमात्मा की प्राप्ति दुःसाध्य बतला कर कर्म और ज्ञान के साथ भक्ति का समन्वय करके ईश्वरोपलब्धि के इस मार्ग को राजविद्या और सबके लिए सुसाध्य बतलाते हुए सभी को इसका उपदेश किया है। इस मार्ग में यज्ञ-यागादि का कभी त्याग न होने से यावज्जीवन पति के साथ उनका सम्पादन करती हुई स्त्री भक्ति मार्ग से परम पद की प्राप्ति कर लेती है। इस विषय में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि 'अर्जुन ! ऐसे लोग भी जिनकी उत्पत्ति पाप से हुई है, तथा स्त्री, वैश्य और शुद्र भी जो मेरी शरण में आ जाते हैं परम पद को प्राप्त होते हैं।'[14] इसी प्रकार कृष्ण ने इस कथन के द्वारा कि 'जो लोग अपने कर्म करते हुए निरपेक्ष भाव से मेरी भक्ति करते हैं, पुरुष हों अथवा स्त्री, समझना चाहिए कि वे सात्विक प्रकृति के हैं'[15] यह उदात्त दृष्टि दी है कि भक्ति मार्ग में पुरुष के समान ही स्त्री अपने कर्मों से सात्विक और श्रेष्ठ हो सकती है।

भगवदवतार की श्रद्धेयता के आधार पर कृष्ण के वचनों को लेकर श्री मद्भागवत तथा दूसरे ग्रंथों में एक ऐसे सरस रोचक और विशाल साहित्य का निर्माण हुआ जिसके माध्यम से व्यास गद्दियों से पुराण वाचकों ने भक्ति की

१३ गीता० ४.१

१४ वही ९.३२

१५ भागवत० ११.२५.१०

अविरल धारा बहायी जिसका विशेषतः स्त्रियों पर गंभीर प्रभाव पड़ा। कथा, कीर्तन, व्रत और उपवास एवं तीर्थ-दर्शन इत्यादि उनके सांस्कृतिक उत्थान के अंग रहे और इन बातों का स्त्रियों के ऊपर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं कि पुरुषों की अपेक्षा भारतीय नारी की धर्म-निष्ठा अधिक सच्ची और प्रगाढ़ सिद्ध हुई है। भक्ति मार्ग में जात-पाँत अथवा स्त्री-पुरुष का भेद न गीता में मान्य हुआ और न किसी पुराण में। जैसा कि उसकी प्रस्तावना से स्पष्ट है पुराणों में सर्वाधिक लोकप्रिय श्रीमद्भागवत पुराण की रचना ही भक्ति रस को पिलाने के लिए हुई है। रामायण में तुलसीदास ने शबरी की भक्ति की अवतारणा भी इसी लिए की।

विगत सहस्र वर्षों में भक्ति-गंगा की निर्मल धारा कई शाखाओं में बहती रही है; भक्ति के साधन से क्षेत्रीय एवं जनपदीय भाषाओं में निर्गुण पंथी संतों ने अपनी 'साखियों' और 'बानियों' से एवं सगुणोपासक भक्तों ने अपने हृदयग्राही भक्तिकाव्यों से देश के प्रत्येक भाग के असंख्य नर और नारियों को उत्साह और आशा का जीवन प्रदान किया। महाराष्ट्र में जहाँ हम साधु तुकाराम को यह उद्घोष करते पाते हैं कि—

'क्या द्विजाति क्या शूद्र ईश को वेश्या भी भज सकती है,
श्वपचों को भी भक्तिभाव में शुचिता कब तज सकती है ?
अनुभव से कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है वश में,
जो चाहे सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में ॥'[१६]

उत्तर भारत में गोस्वामी तुलसीदास मानव मात्र के लिए भक्ति मार्ग से परम पद की प्राप्ति बतलाते हुए उसका अधिकार गणिका तक को देकर भक्तों को यह आश्वासन देते हैं—

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिलि व्याध गीध गजादि खल तारे घना ॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ रूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामिते ॥

कृष्ण के जीवन काल में ही भीष्म पितामह और अर्जुन जैसे असाधारण व्यक्तियों के सिवाय द्रौपदी और गोपियाँ उनकी परमेश्वर रूप से भक्ति करने लगी थीं और वृष्णियों में उनका बतलाया हुआ भागवत धर्म व्याप्त हो गया

---

१६ बाल गंगाधर तिलक : गीता रहस्य पृ० ४२९, अनुवादक माधवराव सप्रे

था। बाद को देश के अनेक स्थानों में ऐसी भक्त स्त्रियों के यशस्वी नाम मिलते हैं जिनकी ईश्वर भक्ति संतों की तरह प्रगाढ़ और उत्कृष्ट रही है।

नारियों में द्रौपदी की गणना उन कृष्ण भक्तों में करनी चाहिए जिन्हें गीता के चार प्रकार के भक्तों में 'आर्त' कहा गया है[१७] और जिसकी आर्त पुकार पर उसकी लाज रखने के लिए भगवान उसकी साड़ी के एक-एक सूत में साड़ी के रूप में प्रकट हुए। द्रौपदी की इस पुकार को महाभारत में इन शब्दों में प्रकट किया गया है :

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रिय।
कौरवैः परिभूतां माम् किन्न जानासि केशव ॥
हे नाथ हरे नाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णव मग्नामामुद्धरस्वजनार्दन ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन्विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविंद कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥[१८]

गोपियों की कृष्ण भक्ति इतनी एकनिष्ठ थी कि कृष्ण भक्ति का दम भरने वाले ज्ञानी उद्धव को कृष्ण का संदेश गोपियों के पास ले जाने पर उन्होंने उद्धव के ज्ञान और योग के उपदेश को अपनी झोली में रखे रहने के लिए कहते हुए भक्त सूरदास के शब्दों में इस प्रकार फटकार सुनायी :

वार वार ये वचन निवारो।
भक्ति विरोधी ज्ञान तुम्हारा।
होत कहा उपदेसे तेरे।
नयन सुवस नाहीं अलि मेरे ॥
परि पथ जोवत निमिष न लागै।
कृस्न वियोगिनि निस दिन जागै ॥
नंद नंदन के देखे जीवै।
रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवै ॥
दुसह वचन अलि हमहिं न भावै।
जोग कथा औढ़ै कि दसावै ॥[१९]

---

१७ गीता० ७.१६
१८ म० भा०, सभा पर्व ६८.४१-४३
१९ सूरसागर

इसी प्रकार दक्षिण भारत की संत परंपरा में आल्वार सम्प्रदाय की आंडाल[२०] नाम की स्त्री (जन्म सं० ७७३) अपनी असीम भक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध हो गयी है जिसके पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में ग्रथित मिलते हैं। तेलुगु साहित्य में मोल्ल की प्रसिद्धि उसके 'आंध्र रामायण' की रचना के लिए है। चरणदासी सम्प्रदाय के संत चरणदास (वि० सं० १७६०–१८३९) की शिष्या सहजो बाई[२१] न केवल संत थी उसने 'सहजो बाई की बानी सहज प्रकाश' ग्रन्थ की रचना भी की। झाली रानी[२२] जिसे कुछ लोग राणा साँगा (सं० १५३९-१५८४) की धर्मपत्नी कहते हैं संत रविदास का शिष्यत्व ग्रहण करके मेवाड़ वंश की दूसरी प्रख्यात भक्त मीरा बाई (वि० सं० १५५५-१६३०) की तरह एक संत हुई हैं। महाभारतकालीन गोपियों के समान मीरा बाई की कृष्ण भक्ति अत्यंत उत्कृष्ट और अनन्य थी जिसने पति और परिवार की प्रताड़नाओं को कुछ न समझ कर और राजसुख का परित्याग कर अपना जीवन कृष्ण-भक्ति में समर्पित कर दिया और जिसके पद संगीत और भक्ति के साहित्य में अमूल्य रत्न माने गये हैं। सिख धर्म के उदासी सम्प्रदाय में संत सुवचना दासी (जन्म सं० १७२८) एक ऐसी संत हुई है जिसने प्रेम तरंगिनी, विज्ञान सागर, विदेह मोक्ष प्रकाश इत्यादि ग्रन्थों की रचना की।

श्रेयस् की साधना में स्त्री और पुरुष का जहाँ पारस्परिक सहयोग रहा है स्त्री स्वतंत्र रूप से भी अध्यात्म साधना में पूर्णतया सफल रही है। और यह अति कथन नहीं कि जहाँ कई संस्कृतियों की बहुत समय तक यह मान्यता थी कि नारी में आत्मा नहीं होती हमारी संस्कृति के लिए यह एक गर्व और गौरव की बात रही है कि आत्मोद्धार के लिए उसमें स्त्रियों को पुरुष के बराबर ही स्थान दिया गया।

---

२० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, संशोधित संस्करण, पृ० १९२
२१ परशुराम चतुर्वेदी : उत्तर भारत की संत परंपरा, पृ० २४०
२२ वही

अध्याय १६

समाज के विकास में बाधाएँ : दहेज और पर्दा

'सकृत्कन्या प्रदीयते'[१]—कन्या का दान एक बार ही होता है—महाभारत में उल्लिखित सावित्री के इस कथन में जिसकी प्रस्थापना मनु[२] ने की थी कन्या के विवाह को दान की संज्ञा दी गयी है और गीता में उत्तम दान उसे बतलाया गया है जिसमें ग्रहीता की पात्रता पर पूरा ध्यान रखा जाता है और उससे किसी प्रकार के प्रत्युपकार अथवा बदला पाने की अपेक्षा नहीं की जाती।[३]

दहेज (यौतुक)

यदि कन्या के विवाह सम्बन्ध में उसका पिता अथवा अभिभावक वर पक्ष से किसी प्रकार का धन लेकर विवाह सम्पन्न करता है तो इस संपत्ति को 'कन्या शुल्क' अथवा कन्या का मूल्य कहकर इस रीति की घोर निन्दा शास्त्रों में की गयी तथा विवाहों को कन्या-विक्रय कहकर निषिद्ध घोषित किया गया है।

बहुत संभव है कि किसी सुदूर अतीत में समाज के कुछ संभ्रान्त पुरुष भी वर से विवाह के पहले अथवा उसके क्रम में कुछ सम्पत्ति ग्रहण कर लेते थे। स्मृतिकारों ने 'आर्ष विवाह' की परिभाषा में एक प्रथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार विवाह रूपी यज्ञ की पूर्ति के लिए वर से एक बछड़ा और एक बछिया अथवा दो बछवे और दो बछिए लेने की रीति थी।[४] और सब बातों में आर्ष विवाह-प्रणाली सर्वथा दोष-रहित मानी गयी, परन्तु इस प्रकार पशुओं का लेना भी कन्यादान की शुद्ध भावना के प्रतिकूल मानकर निन्द्य ठहरा दिया गया। मनुस्मृति में यह स्पष्ट कहा गया कि 'कुछ लोगों के अनुसार आर्ष विवाह में गौ का जोड़ा लेने का समर्थन पाया जाता है परन्तु शुल्क की मात्रा थोड़ी हो अथवा बड़ी वह विक्री ही है।'[५] इसी बात को महाभारत में भीष्म ने भी प्रायः इन्हीं शब्दों में कहा है कि 'राजन्! आर्ष (विवाह) में कुछ लोग गौ

१ म० भा०, वन पर्व २९४.२६
२ मनु० ९.४७
३ गीता० १७.२०
४ मनु० ३
५ मनु० ३.५३

मिथुन का शुल्क के रूप में समर्थन करते हैं, किन्तु, थोड़ा हो अथवा बहुत, है यह विक्रय ही।"[६]

उत्तम दान की परिभाषा के अनुसार दाता के चित्त में लोभ का सम्पूर्ण अभाव अनिवार्य है, इस दृष्टि से मनुस्मृति के इस कथन को कि 'कन्या के पिता में कुछ भी समझ हो तो वह उसके विवाह में क्षुद्र से क्षुद्र शुल्क न ले, क्योंकि शुल्क लेते ही वह संतान का विक्रय करनेवाला हो जाता है'[७] महाभारत के इस कथन में प्रबल समर्थन प्राप्त है कि 'जो मनुष्य अपने पुत्र को बेचकर उससे धन चाहता है अथवा जीविका के लिए शुल्क लेकर कन्या का विवाह करता है वह महा चोर है, और नरक में पड़कर स्वेद, मूत्र और पुरीष खाता-पीता है।'[८] बौधायन धर्म शास्त्र ने कन्या शुल्क को बन्द करने की दृष्टि से यहाँ तक नियम निर्दिष्ट कर दिया कि शुल्क लेकर जिस कन्या का विवाह होता है उसे पत्नी के अधिकार से वंचित कर देना चाहिए। उसका यह निर्देश कि 'जिस नारी को द्रव्य से खरीदते हैं वह 'पत्नी' नहीं कहलाती, वह दैव अथवा पितृ कार्यों में सहचारिणी नहीं हो सकती, विद्वान् जन उसे दासी मात्र मानते हैं और जो लोभ के कारण बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने से शुल्क लेकर अपनी कन्या देते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं और अपने सात कुलों का नाश करते हैं,'[९] इस रीति का प्रबलतम विरोध है। इसी तरह अत्रि स्मृति में कन्या शुल्क की घोर निन्दा इन शब्दों में हुई है कि 'कुछ देकर जो कन्या क्रय की जाती है वह 'पत्नी' नहीं होती और उससे जो 'सुत' उत्पन्न होते हैं वे पितरों को पिंड देने के अधिकारी नहीं होते।'[१०] अत्रि-स्मृति के कथन में 'सुताः' शब्द बहुत सारगर्भित है। उसके स्थान में 'पुत्राः' शब्द जिसका प्रयोग छन्द और व्याकरण की दृष्टि से संभव है इसलिए नहीं प्रयुक्त हुआ कि 'पुत्र' पिंडदान के द्वारा पितरों को नरक से तारता है किन्तु 'सुताः' (अर्थात् उत्पन्न) को पिंडदान का अधिकार नहीं है। पुराण कन्या-शुल्क को गर्ह्य घोषित करने में एक कदम और आगे हैं। पद्मपुराण की इस उक्ति में कि 'बुद्धिमान को कन्या के बेचने वालों के मुँह तक नहीं देखना चाहिए और यदि अनजान में उसे देख ही ले तो उसे तुरन्त सूर्य का दर्शन करना चाहिए'[११] कन्या शुल्क की भरपूर निन्दा हुई है।

---

६ म० भा०, अनुशासन पर्व, ४५.२०
७ मनु० ३.५१
८ म० भा०, अनुशासन पर्व, ४२. १८. १९
९ बौध० ध० शा० १. २. २०. ९
१० अ० स्मृ० ३८४
११ पद्म पुराण

धर्मशास्त्रों और पुराणों के निषेध के कारण एवं संभ्रांत पुरुषों के आचरण देखकर समाज में कन्या शुल्क एक घृणित कार्य मान लिया गया और उसे लेने वाले का समाज में अनादर होने लगा। वह इतना गर्ह्य माना जाने लगा कि उत्तम पुरुष सौगंध लेते समय उसकी कुत्सा का उल्लेख करने लगे। महाभारत में यह वर्णन आता है कि सात योद्धाओं के एक साथ प्रहार करने से अभिमन्यु के मारे जाने पर अत्यन्त विक्षुब्ध होकर अर्जुन ने यह भीषण प्रतिज्ञा की कि जयद्रथ को जिसे वह अभिमन्यु वध का मुख्य कारण मानता था सूर्यास्त के पहले युद्ध में मार गिरायेगा और अपने संकल्प में दृढ़ता के लिए उसने दूसरे कई गर्हित बातों के अतिरिक्त इस बात की सौगंध ली कि स्यात् वह ऐसा करने में असमर्थ हो तो उसे वह पाप लगे जो 'अग्नि और अतिथि के पूजा-धर्म का पालन नहीं करते, गोशाला और जलाशयों को नष्ट करते अथवा रजस्वला से संसर्ग करते या शुल्क लेकर कन्यादान करते हैं।'[१२]

तथापि कन्या-शुल्क का संपूर्ण लोप नहीं हुआ और किसी न किसी बहाने कुछ लोग उससे अनुचित लाभ उठाते पाये गये जिसका एक ज्वलंत दृष्टांत माद्री के विवाह के प्रसंग में शल्य के चरित्र में मिलता है। महाभारत में यह उल्लेख मिलता है कि कुंती के साथ पांडु का विवाह कर देने के पश्चात् भीष्म ने उसका दूसरा विवाह मद्र[१३] राज शल्य की बहिन माद्री के साथ करने के लिए शल्य से प्रस्ताव किया। भीष्म जैसे प्रतापी पुरुष के प्रस्ताव को ठुकरा देने का साहस शल्य नहीं कर सका। किन्तु उसने भीष्म से कन्या-शुल्क की माँग कर दी। उसकी शब्द-योजना से यह बात छिपी नहीं रहती कि कन्या-शुल्क लोकमत के विरुद्ध था जिसके कारण उसकी माँग करने में शल्य को लज्जा की अनुभूति भी हो रही थी। परन्तु उसने अपने कुल की पहले से चली आती हुई शुल्क लेने की रीति का आधार लेकर अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया कि 'इस कुल के पहले के श्रेष्ठ नृपतियों ने एक परंपरा चलायी, मैं उसे भंग करने का साहस नहीं कर सकता; इसमें संदेह नहीं कि यह बात आपको भी विदित है, अतएव आप शुल्क दें ऐसा आपसे कहते नहीं बनता। परन्तु शत्रुओं को नाश करनेवाले वीर! वह हमारा कुलधर्म है और हमारे लिए अत्यंत माननीय है।'[१४]

---

१२ म० भा०, द्रोण पर्व, ७३. ४२

१३ वर्तमान स्यालकोट और उसके आसपास का प्रदेश महाभारतकालीन मद्र जनपद।

१४ म० भा०, आदि पर्व, ११३. ९. १०. ११

इस प्रसंग में शल्य के कपटी चरित्र का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। कन्या-शुल्क का अनौचित्य मानते हुए भी उसने कुलधर्म के बहाने उसे माँग ही लिया। इसका कारण उसके कुलधर्म के पालन की भावना से अधिक उसका लोभी स्वभाव प्रतीत होता है जिसका परिचय महाभारत युद्ध के समय उसके कपटपूर्ण आचरण में मिलता है। युद्ध की तैयारी के सिलसिले में युधिष्ठिर के निवेदन पर एक अक्षौहिणी सेना का नियंतृत्व करता हुआ शल्य उपप्लव्य की ओर बढ़ रहा था कि गुप्तचरों से इसकी सूचना पाकर दुर्योधन ने उसके मार्ग में कई पड़ावों पर अत्यन्त आडंबरपूर्ण आमोद-प्रमोद के प्रबंध से सत्कृत कर के उसे अपने पक्ष में कर लिया। इसके उपरान्त जब वह अपने भानजों से मिला तो युधिष्ठिर को यह वचन देने में उसने कोई ग्लानि की बात न देखी कि युद्ध में अर्जुन से लड़ने के लिए यदि उसे कर्ण का सारथ्य करना पड़े तो अपने रथी के उत्साह भंग करने में कोई कोर-कसर नहीं रखेगा। अर्जुन के साथ युद्ध करते समय कर्ण को जहाँ कृष्ण सरीखे सब प्रकार के सच्चे और उत्साह भरने-वाले सारथी की आवश्यकता थी उसे परिस्थिति के वश होकर शल्य को अपना सारथी नियुक्त करना पड़ा और जहाँ तक संभव था शल्य ने उसे हतोत्साहित करने का प्रयास किया।

डॉक्टर अलतेकर ने कन्या-विक्रय की इस चाल की पन्द्रहवीं शती में तंजौर (दक्षिण भारत) में विद्यमानता का यह उल्लेख किया है कि उस समय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वहाँ के ब्राह्मणों ने एक सम्मेलन करके प्रस्ताव द्वारा कन्या-शुल्क को वर्ज्य किया और कन्या-शुल्क लेने वाले को समाज से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की।[१५]

कन्या विवाह में कन्यादान की कल्पना भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है जिसकी रक्षा के लिए वर से किसी वस्तु को लेना कन्या पक्ष के लिए न केवल एक निंद्य और पाप कर्म निर्दिष्ट हुआ बल्कि उसकी मान्यता यहाँ तक रही कि उसे सामाजिक कुरीति का स्वरूप कभी प्राप्त नहीं हुआ और इसी से इस समय भी ऐसे पुरुष और स्त्रियों की कमी नहीं जो कन्या के आत्मीय न होते हुए भी उसके पिता के ग्रामवासी मात्र होने के नाते उसके श्वसुर के गाँव में जल तक नहीं ग्रहण करते। यह एक ऐसी बात है जिस पर भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ व्यक्ति का विश्वास सहसा नहीं हो सकता। इस समय कन्या शुल्क का अस्तित्व नहीं के बराबर है और यदि अपनी अत्यन्त दरिद्रता के कारण कहीं

---

१५ डॉ० ए० एस० अलतेकर : दि पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ४१

कुछ लोग वर से लेन देन कर लेते हैं तो समाज के भय से ऐसा लुक-छिप कर ही करते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि कन्या विक्रय की समस्या से समाज मुक्त है।

दहेज प्रथा की जिसें एक सामाजिक कुरीति कहना चाहिए आरंभिक अवस्था में कोई बुराई नहीं दिखायी देती। विवाह के कन्या-दान की कल्पना में जहाँ वर पक्ष से कुछ लेना निन्द्य माना जाता था उसे विवाह के समय यथा शक्ति वस्त्र, अलंकार और वाहन आदि देने की प्रथा प्रशंसनीय समझी जाती थी। वर को तरह तरह के वस्त्र और आभूषणों के उपहार जिसे 'यौतुक' कहते थे देने में कन्या दान की उत्कृष्टता मानी गयी। वर के पिता और दूसरे आत्मीय जनों को भी नाना प्रकार के उपहारों से समादृत करने में कन्या का पिता गौरव का अनुभव करता था। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि इन उपहारों अथवा किसी प्रकार के यौतुक की वर न अपेक्षा करता था और न कन्या-दान की पूर्णता के लिए उसका देना आवश्यक ही था। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं—यद्यपि उनकी संख्या बहुत नहीं हो सकती—जब तपस्वी ब्राह्मणों ने राजकन्याओं के साथ विवाह किये पर कोई यौतुक लेने से इनकार कर दिया। राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या का दृष्टांत हमारे सामने है जिसने पति के आश्रम में पहुँच कर मुनि पत्नी के अनुरूप वल्कल पहन लिया और पिता के यहाँ मिले हुए वस्त्र और अलंकारों को लौटा दिया।

साधारण पुरुष भी अपनी कन्या के विवाह के समय उसे तथा उसके वर को उपहारों से प्रसन्न करते थे। श्रीमन्तों का कहना ही क्या, जिनके यहाँ ऐसे अवसरों पर उनकी वर्षा होती थी। रामायण और महाभारत काल में समर्थ लोगों के यौतुक देने के उदाहरण बहुत प्रसिद्ध हैं। राम और उनके भाइयों के विवाहोपलक्ष में उन्हें और दशरथ को जनक ने जो तरह-तरह के और प्रभूत मात्रा में यौतुक दिये उनकी परिसंख्या नहीं हो सकती। द्रौपदी के विवाह के समय महाराज द्रुपद ने और उत्तरा के विवाह के अवसर पर महा-राज विराट ने अपार उपहार देकर वरों और उनके सम्बन्धियों को मुग्ध कर दिया। कृष्ण की सहमति से अर्जुन ने सुभद्रा-हरण किया जिससे दूसरे वृष्णि लोग उस पर बहुत कुपित हुए, परन्तु उन्हीं लोगों ने जब उसके विवाह का समय आया यौतुक दिये। विवाह के अवसर पर भूमि अथवा गाँव भी यौतुक के रूप में दिये जाते थे। इस तरह के ग्राम-दान का उल्लेख घोष ने बिम्बसार (५४७-४९५ ई० पू०) के विवाह की चर्चा करते हुए इस प्रकार किया है कि 'उसने स्वयं कोशलाधिप महाकोशल की राजपुत्री कोशल देवी से विवाह

किया था जिसके फल स्वरूप काशी का एक गाँव महाकोशल को अपनी पुत्री के दहेज स्वरूप देना पड़ा था।'[१६] प्राचीन काल से ही विवाह के अवसर पर कन्या वाले वर और उसके आत्मीयों को यथाशक्ति भाँति-भाँति के वस्त्र, अलंकार, रत्न और वाहन देना अपना कर्तव्य मानते आये जिससे विवाह के सिलसिले में यौतुक की प्रथा मूलबद्ध हो गयी और जब तक उसका देना न देना कन्या पक्ष की स्वेच्छा और सामर्थ्य पर अवलंबित रहा इस प्रथा में कोई प्रत्यक्ष हानि देखने में नहीं आई।

परन्तु यह प्रथा जो सैकड़ों वर्षों तक समाज में आनंदोत्सव का कारण थी पश्चाद्वर्ती कालों में सामाजिक कोढ़ के रूप में परिवर्तित हो गयी। इस पतनोन्मुख अवस्था का आरंभ कब और कैसे हुआ इस पर कोई एक निश्चयात्मक मत प्रस्तुत करना कठिन है, तथापि यह असंदिग्ध जान पड़ता है कि विवाह के आदर्शों के प्रति उपेक्षा और बाल विवाह की कुरीति के कारण दहेज प्रथा के प्रसार के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिल गया।

एक ओर जीवनादर्श की दृष्टि से एवं धर्म मान कर वेदों और दूसरे सांस्कारिक शास्त्रों के अध्ययन में अभिरुचि की कमी और ब्रह्मचर्यपूर्वक उनके अध्ययन काल को घटाते जाने से बालकों के विवाह पहले की अपेक्षा अल्प वयस् में कर देने की आवश्यकता दिखायी पड़ी और दूसरी ओर जब बालिका के लिए वेद और ब्रह्मचर्य आश्रम के द्वार बंद हो गये, कम अवस्था में उन्हें ब्याह देने की एक असाधारण प्रवृत्ति का जन्म हुआ। स्मृति शास्त्रों में इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि ऋतुमती होने के पूर्व कन्या का विवाह न करने से उसके पिता को भ्रूण-हत्या का पाप लगता है। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक लड़कियों का संबंध है इन कारणों से उनमें बहुधा बाल विवाह होने लगे। यथा संभव उनके विवाह जल्दी हो जायँ इसकी चिन्ता के कारण कन्या का पिता चाहे जिस तरह हो बहुत-सा धन देकर उसके लिए वर प्राप्त करने लगा। बालक का पिता विवाह का उच्च आदर्श भूल गया—और उसे जानने समझने की सामर्थ्य स्वयं बालक में तो थी नहीं—और द्रव्य के लोभ में पड़कर अल्पवयस्क लड़के का विवाह करने लगा। बालक का पिता लड़की के पिता की कठिनाइयों और चिन्ताओं का अनुचित लाभ उठाकर उससे तिलक और दहेज के रूप में जहाँ तक संभव हो बड़ी से बड़ी रकम और हाथी घोड़े आदि पाने की ठहरौनी पर उतर आया। इस प्रकार स्वेच्छा और शक्ति के अनुसार यौतुक

---

१६ घोष : भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० ९३

देने की प्रथा में दहेज की ठहरौनी का प्रवेश हो गया। आरंभ में वह एक साधारण रोग के रूप में आया किन्तु अनुकूल परिस्थितियों को पाकर बढ़ते-बढ़ते असाध्य हो चला।

लगभग एक हजार वर्ष से जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे बाल विवाह की कुप्रथा और उससे संबंधित होने के कारण दहेज की कुप्रथा से समाज की अधोमुखी गति बुरी से बुरी हो गयी और दहेज प्रथा के प्रभाव के कारण बहुत से श्री सम्पन्न तथा संभ्रान्त परिवार कष्टों में पड़ने के सिवाय ऋणग्रस्त हो चले। विवाह में जहाँ कभी वाग्दान की बड़ी प्रतिष्ठा थी तिलक चढ़ जाने पर भी नीलाम में सबसे बड़ी बोली को स्वीकार करने की तरह अधिक दहेज मिल जाने पर पहली ठहरौनी को रद्द करने में बहुतों को कोई अधर्म अथवा अनौचित्य नहीं देख पड़ा। कन्याविक्रय की तरह यह भी पुत्र-विक्रय हुआ और इस ह्रास के काल में किसी नई स्मृति अथवा धर्म शास्त्र की अपेक्षा थी जो दहेज को पुत्र-विक्रय कह कर उसे वर्ज्य करने की व्यवस्था करता।

परंतु इस दशा में समाज सुधार की चिंता किसे पड़ी थी। और देश की राजनैतिक तथा अन्य परिस्थितियों के कारण यह संभव भी नहीं था। स्थिति बिगड़ती ही गयी; न जाने कितने परिवार नष्ट हो गये और न जाने कितनी निरीह बालिकाएँ कहाँ से कहाँ जा लगीं। किन्तु पचास वर्ष पूर्व जब बंगाल की स्नेहलता ने अपने पिता को उसके विवाह के लिए आवश्यक दहेज जुटाने में असमर्थ होने के कारण चिन्ता की अग्नि में झुलसते देखकर अपने को अग्निदेव को सौंपकर इस प्रथा को अपने प्राण भेंट कर दिये, हिन्दू समाज की चिरनिद्रा भंग हुई और उसके विरोध में एक प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।

यह आन्दोलन चला तो एक सामाजिक कुरीति को दूर करने, परन्तु उसके नेताओं में जिस दृढ़ संकल्प, लगन, अध्यवसाय और त्याग की आवश्यकता थी उनमें इनका अभाव शीघ्र ही दिखायी पड़ा जिसका आन्दोलन के ऊपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। आन्दोलनकारियों में तथाकथित सुधारकों की कमी न थी जो 'अंतः शाक्ताः बहिः शैवाः सभा मध्ये च वैष्णवाः' की कहावत चरितार्थ करते थे और वस्तुतः 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे' की तरह कोई बढ़िया लेख लिखते और कोई सभाओं में भड़कीले भाषण देते परन्तु जब उनके परिवार में किसी युवा के ब्याह का अवसर आता तो किसी न किसी बहाने लड़की वाले से एक रकम तलब करते। ऐसे समाज सुधारकों ने

दहेज विरोधी आन्दोलन को असफल बनाने का काम अज्ञात रूप से स्वयं कर डाला।

विवाह के महान् आदर्श से समाज गिर चुका था ही, लोभ उसके रोम-रोम में समाया हुआ था जिसका संवरण करने में उसने अपने को असमर्थ पाया। दहेज की मात्रा वर की ऊँची शिक्षा के अनुपात से बढ़ चली। और भी। इस प्रथा ने एक अश्रुतपूर्व रूप भी धारण किया। बहुत से लोग जिनमें दहेज-विरोधी भावना जगी थी किन्तु लोक-लज्जा के कारण गुप्त रूप से और तरह-तरह के छद्मपूर्ण ढंग से उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न शील हुए। ऊँची शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी और युवक भी जो विद्यालयों के वातावरण में सुधार की बड़ी-बड़ी बातें करने में किसी से पीछे नहीं रहना जानते अपने विवाह के संबंध में अपनी भावी जीवन संगिनी के अभिभावक से कई तरह की माँग उपस्थित करने में संकोच नहीं करते।

स्वतंत्र भारत में काली घटा में एक सुनहली लकीर की आभा दिखायी दी। दहेज प्रथा के कुछ लोग सच्चे विरोधी भी रहे हैं जिनमें पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों की सेवाएँ उल्लेखनीय रही हैं। विधान सभाओं में इस प्रथा का विरोध समय-समय पर प्रकट हुआ है और सतत प्रयास तथा लोकमत का समादर करके संसद ने दहेज-निषेध-अधिनियम १९६१ पारित कर समाज सुधार के लिए एक चिरवांछित आधारशिला स्थापित की है जिसके अनुसार वर और वधू के माता पिता अथवा अन्य किसी व्यक्ति द्वारा किसी संपत्ति अथवा मूल्यवान सिक्योरिटी का विवाह के समय, उसके पूर्व अथवा पश्चात् विवाह के हेतुभूत देना अथवा देने के लिए सहमति अपराध है। परिणामस्वरूप विधानतः दहेज की माँग अथवा उसे देने के लिए कारागार अथवा अर्थ दंड अथवा दोनों प्रकार के दंड की साथ-साथ व्यवस्था हुई है। इस अधिनियम से मुसलमानों के 'शरियत' का 'मह्र' संबन्धी विधान व्यतिरिक्त है।

परंतु इस ऐक्ट के बन जाने से ही दहेज की प्रथा मिट जायगी यह समझ कर बैठ जाना भूल होगी। कहीं शारदा ऐक्ट की तरह यह अधिनियम भी अपने ध्येय में निष्फल न हो जाय इसके लिए समाज के शुभचिन्तकों को दहेज प्रथा से निरंतर लड़ना होगा। राजनीति के मैदान में काम करने वालों को अपने क्षेत्र में आनंद मनाने के साथ उसके बाहर समाज सुधार के असुखद क्षेत्र में बहुत काम करने को मिलेगा और यदि इस दिशा में नेतृवर्ग थोड़ा ध्यान देने लगे तो उसकी यह स्तुत्य समाज सेवा होगी। किसी साधारण बात

को भी लेकर कालेजों और विश्वविद्यालयों के छात्र और छात्राएँ संघटित रूप से संघर्ष और हड़ताल इत्यादि करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यदि इस अस्त्र का थोड़ा भी प्रयोग वे शान्तिपूर्वक दहेज प्रथा को दूर करने के लिए करें तो उनके प्रयत्न का असंदिग्ध प्रभाव समाज पर पड़े विना न रहे।

परन्तु सब प्रयत्नों के साथ दहेज प्रथा को मिटा देने के लिए विवाह विषयक दृष्टिकोण में एक परिवर्तन भी अत्यावश्यक है। विवाह के आदर्श में जहाँ कन्या के लिए उपयुक्त वर प्राप्त करना कन्या के पिता का एक वड़ा कर्तव्य निर्दिष्ट हुआ है वालक अथवा वालक के माता पिता का भी उसके उपयुक्त कन्या की प्राप्ति कम महत्व का कर्तव्य नहीं होना चाहिए। प्राचीन काल में धर्म साधना के लिए ऋषि भी धर्म पत्नी के लिए स्वयं याचना करते थे। वर का खोजना लड़की वाले का कर्तव्य है इस एकांगी दृष्टि को छोड़कर लड़के-वाले योग्य लड़की प्राप्त करना अपना उतना ही महत्वपूर्ण कर्तव्य समझने लगें तो इससे दहेज की प्रथा के नष्ट होने में वड़ी सहायता मिलेगी। यह कोई नये सिरे से गढ़ा गया नूतन दृष्टिकोण नहीं है अपितु वहुत समय से उपेक्षित होने से नवीन लगता हुआ भी ध्यान देने योग्य है।

पर्दा

पर्दा प्रथा हमारी संस्कृति की उन रूढ़ियों में है जिनका आरंभ अत्यंत सामान्य और निर्दोष ढंग से होता हुआ देख पड़ता है परंतु जो कालांतर में कुरीति में परिवर्तित होकर समाज के लिए अभिशाप हो गयीं। इसको मिटाने के लिए समाज-सुधारकों ने जिनमें स्त्रियों का भी सहयोग रहा है सराहनीय उद्योग किये। पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के सम्पर्क का प्रभाव भी इस दिशा में अधिक प्रभावकारी पड़ा और यह निश्चय के साथ कह सकते हैं कि इन सव बातों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि पर्दा की जड़ हिल गयी है और उसकी वह कठोरता जो किसी समय अत्यन्त हास्यास्पद और विषैली थी कुंठित हो गयी है। तथापि यह नहीं कह सकते कि कुरीति के रूप में पर्दा प्रथा का अस्तित्व सर्वथा उठ गया है।

समाज में शिक्षित तथा अशिक्षित पुरुषों और स्त्रियों का अभाव नहीं है जो पर्दा प्रथा के समर्थक हैं और उसे स्त्री के लिए आवश्यक वंधन और सामाजिक आवश्यकता की वस्तु कहने में संकोच नहीं करते। इसके शीघ्र मिटने में उससे चिपके रहने का स्त्रियों का मोह और इसे हानिकारक समझते हुए भी उससे उनका विद्रोह न करना कदाचित् वहुत कुछ सहायक है।

आज की स्थिति तुलना में उस विचित्र हास्यास्पद स्थिति से कहीं संतोषप्रद है जो कुछ समय पूर्व समाज को खोखला करती आ रही थी। रेलवे स्टेशनों, नदियों के घाटों अथवा मेले-ठेले में बिछौने के बंडल, खाने-पीने की सामग्री एवं अन्य प्रकार के सामानों की रक्षा के साथ ही पुरुषों को एक प्राण-वान् 'सामान' की चिन्ता विशेष रूप से सताया करती थी। यह कोई साधारण सामान न होता, पर्दे के भीतर एक रहस्यमय 'सामान' स्त्री-रूप में होता जो कभी-कभी कई उलझनें और गड़बड़झाला पैदा करने का कारण बन जाता। यह अवस्था जहाँ हास्य रस का उद्रेक करती विषाद का विशेष कारण होती थी। कभी-कभी ऐसा होता कि रेल के भीतर से पर्दे में आवृत दो नववधुएँ प्लैटफ़ार्म पर उतारी जातीं और पाल्की में बन्द होकर अपने ससुराल न पहुँचकर एक दूसरी के श्वसुर गृह में अपने को पाकर किसी प्रकार इस रहस्य का उद्घाटन करती। पर्दे के भीतर बन्द, घूँघट में अपने को छिपाये हुए महिला न अपना मुँह खोल पाती और न अपना पता-ठिकाना बता सकती थी। इस रूढ़ि को दृढ़ करने में निरक्षरता और अज्ञान का अलग ही हाथ था। उसकी जड़ इतने नीचे जा चुकी थी कि जो पुरुष उसका विरोध करते थे समाज के नियमों के कारण उसे कार्य रूप में परिणत करने का साहस नहीं करते थे। बहुतेरी स्त्रियाँ पर्दे के महादुर्ग के बाहर आने की इच्छुक थीं; यह स्वाभाविक भी था और यदि उनके मत जानने की कोई योजना कभी काम में लायी जाती तो निस्संदेह यह बात स्पष्ट हो जाती।

परन्तु स्त्री पर्दे के भीतर सड़ने के लिए विवश थी, बाहर निकलकर चलना-फिरना, खुली हवा में साँस लेना, एवं प्रकृति की एक झाँकी लेना कुल को कलंकित करना और उसकी शान में बट्टा लगाना था। कुल वहू चौखट के बाहर हुई नहीं कि सनातन से चली आयी कुल की मर्यादा का मटियामेट हो जाता। नारी इसे दिल मसोस कर सह लेती थी, यह इसी से स्पष्ट है कि यदि उसके बड़े भाग्य से उसे संयोग से किसी तीर्थ-स्थान अथवा मेलों में जाने का अवसर मिलता तो पर्दे की थोड़ी भी ढील मिल जाने से उसका हृदय खिल उठता था और उस समय वह अनुभव करती कि उसके मस्तिष्क और हृदय पर पर्दे का कितना भारी बोझ लदा था। स्त्री के स्वास्थ्य पर पर्दे का कितना बुरा प्रभाव पड़ता है इसे कोई हृदयहीन ही अस्वीकार करेगा। किन्तु कट्टर पर्दा पन्थी-पुरुष अथवा स्त्री को कुल वधू का घर के बाहर किसी पड़ोसिन के साथ थोड़े समय के लिए विनोद कर आना भी असह्य था।

पर्दा की प्रथा से अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनकी तालिका देने की

आवश्यकता नहीं, क्योंकि यद्यपि आज भी उसके हिमायतियों का सर्वथा अभाव नहीं है लोक-मत उसका विरोधी हो चुका है और यद्यपि पुरानी रूढ़ियाँ शीघ्र नहीं जातीं इस प्रथा के दिन लद चुके हैं। शिक्षा के प्रसार और राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का पर्दा प्रथा के हटाने में अत्यंत प्रभावकारी हाथ रहा है।

कालचक्र से उद्वेलित परिस्थितियाँ बड़े-बड़े चट्टानों की जड़ें भी हिला देती हैं। इसी तरह के एक राजनीतिक झंझावात 'गाँधी की आँधी' ने पर्दा प्रथा को ऐसा झकझोरा कि उसे देखकर लोग दंग रह गये। स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों में जब कि देशभक्ति की लहर पुरुषों के हृदय को उद्वेलित कर रही थी, महिलाओं ने आश्चर्यकारी तथा आह्लादजनक कार्य करके प्रत्यक्ष कर दिया कि जिन्हें अबला कहते हैं उनमें अद्भुत क्रिया-शक्ति भरी हुई है। अपने घरों की चहारदीवारी को पार कर उन्होंने अपने त्याग और देशप्रेम के उदाहरण उपस्थित करके पुरुषों के भी दाँत खट्टे कर दिये।

एक ही घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। १९३० ई० में जब सत्याग्रह आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँचा था, और महात्मा गांधी तथा दूसरे प्रमुख नेता जेलों में बन्द थे, भारतीय नारी ने पर्दे से निकलकर अपनी शक्ति का अपूर्व जौहर दिखलाया। नेहरू परिवार की महिलाएँ और युवतियाँ यद्यपि पर्दा नहीं करती थीं और सार्वजनिक सभाओं में शालीनतापूर्ण ढंग से विशिष्ट वक्ताओं के भाषण सुनने के लिए सम्मिलित होती थीं, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के घर में पर्दे का साम्राज्य था। किन्तु देश की पुकार पर जहाँ स्वनाम-धन्य सरूप रानी नेहरू अपनी बहू बेटियों के साथ मैदान में निकल पड़ीं, यशस्विनी कुन्दन देवी भी पर्दे के चक्रव्यूह को तोड़कर उनके कंधे से कंधा मिलाकर पुलिस की लाठियों के प्रहार सहती हुई सैकड़ों बहनों के लिए उदाहरण बनीं। इसका एक अमिट प्रभाव प्रयागवासियों पर पड़ा ही देश पर परिलक्षित हुआ जिससे पर्दा प्रथा को सहसा एक घोर आघात पहुँचा।

ऊपर पर्दे के संदर्भ में नेहरू परिवार की महिलाओं की शालीनता का जो उल्लेख हुआ है वह सदा से भारतीय नारी का स्वाभाविक गुण माना जाता रहा है। पर्दा तोड़ने का अर्थ शालीनता अथवा सहज संकोच का परित्याग कर निर्लज्ज होकर स्वच्छंद विचरना कदापि नहीं है। यह पाश्चात्य महिलाओं की एक भद्दी अनुकृति मात्र होगी। सामाजिक व्यवहार में जैसे दूसरी बातों में वैसे ही पर्दे के विषय में 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' नीति का अनुगमन ही श्रेयस्कर है। नारी को न

'प्राणमय सामान' बनना चाहिए और न राजपथों पर विचित्र ढंग के हाव भाव का प्रदर्शन करना चाहिए।

पर्दा प्रथा की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह विचार करना है कि इसका उदय कब और कैसे हुआ, एवं उसका प्रसार किस रूप में और क्यों कर हुआ। इस प्रसंग में सर्व प्रथम यह कह देना आवश्यक है, जैसा कि संकेत किया गया है, कि भारतीय नारी की शालीनता की प्रशंसा और उसकी आवश्यकता सदा से मान्य रही है। स्वयंवर जैसे सार्वजनिक अवसर पर भी स्त्री-सुलभ शालीनता का परित्याग वह नहीं कर सकती थी जिसका उल्लेख कालिदास के अज-इन्दुमती के स्वयंवर के विवरण में इस तरह मिलता है कि 'जब सुनंदा अज के गुणों की प्रशंसा कर चुकी और उसके गले में जयमाल डालने का समय उपस्थित हुआ इंदुमती ने अपने संकोच को थोड़ा शिथिल कर अपनी हँसती हुई आँखें अज पर डालीं और आँखों से आँखें मिलाकर अज को वर लिया मानो वह दृष्टि ही स्वयंवर की माला हो, इंदुमती लाज से अपने प्रेम की बात अज से कह न सकी पर उस प्रेम के कारण उसे रोमांच हो आया और घुँघराले बालों वाली इंदुमती के हृदय का वह प्रेम छिपाने पर भी छिप न सका, मानों खड़े हुए रोंगटों के रूप में वह शरीर भेद करके बाहर प्रकट हो गया।"[१७] इंदुमती में शालीनता है पर अज के पास पहुँचने तक वह अनेक प्रत्याशियों के सामने से गुजरती और ध्यानपूर्वक सुनंदा से उनकी गुणावलियाँ सुनती है। इसमें और वर्तमानकालीन पर्दा में आकाश पाताल का अंतर है।

यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि विगत सैकड़ों वर्षों से पर्दा प्रथा की जो वीभत्स और हानिप्रद स्थिति चली आ रही है उसका प्राचीन काल में अस्तित्व नहीं था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस कट्टरता का प्रवेश भारत में मुसलमानों के प्रवेश के साथ हुआ। इस अनुमान का समर्थन भारत में मुसलमानों के आगमन से पहले के इतिहास पर दृष्टि डालने से पूर्णतया होता है।

इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि दक्षिण भारत में जहाँ मुसलमानी संस्कारों का प्रभाव अत्यल्प पड़ा पर्दा नाम मात्र है जब कि मुसलिम सभ्यता से अपेक्षाकृत प्रभावित उत्तर भारत में उसका बोलबाला रहा है। इस विचार को इस तथ्य से और बल मिलता है कि हिन्दू नारी की अपेक्षा मुसलमान महिलाओं में पर्दे की कट्टरता कहीं अधिक है और उसे बनाये रखने का उनका आग्रह भी अपेक्षाकृत अधिक मूलबद्ध है।

---

१७ रघु० ६.८०-८१

मुसलमानी आक्रमण के पूर्व की ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक काल की पर्दा विषयक स्थिति की समीक्षा से इस विषय का स्पष्टीकरण होगा। मौर्य-कालीन सामाजिक स्थिति के वर्णन में घोष लिखते हैं कि समाज में स्त्रियों को हर प्रकार की स्वतंत्रता थी; वे दर्शन शास्त्र का अध्ययन करती थीं और वैराग्य तक की अधिकारिणी हो सकती थीं। नारी को पर्दे के पीछे छिपा रखने की प्रथा तो मुसलमानों के बाद आरम्भ हुई है।[१८] इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सम्राट् अशोक (ई० पू० २७३-२३२) की पुत्री संघमित्रा ने भारत के बाहर जाकर सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार में बहुत बड़ा भाग लिया।

इसके अतिरिक्त अजन्ता की गुहाओं की प्रस्तर भित्तियों पर जो अनेक कलापूर्ण चित्र उत्कीर्ण हुए हैं उनमें पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी उनके साथ ही बिना पर्दे के चित्रित हुई हैं और इसी प्रकार मथुरा के प्राचीन मंदिरों के अनेक भग्नावशेषों में जिनमें से कुछ स्थानीय तथा कुछ लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित हैं जन जीवन का सुन्दर चित्रण हुआ है। उनमें रथ यात्रा का जुलूस दिखाया गया है जिसमें पुरुष और स्त्रियों को एक साथ देख सकते हैं। अजन्ता के ये भित्तिचित्र जो मौर्य और शुंगकालीन (ई० पू० ४००–१००) तथा मथुरा के चित्रण जो शुंग कालीन (ई० पू० १००) हैं इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय के भारत में उत्तर से सुदूर दक्षिण तक पर्दा की प्रथा अस्तित्व में न थी। इसी प्रकार गुप्त काल में (३००–५०० ई०) पर्दे का अभाव देख पड़ता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम (राज्यारोहण ३१९–२० ई०) के सिक्कों पर जिन्हें इतिहासकार उसके उत्तराधिकारी सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा ढलवाये गये बतलाते हैं उसकी महिषी महादेवी कुमारदेवी का पर्दा रहित चित्र चन्द्रगुप्त के साथ अंकित पाया जाता है जो पर्दे के अस्तित्व से मेल नहीं खाता। आगे चलकर सातवीं शती ईसवी में हर्ष वर्धन की बहिन राज्यश्री का उसकी धर्म-परिषद् एवं राज सभा में बैठकर शासन सम्बन्धी मंत्रणा में भाग लेना एवं मुसलमान शासन आरंभ होने के पूर्व जयचन्द राठौर की कन्या संयुक्ता का स्वयंवर ऐसे ऐतिहासिक तथ्य हैं जो पर्दे के अभाव की सूचना देते हैं।

इस प्रकार यद्यपि मुसलमान आक्रामकों के यहाँ आने के पूर्व प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल में भी प्रथा के रूप में पर्दे का अभाव देख पड़ता है तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिए कि साधारणतः स्त्रियों को पुरुषों की

---

१८ घोष: भारत का प्राचीन इतिहास, पृ० १८३

तरह स्वच्छंदता प्राप्त थी। राजाओं के प्रासादों में स्त्रियों के अन्तःपुरों अथवा अवरोधगृहों का अस्तित्व इसका प्रमाण है। भगवान् बुद्ध ने भी जब महाप्रजापती के बहुत विनय करने पर उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित किया उन्होंने बौद्ध भिक्षुणियों के पालनार्थ जो आठ कठोर नियम बना दिये उनमें एक यह था कि कोई भिक्षुणी स्वयं किसी भिक्षु से सहालाप न करे।[१९]

प्रागैतिहासिक काल की स्थिति के विषय में हमें महाभारत के इस कथन में कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ 'अनावृत' रहती थीं, वे जैसा चाहतीं विहार करतीं और सर्वथा स्वतंत्र और अनियंत्रित थीं[२०] यह सूचना मिलती है कि भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण मर्यादा स्थिर होने के पूर्व पर्दा किसी रूप में नहीं वर्ता जाता था।

वैदिक काल में स्त्रियाँ सभा, समितियों और विदथों में भाग लेती थीं और उनमें भाषण देना उनकी विशेष योग्यता मानी जाती थी। स्त्री से पुरुष की यह अभिलाषा कि 'तुम विदथ में भाषण करनेवाली हो'[२१] स्त्री के विदथ में खुले रूप से सम्मिलित होने का पता हमें ऋग्वेद में मिलता है। डॉ॰ उपाध्याय के मतानुसार वैदिक काल में 'समन' नामक एक संस्था थी जो एक प्रकार का टूर्नामेन्ट था जिसके मुख्य अंग खेल, तमाशे, रथ और घोड़ों की दौड़ और दूसरे प्रकार के चहल-पहल थे।[२२] उनमें युवक और युवतियाँ खुले रूप से सम्मिलित होतीं, माताएँ भी पुत्रियों को सजधज कर भेजतीं। कुछ विद्वानों का मत है कि युवक-युवतियों में यहाँ प्रेम वार्ता भी चलती और वर-वधू का परस्पर में चुनाव हो जाता था। ऐसा भी होता कि कोई कामिनी अपने प्रेमी को रात भर अपने घर में छिपा रखती। इस तरह समाज में अनैतिक आचरण की सृष्टि पायी गयी और विवेकयुक्त पुरुषों के कान खड़े हो गये और श्वेतकेतु जैसे प्रबुद्ध आत्माओं को इस स्थिति में स्त्री पुरुष की मर्यादा स्थापित करके एक धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति करनी पड़ी। संभवतः यहीं से सभाओं में स्त्रियों के प्रवेश तथा भाषण आदि पर निषेध लग गया जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता (४. ७. १) के इस वचन में हुआ कि 'तस्मात्पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः'—इसलिए पुरुष ही सभा में जाते हैं स्त्रियाँ नहीं।

---

१९ म॰ भा॰, आदि पर्व १२२. ४

२० वि॰ पिटक, चुल्ल वग्ग १०.

२१ ऋ॰ १०. ८५. २६

२२ बी॰ एस॰ उपाध्याय : विमेन इन ऋग्वेद

'समन' का पूर्ण उच्छेद नहीं हुआ और उसी का रूपांतर मौर्यकालीन संस्था 'समज' अथवा समाज में देख पड़ता है जिसका उल्लेख बौद्ध धर्म के प्रधान ग्रंथ 'धम्मपद' में हुआ है। मौर्य सम्राट् को प्रति छः महीने अथवा वर्ष में राजधानी में सप्त दिवसीय नाटक दिखाने की प्रणाली प्रचलित थी। इसमें सर्वाधिक आकर्षक प्रदर्शन वह होता जिसमें किसी छड़ पर युवती के कलापूर्ण ढंग की गति, नृत्य तथा गान होते थे। अनेक युवक युवती के प्रेम पाश में फँस कर उसके हाथ बिक जाते। इसी तरह का उदाहरण एक श्रेष्ठि-पुत्र उग्गसेन (उग्रसेन) के अधःपतन और सर्वनाश का मिलता है। बौद्ध धर्म के विनय नामक धर्म ग्रंथ में भी राजगृह में मनाये जानेवाले 'समाज' उत्सव का उल्लेख आता है। सम्राट् अशोक ने जिसे समाज के नैतिक चरित्र का अत्यधिक ध्यान था इस उत्सव की बुराइयों को देखकर उसे निषिद्ध कर दिया। उसके चौदह शिलालेखों में प्रथम अर्थात् शहबाजगढ़ी का अभिलेख जो खरोष्ठी (खरोष्टी) लिपि में है इस तरह पढ़ा गया है 'नो पि च सम (ज) कटव बहुक (हि) दोष स(मय) स्पि देवण प्रिये प्रिय द्रशि रय (द) खति। अस्ति पिचु एक तिय समये ससुमते।' इस अभिलेख में 'समाज' को हानिकारक घोषित किया गया है।

अत्यन्त प्राचीन काल में सभाओं में स्त्रियों के भाग लेने पर प्रतिबन्ध लग जाने पर भी यह नहीं समझना चाहिए कि उनमें पर्दा प्रथा का सूत्रपात हो गया और न यह कि मेधाविनी स्त्रियों का उनमें सम्मिलित होना सर्वथा रुक गया। सुलभा ने जिसका उल्लेख पहले हो चुका है और जो ज्ञान की खोज में अनेक आश्रमों में जाया करती थी सीता के पिता जनक के पूर्वज को खुली राज सभा में अपने योग से चकित कर दिया था। वाल्मीकि के आश्रम से अगस्त्य के आश्रम में वेदांत की जिज्ञासा लेकर जाने वाली आत्रेयी का भी नाम पहले आ चुका है एवं जनक के यहाँ ज्ञान-विज्ञान के महासम्मेलन में धुरंधर ज्ञानियों के समकक्ष अध्यात्म पर गार्गी के वादविवाद का उल्लेख किया गया है। पर्दे की प्रथा का प्राचीन काल में अभाव दिखलाने के लिए ये दृष्टांत अपर्याप्त नहीं हैं।

उत्सवों और सभा आदि में स्त्रियों के अबाध रूप से आने-जाने पर रोक लगाने का उद्देश्य चारित्रिक था और यही बात अंतःपुरों अथवा अवरोध-गृहों के संबंध में भी कह सकते हैं जो मनुस्मृति के इस कथन से कि 'विश्वसनीय पुरुषों के द्वारा घरों में अवरोध करके रखने पर भी स्त्रियाँ अरक्षित हो सकती हैं, किन्तु जो अपनी रक्षा अपने आप कर लेती हैं

वस्तुतः वे ही रक्षित हैं'[२३] प्रकट होता है। राजाओं और संभवतः समृद्धशाली लोगों के यहाँ अंतःपुरों अथवा अवरोधगृहों की व्यवस्था का आरंभ बहुत प्राचीन काल में हो गया था। उनका एकान्तता के साथ ही एक मुख्य उद्देश्य वही जान पड़ता है जिसका संकेत मनुस्मृति में हुआ देख पड़ता है। जन जीवन से अंतःपुरों के विच्छिन्न होते हुए भी उनमें वास करनेवाली महिलाओं के लिए यह प्रथा संभवत हानिकारी न रही होगी क्योंकि अंतःपुरों में उद्यानों तथा दूसरे प्रकार के आमोद-प्रमोद के स्वास्थ्यप्रद प्रबन्धों के साथ आवश्यक शिक्षा के साधनों की व्यवस्था रही होगी। अवरोधगृहों के भीतर किसी प्रकार के पर्दे का उल्लेख नहीं पाया जाता, फिर भी बाह्य जगत् से उनका प्रत्यक्ष संपर्क न रहना ही एक प्रकार का पर्दा कहा जा सकता है।

परन्तु साधारण घरों की स्त्रियाँ बाहर आ जा सकती थीं और यह निश्चित कह सकते हैं कि उनमें पर्दा नहीं था। वाल्मीकीय रामायण में यह वर्णन आता है कि लंका विजय के पश्चात् राम के अयोध्या में प्रवेश के समय सैकड़ों स्त्रियों ने उनके दर्शन अपने महलों से किये। इसी प्रकार महाभारत के अनुसार कृष्ण के उपप्लव्य से हस्तिनापुर जाने पर बहुतेरी महिलाओं ने उनके दर्शन अट्टालिकाओं से किये। ये स्त्रियाँ साधारणतः राज-मार्गों पर चलनेवाली न होंगी; प्रायः घरों में रहती होंगी। साधारण जनता के स्त्री-वर्ग के विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि जब कृष्ण का रथ हस्तिना-पुर की ओर बढ़ा चला जा रहा था उपप्लव्य-हस्तिनापुर मार्ग पर जगह-जगह झुंड की झुंड स्त्रियों ने सामूहिक रूप से कृष्ण का भव्य स्वागत किया और उन पर पुष्प-वृष्टि की।[२४] इसी प्रकार पुरुषों के साथ मिलकर स्त्रियों के चलने का उल्लेख महाभारत में इस प्रकार हुआ है कि युधिष्ठिर के अश्वमेध के घोड़े को आगे करके अर्जुन के हस्तिनापुर से प्रस्थान के अवसर पर उनकी विजय-कामना के लिए एक महान् जन-समूह उमड़ पड़ा जिसमें बाल और वृद्ध-स्त्री और पुरुष मिश्रित थे तथा पुरुषों के स्वर में स्वर मिलाकर स्त्रियों ने अर्जुन की सफल यात्रा सूचक तुमुल ध्वनियाँ कीं।[२५] इस यात्रा में जब वह मणिपुर पहुँचा तो वहाँ के राजा चित्रवाहन की राजपुत्री चित्रांगदा अर्जुन को स्वच्छंद विचरती मिली। इसी तरह अश्वमेध का घोड़ा द्वारका में पहुँचा तो सड़कें अर्जुन के स्वागत के लिए पुरुषों से दूर तक भर गयीं, परन्तु स्त्रियों ने मकानों

---

२३ मनु० ९. १२

२४ म० भा०, उद्योग पर्व ८४. १४

२५ म० भा०, आश्वमेधिक पर्व

की छतों से ही उनकी झाँकी ली जिससे अधिक-से-अधिक इतना ही अनुमान हो सकता है कि स्त्रियों का पुरुषों की तरह आना-जाना स्वच्छंद नहीं था, इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस घटना के पर्याप्त पहले जब अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था द्वारका के रैवतक पर्वत पर वृष्णियों और अंधकों ने अपनी स्त्रियों के साथ कई दिनों तक लगातार उत्सव और चहल-पहल किये थे।

रामायण तथा महाभारत के अनेक प्रसंगों में जहाँ राजघरों की महिलाओं के साधारणतः अंतःपुरों में रहने के दृष्टान्त मिलते हैं स्त्रियों के ऊपर इस प्रकार के बंधन जिनसे पर्दा की स्थिति की सूचना मिले नहीं देख पड़ते। राम के वनवास के समय दशरथ के दर्शनार्थ राम और लक्ष्मण के साथ सीता के खुले मार्ग से जाते समय लोगों का सविषाद यह कहना कि जिस सीता को आकाशचारी जीव भी नहीं देख सकते थे आज उन्हें राजमार्ग पर चलनेवाले देख रहे हैं[२६], तथा भारती युद्ध के उपरान्त कौरव पांडवों की बहुत-सी विधवाओं को मृतकों को जलांजलियाँ देने के निमित्त घरों के बाहर जाते देखकर लोगों की यह आश्चर्योक्ति कि 'जिन्हें देवताओं ने भी कभी नही देखा उन स्त्रियों को साधारण जन देख रहे हैं'[२७] केवल आलंकारिक भाषा नहीं है बल्कि उनके भद्रतापूर्वक अंतःपुरों में रहने की प्रणाली की सूचक है। साधारणतः लड़कियों के बाहर निकलने पर रुकावट नहीं थी जिसका प्रमाण हस्तिनापुर में कृष्ण के स्वागतार्थ आयोजित समारोह के वर्णन से हमें मिलता है जिसके विषय में धृतराष्ट्र की यह आज्ञा हुई कि कृष्ण का स्वागत बड़े सुंदर ढंग से किया जाय जिसमें सब वयस् के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हों और कन्याएँ 'अनावृत' रहें[२८]। जो स्थिति हस्तिनापुर में थी वैसी ही इन्द्रप्रस्थ (जहाँ आधुनिक नई दिल्ली अवस्थित है) में थी जहाँ राजसूय यज्ञविषयक परामर्श में सम्मिलित होने के लिए युधिष्ठिर के निवेदन पर कृष्ण के जाने पर दर्शनार्थ युवतियों की भीड़ राजमार्ग पर लग गयी थी।[२९] महाभारत मीमांसा में सी० वी० वैद्य का यह अनुमान कि 'विधवा स्त्रियाँ बाहर निकल सकती थीं; और स्त्रियों अर्थात् सौभाग्यवती स्त्रियों को उत्तरीय धारण करना पड़ता था'[३०]

---

२६ वा० रा०, अयोध्या कांड ३३. ८

२७ म० भा०, स्त्री पर्व अ० १०

२८ म० भा०, उद्योग पर्व

२९ भागवत० १० म स्कंध उत्तरार्ध, ७१. ३४

सी० वी० वैद्य : महाभारत मीमांसा, पृ० २८९ माधवराव सप्रे कृत हिन्दी अनुवाद

जँचता है। परन्तु वहीं पर उनका यह मत कि 'महाभारत और रामायण में और किसी अवसर पर द्रौपदी या सीता के पर्दे में रहने का वर्णन नहीं है, यदि पर्दा होता तो द्रौपदी पर जयद्रथ की और सीता पर रावण की नजर ही न पड़ी होती'[३१] तर्कपूर्ण नहीं है। यह असंदिग्ध है कि आधुनिक महिलाओं की तरह सीता या द्रौपदी पर्दे में रहनेवाली न थीं तथापि अयोध्या में रहते समय सीता तथा इन्द्रप्रस्थ अथवा हस्तिनापुर में रहते समय द्रौपदी अंतःपुरों में ही रहती थीं जो ऊपर के अवतरणों से प्रकट है तथा द्रौपदी के विषय में उसका स्वयं एकवचन इस बात का प्रमाण है जिसका उल्लेख किया जायगा। सीता पर रावण की दृष्टि पड़ना पर्दे के अस्तित्व अथवा उसके अभाव का प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रावण सीता की कुटी पर छद्म यति-वेष में गया था और आजकल के कट्टर पर्दे के होते हुए भी भद्र महिलाएँ वैरागियों और संन्यासियों के सामने होती ही हैं। इसी प्रकार जयद्रथ जो दुर्योधन का बहनोई होने से द्रौपदी का निकट संबंधी था और वनवास के समय पांडवों के वासस्थान पर अतिथि रूप में गया था उसके सामने द्रौपदी के जाने मात्र से पर्दे का अभाव नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार के निकट सम्बन्धियों से आज भी प्रायः स्त्रियाँ मुँह नहीं छिपातीं। जुए में युधिष्ठिर के द्वारा दाँव पर हारे जाने पर दुर्योधन की उग्र आज्ञा पर दुःशासन जब द्रौपदी को हर्म्य से बाहर घसीटता हुआ द्यूत सभा में ले गया उस समय द्रौपदी ने असाधारण धैर्य रखते हुए सभा में स्त्रियों को ले जाने का यह कह कर प्रतिवाद किया कि मैंने सुना है कि पुराने लोग स्त्री को धर्म सभा में नहीं ले जाते थे, उस सनातन धर्म को कौरवों ने नष्ट कर दिया।[३२] द्रौपदी के इन शब्दों में मैत्रायणी संहिता के 'तस्मात्पुमांसः सभां यांति न स्त्रियः' का अनुधावन देख पड़ता है।

अवरोधगृहों पर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी, इसका कारण और जो कुछ रहा हो उनमें रहने वाली स्त्रियों में किसी तरह का चरित्र-दोष न आये यह उसका एक लक्ष्य था जिसका अनुमान इन दृष्टांतों से लग सकता है। पांडवों के अज्ञातवास काल में विराट के अंतःपुर में जहाँ पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध था सुदेष्णा की सेवा में सैरंध्री के छद्म वेष में नियुक्त द्रौपदी के सतीत्व को नष्ट करने का विराट का वाहिनी-पति कीचक विफल प्रयास इसलिए कर सका कि वह सुदेष्णा का भाई था और उसने विराट नरेश को अपनी मुट्ठी में कर रखा था और अपने महान् पद का दुरुपयोग करके अवरोधगृह में आ जा

---

३१ वही
३२ म० भा०, सभा पर्व ६९. ९

सकता था। प्राचीन काल में इससे भी बहुत पहले के विदर्भ और निषध के राजप्रासादों के अंतःपुरों पर कड़े पहरे का उल्लेख मिलता है। महाभारत में वर्णित 'नलोपाख्यान' से ज्ञात होता है कि दमयंती के स्वयंवर के अवसर पर नल को वरण करने पर दृढ़ दमयंती को समझा-बुझाकर इंद्र, वरुण, अग्नि और कुवेर में से किसी को चुन लेने के लिए सहमत करने के लिए जब नल ने बड़ी चतुराई से अंतःपुर में दमयंती से भेंट किया तो उसने नल से पहला प्रश्न यही किया कि आप यहाँ आये कैसे ? और आपको किसी ने देखा नहीं ? मेरे घर की बड़ी रखवाली होती है और राजा का शासन बड़ा ही उग्र है।[३३] इन देवताओं को लौटकर नल ने दमयंती की अप्रिय अस्वीकृति सुनाते समय जो बात कही उससे अवरोधों के मुख्य प्रयोजन पर प्रकाश पड़ता है। देवताओं के प्रति नल के इस कथन में कि 'आप लोगों की आज्ञा से मैंने दमयंती के विशाल कक्ष में प्रवेश किया जिस पर अनेक स्थविर दंडधारी पहरा दे रहे थे।'[३४] 'स्थविर' शब्द बहुत सारगर्भित है। विदर्भराज के यहाँ की इस उग्र स्थिति को हम स्थायी पाते हैं, क्योंकि जब बहुत बाद को जुए में हारकर नल राज्य से निर्वासित हुए और अयोध्या नरेश ऋतुपर्ण के सारथी बनकर जीवन निर्वाह करते थे दमयंती ने उन्हें पुनः प्राप्त करने के बहाने अपने पिता को उसका दूसरा बनावटी स्वयंवर कराने पर सहमत किया। ऋतुपर्ण के साथ बाहुक के वेष में नल को देखकर यह निश्चय करने के लिए कि वह नल ही थे दमयंती ने अपनी माता से प्रार्थना की कि वे उसके पिता से उसे आज्ञा प्राप्त करा दें जिससे वह अश्वशाला में जाकर नल की पहचान करे अथवा उन्हें उसके निजी भवन में बुलवा ले। अवरोध प्रथा स्वयं नल के निषध देश में भी प्रचलित थी जिसका उल्लेख निर्वासनोपरांत जनशून्य एक सभा भवन की भूमि पर सोती हुई दमयंती को देखकर नल के इन क्षोभ युक्त शब्दों में हुआ है कि 'मेरी जिस प्यारी स्त्री को पहले न वायु और न सूर्य देख सकते थे आज वही सभा के बीच भूमि पर अनाथ की तरह सो रही है।'[३५]

अंतःपुरों का प्रतिबन्ध राजघरानों और बहुत करके उनका अनुकरण करने वाले श्री-सम्पन्न लोगों तक सीमित रहा होगा और इन अवरोधों के होते हुए भी विशेष उत्सवों और पर्वों पर स्त्रियाँ बाहर प्रेक्षणार्थ जाकर समवेत होती थीं। इस प्रकार के आयोजनों में राजमहिलाओं की रुचि का एक अच्छा दृष्टांत

३३ म० भा०, वन पर्व ५५. २१
३४ म० भा०, वन पर्व ५५
३५ म० भा०, वन पर्व ६२. २१

महाभारत में यह मिलता है कि कौरव पांडवों की शिक्षा समाप्त हो जाने पर द्रोणाचार्य ने उनकी सार्वजनिक परीक्षा का एक वृहत् समारोह किया जिसमें महिलाओं के बैठने के लिए पृथक् मंचों का निर्माण किया गया था।[३६] महाभारत के इस उल्लेख से कि राजकुमारों का खेल देखने के लिए सखियों और दासियों के साथ गांधारी और कुंती तथा राजघराने की दूसरी स्त्रियाँ नगर के बाहर प्रेक्षागार में ऊँचे मंचों पर चढ़ गयीं और 'चातुर्वर्ण्य' अर्थात् चारों वर्ण के स्त्री-पुरुषों का समूह उमड़ पड़ा निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उस काल में पर्दा का सर्वथा अभाव था।

इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि शिल्प के साक्ष्य से भी होती है। अजंता, अमरावती, साँची और मथुरा इत्यादि में प्राप्त प्राचीन भित्तिचित्रों (Frescoes) और प्रस्तर-शिल्प में अंकित जुलूसों से जिनमें पुरुषों के साथ महिलाएँ भाग लेती हुई दिखायी गयी हैं यह तथ्य प्रकाश में आता है कि प्राचीन भारत पर्दाप्रथा से मुक्त था।

---

३६ म० भा०, आदि पर्व १३४. १५-१८

अध्याय १७

स्मृतियों में स्त्री-स्वाधीनता पर विचार और उसका व्यवहार पक्ष

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥
मनु० ९.७

मनुस्मृति के इस कथन को लेकर कि 'सब पुरुषों को चाहिए कि अपनी स्त्रियों को स्वतंत्र न होने दें, किसी प्रकार विषयों में आसक्त होने पर भी उन्हें अपने वश में रखें, कुमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, युवा अवस्था में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र स्त्री की रक्षा करता है, स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं"[१] भारतीय संस्कृति के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि स्वतंत्रता से वंचित रखकर स्त्रियों के साथ अन्याय किया गया है। आरंभ में ही यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि भारतीय समाज और संस्कृति के ढालने में मनुस्मृति का महत्वपूर्ण हाथ रहा है उसी को इस संस्कृति का एकमात्र प्रतिनिधि मानकर इसका मूल्यांकन सर्वथा संकुचित और एकदेशीय माना जायगा। पिछले पन्नों में वेदों तथा संस्कृति के दूसरे श्रेष्ठ उपादानों के आधार पर स्त्री के विभिन्न रूपों का अवलोकन किया गया है जिससे उसकी गौरवपूर्ण स्थिति का परिचय मिलता है और यह विदित हो जाता है कि जीवन के अनेक क्षेत्रों में चिंतन एवं कृतित्व के लिए उसे पूर्ण स्वतंत्रता का अवसर प्राप्त रहा है इस बात को ध्यान में रखने पर स्पष्ट होगा कि भारतीय संस्कृति के स्वरूप के आलोक में ही स्मृतियों के स्त्री-स्वातंत्र्य संबंधी कथनों की न्याययुक्त समीक्षा संभव है।

इस विषय पर प्रायः दो प्रकार के विचारक देख पड़ते हैं जिनमें एक वे रूढ़िवादी हैं जो इन वाक्यों के अक्षरों पर ही जाते और उन्हें ब्रह्मवाक्य मानकर स्त्री को सभी बातों में स्वतंत्रता से दूर रखना ही उनका तात्पर्य समझते हैं। दूसरे वे हैं जो पहली श्रेणी वालों की तरह इन कथनों के भीतर बैठने का प्रयास न करके संस्कृति के इन संवर्धकों पर स्त्रियों के प्रति अन्याय का आरोप गढ़ते

---

१ मनु० ९. २.३

हैं। जहाँ एक शास्त्रों में अपने प्रति विश्वास के कारण उनके अंतर्भाव को ग्रहण करने में अक्षम है दूसरा भी अपने पूर्वाग्रहों से अभिभूत होने के कारण उन पर अन्याय का आरोप करके स्वयं उनके साथ अन्याय कर बैठता है।

प्राचीन काल में वैदिक समाज के सुव्यवस्थित हो जाने पर जीवन के क्षेत्रों में वैदिक नारी पूर्णतया स्वतंत्र दिखायी पड़ती है, परन्तु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के अनुसार इस स्थिति में उलट-फेर अनिवार्य हो गये। स्वतंत्रता का दुरुपयोग होने लगा तथा उसकी आड़ में स्वैरिता बढ़ने लगी और समाज में अनाचार के स्पष्ट लक्षण दिखायी दिये जिससे समाज के नेताओं के कान खड़े हुए और धर्म शास्त्रकारों ने स्त्री स्वातंत्र्य की मर्यादा स्थिर की। पुरुषों का पक्षपात अथवा स्त्रियों के प्रति अन्याय इसका कारण न था बल्कि लोक-कल्याण की दृष्टि से यह एक आवश्यक सामाजिक सुधार था। वेदों के कट्टर अनुयायी तथा समाज व्यवस्थापक मनु के वचनों का मननपूर्वक अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। दूसरे जिन ग्रन्थों में इस विषय पर जहाँ कहीं ऐसे विचार मिलते हैं प्रायः उनमें मनुस्मृति का अनुधावन मिलता है। कदाचित् यही कारण है कि स्त्री स्वातंत्र्य पर विचार करने वालों का लक्ष्य प्रधानतया मनुस्मृति रहती है। अतएव मनुस्मृति का मथितार्थ ढूँढ़ने का प्रयास आवश्यक हो जाता है।

मनु ने स्त्री जाति को सम्मानित कह कर उसे बहुत बड़ा महत्व दिया है। इससे उनके स्वतंत्रतापरक वाक्यों के सार तत्व ढूँढ़ने की आवश्यकता बढ़ जाती है। मनु का यह वचन कि 'जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवताओं का वास होता है, और जहाँ इनका अनादर होता है सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं'[२] नारी को सम्मान के शिखर पर प्रतिष्ठित करता है। इस वचन के द्वारा मनु ने स्त्री के असम्मान के कारण धार्मिक कार्य-कलापों के निष्फल हो जाने से पारलौकिक सुख की अप्राप्ति बतलायी ही है, साथ ही सांसारिक उन्नति का इसे बाधक भी कह दिया है। मनु के इस स्पष्ट कथन में 'जिस कुल की स्त्रियाँ शोक करती हैं उसका नाश हो जाता है और जिस परिवार में शोकमग्न न होकर वे सुखी रहती हैं वहाँ सदा समृद्धि रहती है'[३] स्त्रियों का सुखी जीवन पारिवारिक अभ्युदय का कारण माना गया है। स्त्रियों में अपेक्षाकृत कोमल वृत्तियों का उद्भव अधिक होता है और शृंगार तथा वस्त्रालंकार इत्यादि

---

२ मनु० ३.५६
३ मनु० ३.५७

में उनकी अभिरुचि भी स्वभावसिद्ध है। उनकी इच्छाओं की पूर्ति न होते रहने से शोक का उन्हें कारण मिल जाता है। साधारण स्त्रियाँ स्वाभाविक लज्जा के कारण अपनी इच्छाओं को गुप्त रखने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु भीतर-भीतर उनका हृदय दुःखी रहता है। अतएव मनु का स्पष्ट उपदेश है कि जो पुरुष अपना और परिवार का हित चाहते हैं उन्हें स्त्रियों के भावों को जान कर नित्य प्रति उनके वस्त्र, अलंकार और खाने-पीने की समुचित व्यवस्था करके उन्हें संतुष्ट रखना चाहिए, विशेष कर उत्सवों में तथा ऐसे अवसरों पर जहाँ उनके मान और अपमान की स्थिति उत्पन्न हो सकती है[४]। यों तो परिवार के पुरुष मात्र को इस बात का ध्यान रखना चाहिए, पर यह पति का विशेष कर्तव्य बतलाया गया है। जहाँ पति-पत्नी से बहुत कुछ आशा करता है पत्नी भी यह आशा करती है कि पति उसे संतुष्ट और सुखी रखना अपना कर्तव्य समझे। इसलिए मनुस्मृति में बतलाया गया है कि 'जिस कुल में भार्या से भर्ता तथा भर्ता से भार्या संतुष्ट रहती है उसकी निश्चित रूप से सर्वदा सुख समृद्धि होती है।'[५] स्त्री के महत्व का मूल्यांकन इन शब्दोंमें किया गया है कि 'सन्तान, धर्म कार्य, सुश्रूषा और रति, यहाँ तक कि अपनी तथा पितरों की स्वर्ग सिद्धि दारा के ऊपर निर्भर है'[६] इसी तरह मनुस्मृति के इस कथन में कि 'संतानोत्पत्ति के लिए भाग्यशालिनी स्त्रियाँ पूजनीय गृह-दीपक हैं, गृह देवी हैं और स्त्री और देवी में कोई भेद नहीं है'[७] स्त्री के पद की पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई है। इस प्रकार के मनुस्मृति के और भी वचन अन्यत्र दे चुके हैं जिनसे स्त्री के महत्व पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

कुछ विचक्षण लोग 'स्त्री-पूजा' परक वाक्यों के संदर्भ में स्त्रियों के वस्त्रालंकार इत्यादि से परितुष्ट रखने की व्यवस्था देख कर इसी को स्त्री-पूजा की मर्यादा मान कर उन वाक्यों के अवमूल्यांकन का प्रयास करते हैं, परंतु इस बात पर ध्यान देने से कि स्त्री के संतुष्ट और सुखी जीवन को सांसारिक एवं पारलौकिक कल्याण का आधार माना गया है उनके मत को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

इन उद्धरणों के संदर्भ में मनुस्मृति के उन कथनों पर विचार करना चाहिए जिनसे स्त्री स्वातंत्र्य की अनर्हता की सूचना मिलती है। मनुस्मृति के इन

४ मनु० ३.५९
५ मनु० ३.६०
६ मनु० ९.२८
७ मनु० ९.२६

कथनों में कि 'बाला हो, युवती हो अथवा वृद्धा हो घर में भी स्त्री को स्वतंत्रता-पूर्वक कोई कार्य नहीं करना चाहिए, उसे बाल्यावस्था में पिता के, यौवनावस्था में पति के, तथा उसके मर जाने की स्थिति में पुत्रों के अधीन रहना चाहिए, वह स्वतंत्र न रहे, उसे पिता, भाई और पुत्रों से अलग रहने की इच्छा न करनी चाहिए, उनसे विरह होने से दोनों कुलों की निन्दा होती है, उसे गृहस्थी के कार्यों में कुशल होना चाहिए और उन्हें उत्साह से करना चाहिए, अलंकारादि से सुसंस्कृत रहना चाहिए तथा अपव्यय से बचना चाहिए,'[८] तथा इन वचनों में कि 'पुरुषों को अपनी स्त्रियों को अस्वतंत्र रखना चाहिए और विषयों में आसक्त होने पर अपने वश में कर लेना चाहिए, कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा पिता करता है, यौवनावस्था में पति एवं वृद्ध होने पर पुत्र करते हैं, स्त्री स्वतंत्रता की पात्र नहीं है'[९] स्त्री के स्वतंत्र रूप से कोई काम करने का निषेध दिखायी देता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख रोचक होगा कि इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन रोमन कानून में भी थी। 'रोम देश के पुराने कानून में कौमार, यौवन और वार्धक्य किसी भी अवस्था में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं माना जाता था और पिता, पति या पुत्र की संरक्षता अनिवार्यतः अपेक्षित थी। मेन के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की संरक्षता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था'[१०]। महाभारत में भी मनुस्मृति के समान कुछ कथन पाये जाते हैं और गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन कि 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' भी इसी कोटि में आता है। जब इन वचनों की तुलना उन वाक्यों से करते हैं जो स्त्री के प्रति आदर तथा सद्भाव प्रकाश करते हुए उसकी प्रशंसा का गान करते हैं तो यह शंका होती है कि ये कथन विभिन्न वक्ताओं के हैं अथवा एक ही ग्रंथकार के परस्पर विरोधी उद्गार हैं। स्त्री जब तक बालिका है उस पर पूर्ण नियंत्रण तो समझ में आता है किन्तु विवाह हो जाय अथवा वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाय स्त्री स्वतंत्रता-पूर्वक कोई कार्य न करे यह बात समझ में नहीं आती। पुरुष के लिए अस्वातंत्र्य का उपदेश क्यों नहीं और स्त्री के लिए ही ऐसा बन्धन—क्या इसके लिए कोई समाधानकारक कारण है?

नारी के स्वातंत्र्य संबंध में जितने वाक्य प्रयुक्त हुए हैं उनके पूर्वापर पर ध्यान देने से मालूम होगा कि स्वातंत्र्य शब्द का प्रयोग साधारण स्वाधीनता तथा

---

८ मनु० ५. १४७–१५०

९ मनु० ९. २-३

१० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० १००

स्वच्छन्दता अथवा स्वैरिता दो विभिन्न अर्थों में हुआ है। मनुस्मृति के इन कथनों में कि 'बाला हो, युवती अथवा वृद्धा हो स्त्री घर में रहकर भी कोई काम स्वतंत्रतापूर्वक न करे'[११] एवं 'स्त्री बाल्यावस्था में पिता के वश में, यौवनावस्था में पति के तथा पति के मरने की स्थिति में पुत्रों के अधीन रहे और कभी स्वतंत्र होकर न रहे'[१२] स्वतंत्रता का प्रयोग सामान्य अर्थका द्योतक जान पड़ता है और यदि समूचे सांस्कृतिक इतिहास को देखें तो इस मत का समर्थन उसमें कदाचित् ही मिले। संभवतः यह कथन मनुस्मृति में ऐसे किसी समय में प्रक्षिप्त किये गये जब समाज की स्थिति कुछ इसी प्रकार की हो चली थी। यह कहना कि गृह कार्यों तक में स्त्री को कोई कार्य अपने मन से नहीं करना चाहिए यह अवश्य आक्षेपजनक है। क्या पुरुष के ऊपर भी ऐसा प्रतिबन्ध लगाया गया? यह कोई युक्तिसंगत कारण नहीं कि पुरुष कमाता है इसलिए उसे यह अधिकार है कि स्त्री को स्वतंत्र रूप से अपनी बुद्धि से व्यय सम्बन्धी अथवा अन्य कोई कार्य साधिकार रूप से न करने दिया जाय। यह तो उसी अवस्था में उचित कहा जा सकता है जब यह मान लें कि नारी को समझ-बूझकर कुछ करने की शक्ति ही नहीं है। वस्तुतः कतिपय नारियाँ गृह-कार्यों में पुरुषों से भी अधिक कृतकार्य होती हैं। स्त्री मात्र पर इस प्रकार के नियंत्रण का समर्थन नहीं किया जा सकता। यदि इस अस्वातंत्र्य का प्रयोजन यह हो कि सभी बातों में स्त्रियाँ पुरुषों से परामर्श कर लिया करें तो एक हद तक बात समझ में आती है और यदि इन व्यवस्थाओं का आशय यही है तो भी यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता कि बात-बात में सभी अवस्था की स्त्रियाँ पुरुषों से परामर्श करती रहें। हमारी संस्कृति का इतिहास ऐसी नारियों के दृष्टान्तों से भरा हुआ है जो स्वतंत्रचेता थीं और घरेलू ही नहीं बाहर के कार्यों में भी पूरी दिलचस्पी रखती थीं। इस विषय पर विदुला, सीता, सावित्री, गांधारी, कुंती, द्रौपदी तथा मध्यकालीन अनेक नारियों के जो उदाहरण दिये जा चुके हैं इस बात के साक्षी हैं। ऐसा न होता तो सीता के लिए राम का यह कहना कि उनके प्रत्येक कार्य में वे उन्हें मंत्रणा देती थीं निरर्थक होता। स्त्रियों के स्वतंत्र चिंतन की अभिव्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों में विशेष रूप से हुई है और यही कारण है कि जहाँ इक्ष्वाकु वंशी दशरथ को राम के राज्याभिषेक की तैयारी में व्यस्त पाते हैं उसकी निर्विघ्न पूर्णता के हेतु कौशल्या को देवार्चना में संलग्न देखते हैं, ऐतिहासिक काल (ई० पू० दूसरी शती) में उसी

११ मनु० ५. १४७
१२ मनु० ५. १४८

वंश की एक शाखा के विजयपुरी के राजा जहाँ पक्के वैदिक धर्मावलंबी थे उनकी रानियों की असीम भक्ति बौद्ध धर्म में थी।[१३]

मनुस्मृति के जो अवतरण ऊपर दिये गये हैं अथवा रामायण का उक्त वाक्य या महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में पाये जाने वाले तादृश कथनों में स्वतंत्रता शब्द प्रायः स्वैरचारिता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार की स्वतंत्रता पुरुषों के लिए उतनी ही अनिष्टकारी है जितनी स्त्रियों के लिए, यद्यपि उनकी तरह पुरुषों की स्वतंत्रता पर इस प्रकार के कठोर नियंत्रण का अभाव रहा है। किन्तु एक विशेष कारण से स्त्रियों की स्वच्छंदता पर विशेष प्रतिबंध रखने की वांछनीयता मनुस्मृति में स्पष्टतया दिखायी पड़ती है। 'पिता रक्षति कौमारे'[१४] इत्यादि कथनों में संभवतः स्वातंत्र्य शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की स्वतंत्रता को नियंत्रित करने का मुख्य उद्देश्य चारित्र्य-रक्षा देख पड़ता है। स्वाधीनता मनुष्य की एक परम निधि है। यह इतना प्रत्यक्ष है कि इसके मूल्य को साधारण जन भी समझते हैं। क्या यह मनुस्मृति को नहीं ज्ञात था जिसकी स्पष्टोक्ति है कि 'जो कुछ स्वाधीन है वह सुखदायी है और जो पराधीन है दुःखद है?'[१५] अथवा क्या तुलसीदास ही स्वतंत्रता के महत्व को नहीं जानते थे जिनका यह वाक्य कि 'पराधीन सुख सपनेहुँ नाहीं' प्रत्येक घर में सुनायी देता है? तथापि स्वतंत्रता की भी सीमा होती है और लोक कल्याण के हेतु व्यक्ति की स्वतंत्रता मर्यादित करके उसका उपभोग नियंत्रित करना पड़ता है जिससे दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा न पहुँचे। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज के हित और अहित की दृष्टि से दंड-विधान की व्यवस्था की जाती है।

किन्तु प्रश्न उठता है कि स्त्रियों के लिऐ भेदमूलक नियंत्रण की व्यवस्था क्यों की जाय। इन व्यवस्थापकों के वचन देखने से इसका कारण चारित्र्य रक्षा पर उनका विशेष आग्रह ही मालूम पड़ता है जैसा कि ऊपर संकेत कर चुके हैं। भारतीय संस्कृति में चरित्र की श्रेष्ठता स्वतंत्रता से भी बढ़कर मानी गयी है और यद्यपि स्त्री के समान ही पुरुष को सच्चरित्र रहने का निरंतर उपदेश हुआ है स्त्री चारित्र्य की रक्षा के विषय में पुरुष को अपेक्षाकृत अधिक सतर्क रहने के लिए सावधान किया गया है। हमारी संस्कृति में इस प्रकार की स्वतंत्रता का कहीं स्थान नहीं है कि कोई स्त्री पर-पुरुष के हाथ में हाथ डालकर जहाँ चाहे घूमे-फिरे

---

१३ वासुदेव एस० अग्रवाल : इंडियन आर्ट, पृ० २९७
१४ मनु० ९.३
१५ मनु० ४.१६०

और उसका पति परायी रमणी के साथ विहार करे और स्वतंत्रता के नाम पर समाज इसका अनुमोदन करे। कोई व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र सच्चे अर्थों में स्वैरचारिता से नहीं, चरित्र बल पर जीवित रह सकता है।

चारित्र्य के अभाव में उसका विनाश अवश्यंभावी है। इतिहास इसका साक्षी है कि चारित्र्य के लोप से बड़े-बड़े राज्य धूल में मिल गये और यह भी एक तथ्य है कि सतत सतर्क न रहने से जैसे महा शक्तिशाली साम्राज्य भी अपनी प्रभुशक्ति खो बैठते हैं वैसे ही पुरुष तथा स्त्रियाँ भी निरंतर सावधानी न वर्तने से पथ-भ्रष्ट हो जाती हैं और फिर उनके पैर फिसलते ही जाने का डर रहता है। महाभारत में एक जगह कहा है कि 'आचारहीनं न पुनंति वेदाः' आचरण से पतित पुरुष अथवा स्त्री को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्री दुर्बल और आत्म-रक्षा में असमर्थ होती है जिससे चाहे वह बाला हो अथवा वृद्धा पुरुष द्वारा उसकी रक्षा आवश्यक होती है। इस आग्रह के पीछे स्त्री के चरित्र पर किसी प्रकार के कलंक का आरोप नहीं, अपितु चेतावनी के रूप में उसकी असामाजिक तत्त्वों से रक्षा ही उसका उद्देश्य समझना चाहिए। बहुधा निरंकुश स्वतंत्रता के नारे लगानेवाले प्रायः चरित्र भ्रष्टता को उतना बुरा नहीं मानते जितना स्वातंत्र्य-नियंत्रण को। उनके और शास्त्रकारों के दृष्टिकोण में यह महत्व का भेद दिखायी देता है कि ये स्वतंत्रता से चरित्र को अधिक महत्व की चीज मानते हैं।

आर्यों का सनातन विश्वास रहा है कि शुद्ध रक्त वीर्य से उत्पन्न संतान ही मनुष्य को नरक से बचाती है और उसी के पिंड दान से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। भारतीय संस्कृति की अन्य मान्यताओं के समान उसका यह पुरातन सिद्धान्त है कि पुरुष स्त्री में स्वयं संतति होकर जन्म लेता है।[१६] इसलिए वर्ण सांकर्य से बचकर जाति की शुद्धता पर भारतीय संस्कृति का प्रबल आग्रह सदा से चला आ रहा है। यह आग्रह कितना प्रबल था यह भगवद्गीता के उपक्रम से प्रकट होगा। युद्ध में असंख्य पुरुषों का वध होगा, स्त्रियाँ दुश्चरित्र हो जायँगी, वर्ण संकरों की उत्पत्ति होगी, पिंडोदक क्रियाओं का लोप हो जायगा और अंत में फल स्वरूप नरक के द्वार खुल जायँगे[१७] यह आशंका भीषण रूपसे अर्जुन के मस्तिष्क में उठी जिससे वह काँप उठा और भगवान् कृष्ण से बोल पड़ा 'युद्ध न करूँगा'।

---

१६ मनु० ९.८
१७ गीता १.४१-४२

वर्ण संकरता से जाति की शुद्धता की रक्षा के लिए मनुस्मृति ने स्त्री मात्र की रक्षा पर बल दिया है। मनुस्मृति को किसी एक वर्ण की नारी की रक्षा नहीं, सब नारियों के चरित्र की रक्षा अभीष्ट थी। उसमें स्पष्ट अनुरोध है कि 'चारों वर्णों की स्त्रियाँ सदैव रक्ष्यतम निधि हैं।'[१८] यह रक्षा शारीरिक ही नहीं, प्रधानतः चारित्र्य की है। और इस पर मनुस्मृति का प्रबल आग्रह उसके इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है कि 'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च, स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति'[१९] अर्थात् स्त्री की सावधानी से रक्षा करता हुआ ही पुरुष अपनी संतान, कुल, आत्मा और अपने धर्म की रक्षा कर सकता है। यह सच है कि समाज में साध्वी और कुलटा दोनों प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं जिनमें पतिव्रताएँ अपने चरित्र की रक्षा स्वयं कर लेती हैं किन्तु संसार की रचना ही ऐसी है कि उन्हें भी निरालंब छोड़ देना उचित नहीं। आदमियों को उसकी ओर सावधान रहकर अपने दायित्व को पूरा करना चाहिए। इसलिए हम भीष्म पितामह को अपनी शरशय्या से युधिष्ठिर को यह उपदेश करते पाते हैं कि 'पार्थ! इसलिए तुम्हें बतलाता हूँ कि स्त्रियों की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए। साध्वी और दुष्टा दोनों प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं। साध्वी स्त्रियाँ महाभाग हैं जिनको लोकमाता कहते हैं। ये वन कान्तार सहित भूमंडल को थामे हुए हैं। असाध्वी स्त्रियाँ दुर्वृत्त हैं, कुल नाशक हैं और पापपरायण हैं। उनके शरीर से लक्षित होने वाले दुष्ट चिह्नोंसे ही उनकी पहचान हो जाती है।'[२०] पुरुष के स्त्रीमें संतान रूपमें जन्म लेने से ही उसे 'जाया' कहते हैं मनुस्मृतिके[२१] इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले श्रुति में इस प्रकार हुआ कि 'पति जाया में प्रवेश करता, गर्भ होकर उसमें नया होकर दसवें मास में जन्म लेता है। जाया जाया होती है क्योंकि पुरुष उसमें फिर उत्पन्न होता है।'[२२] शूद्र कन्या से द्विजाति के विवाह को वर्ज्य करने का याज्ञवल्क्य ने यही कारण दिया है क्योंकि उनके मतसे 'जो लोग शूद्र की कन्या के साथ विवाह का समर्थन करते हैं वह हमारा सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं उसमें जन्म लेती है।'[२३] स्पष्ट है कि रक्त की शुद्धता अथवा संतान की शुद्धि पर इन विचारकों का आग्रह अत्यन्त प्रबल था और इसके लिए स्त्री जाति की सब प्रकार

---

१८ मनु० ८.३५९
१९ मनु० ९.७
२० म० भा०, अनुशासन पर्व ४३.१९.२१
२१ मनु० ९.८
२२ पंचिका अ० ३
२३ याज्ञ० स्मृ० विवाह प्रकरण ५६

के व्यभिचार अथवा अनैतिक आचारण से रक्षा करना परमावश्यक समझा गया। यह निष्कर्ष शास्त्रों के जो वचन दिये गये हैं उनसे सहज ही निकलता है। इसके अतिरिक्त इस मत का प्रतिपादन मनुस्मृति में असंदिग्ध शब्दों में उसकी इस उक्ति में उपलब्ध है कि 'स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का सेवन करती है वैसा ही पुत्र उत्पन्न करती है, इसलिए प्रजा की शुद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।'[२४] स्त्री के अस्वातंत्र्य एवं संतान की शुद्धता के संदर्भ में कहे गए मनुस्मृति के इन वचनों के साथ उसके इस निर्देश में कि 'अर्थ के संग्रह, उसके व्यय, शौच के नियम पालन, धर्मकार्य तथा पति की सेवा'[२५] इत्यादि उपायों से उसकी रक्षा संभव है स्पष्ट देख पड़ेगा कि मनुस्मृति में स्त्री की साधारण स्वतंत्रता का विरोध नहीं हुआ बल्कि उसकी स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबंध लगा कर उसकी चारित्र्यरक्षा के प्रति अतिशय सतर्कता का निर्देश हुआ है।

इन व्यवस्थापकों ने देख लिया था कि मानव प्राकृतिक दुर्बलताओं से आक्रान्त है और इद्रियाँ इतनी बलवान होती हैं कि पुरुष कामांध हो करके माता, पुत्र और बहिन के प्रति भी विवेक खो बैठ सकती है। इसीलिए मनुस्मृति को कहना पड़ा कि माता, बहिन अथवा बेटी के साथ भी एकान्त में एकासन नहीं होना चाहिए, (क्योंकि) इन्द्रियाँ इतनी बलवती होती हैं कि वे विद्वान् को भी अंधा कर देती हैं[२६] और यही चेतावनी श्री मद्भागवत के शब्दों में अक्षरशः इस प्रकार दी गयी कि 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति।'[२७]

मनुस्मृति के उपक्रम और उपसंहार के देखने से ज्ञात होता है कि उसमें सामाजिक जीवन को निम्न श्रेणी से उच्चतम आदर्श स्थिति तक पहुँचाने का एक महान् प्रयास हुआ है जिसके अन्तर्गत स्त्री-रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इसके लिए उसमें जहाँ सर्व साधारण को सतर्क किया गया इस विषय में विशेष सावधानी की व्यवस्था अत्यंत प्राचीन काल से राजन्य वर्ग के अंतःपुरों अथवा अवरोध गृहों में की गयी।

अंतःपुर जहाँ एक ओर अत्यंत प्राचीन काल से राजाओं और वैभवशाली लोगों के महत्व के प्रख्यापन एवं उनके स्त्री-वर्ग के सुख-सुविधाओं के लिए आवश्यक थे उन्हें स्त्रियों की चारित्र्य-रक्षा का दुर्भेद्य दुर्ग भी समझा गया।

---

२४ मनु० ९.९
२५ वही ९.११
२६ मनु० २. २१५
२७ भागवत० ९. १९. १७

अवरोध-गृहों के द्वार पर कठोर पहरे की व्यवस्था, प्रहरियों का पंड होना तथा उनके भीतर पंड भृत्यों और वृद्ध शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य अनात्मीयों के प्रवेश का निषेध इस प्रयोजन की सूचना देते हैं। परंतु कठोर प्रतिबंध होने पर भी अंतःपुरों में असामाजिक तत्त्वों और अवांछित पुरुषों के घुस-पैठ के अनेक उल्लेख देखने में आते हैं।

पंचतंत्र की उस कहानी में जहाँ पुत्री-जन्म पर पिता की चिंताओं का उल्लेख हुआ है एक राजा के अंतःपुर का वर्णन आता है जिसके भीतर एक विश्वकर्मा ने बड़े कलापूर्ण ढंगसे प्रवेश करके राज-कन्या के साथ दुराचार करने में सफलता प्राप्त की तथा महाभारत के नलोपाख्यान से जिसमें आदर्श नारी और आदर्श पुरुष के उदाहरण देने का प्रयास हुआ है ज्ञात होता है कि दमयंती के पिता द्वारा नियुक्त दंडधर प्रहरियों की आँख में धूल झोंक कर नल ने अंतःपुर में प्रवेश किया और वहाँ पर एकांत में देवताओं का गुप्त संदेश दमयंती को पहुँचा दिया। इस प्रसंग में किसी नैतिक व्यवहार की बात न थी, किंतु अवरोध-गृहों में स्त्रियों का अवरुद्ध रहना ही उनकी सच्चरित्रता की गारंटी नहीं हो सकता यह इससे स्पष्ट है। इसी प्रकार महाभारत के एक दूसरे आख्यान से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। पांडवों के अज्ञातवास काल में विराट के अंतःपुर में कीचक ने द्रौपदी पर बलात्कार करने का जो निष्फल प्रयास किया उसमें स्वयं राजमहिषी ने उसका साथ दिया और द्रौपदी के चरित्र की रक्षा उसके सद्विचार और भीम के कारण ही हो सकी जिसने दुष्ट कीचक को मारकर दम लिया।

बहुधा राजाओं के प्रासादों में एक से अधिक अवरोध-गृह होने का पता मिलता है। शाकुंतल (५. ३) में दुष्यंत के 'अवरोध-गृहेषु' के उल्लेख से इस बात की सूचना मिलती है जिसकी पुष्टि सम्राट् अशोक के पंचम शिलालेख में उसके 'अवरोधनों' के उल्लेख से होती है। राय चौधुरी के मतानुसार इस शिलालेख में उल्लिखित 'अवरोधन' अशोक के भाइयों के थे।[२८] इतना स्पष्ट है कि प्रासादों में विभिन्न रानियों तथा राजा के भाइयों और अन्य आत्मीयों की स्थिति के उपयुक्त अवरोध-गृहों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था होती थी।

मनुस्मृतिकार अवरोध-गृहों की अंतःस्थिति से अपरिचित नहीं थे और न इस प्रकार के साधनों को वह चरित्र रक्षा की गारंटी मानते हैं। इसके लिए स्त्री की स्वाभाविक स्वतंत्रता पर नियंत्रण तथा अन्य प्रकार के अनुशासन का निर्देश करने पर भी मनुस्मृति के निर्देशों का सारांश उसके इस कथन

---

२८ दे० एन० एन० घोष: भारतका प्राचीन इतिहास, पृ० १५३, हिंदी अनुवाद, चंद्रचूड़ मणि, इंडियन प्रेस, प्रयाग

में अभिव्यक्त हुआ है कि 'विश्वस्त पुरुषों के द्वारा घर के भीतर अवरुद्ध रखने पर भी स्त्रियों की रक्षा नहीं हो सकती; वही नारियाँ सुरक्षित हैं जो अपनी रक्षा आप ही करना जानती हैं।'[२९] इस कथन में 'गृहेषु रुद्धाः' शब्दों का स्पष्ट संकेत अवरोध-गृहों पर तथा इस तथ्य की ओर है कि चारित्र्य रक्षा के विषय में स्त्री के आत्म बल पर विश्वास आवश्यक है।

मानवीय दौर्बल्य के दृष्टान्तों को पल्लवित करना अनावश्यक है। फिर भी एक आधुनिक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। महात्मा गांधी पवित्र आचरण की मूर्ति थे; वे जहाँ भी रहते, पवित्र वायु मंडल का एक वातावरण बन जाता। उनका सेवाग्राम वर्धा नैतिक आचार-विचार का एक महादुर्ग था जो अनुशासन के पालन में अद्वितीय था। आश्रमवासियों के चरित्र, जीवन-चर्या तथा कल्याण पर स्वयं महात्मा गांधी की दृष्टि रहती थी। इस परिस्थिति में भी आश्रम में एक ऐसी घटना हुई जो युवक-युवतियों के लिए शिक्षाप्रद है। बात यों हुई कि महात्मा गांधी के 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आंदोलन के कुछ पहले १९४० ई० में एक पचीस वर्षीय बंगाली युवक ने आश्रम में गांधी जी की शरण ली। देश-भक्ति का अमृतपान कर वह युवक हिंसात्मक क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हुआ था। शस्त्रागारों की लूट तथा अन्य प्रकार की डकैतियों के अपराध में आजन्म दंडित होकर वह अंडमान भेज दिया गया, किन्तु अल्पवयस्कता तथा अस्वास्थ्य के कारण भारत लौटा दिया गया। यहाँ बंगाल सरकार से निर्वासित होकर जब उसे संयुक्त प्रदेश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में भी शरण न मिली वह लुक-छिपकर महात्मा जी की शरण में पहुँचा। वहाँ भी निर्वासन की आज्ञा ने उसका पीछा किया, किन्तु महात्मा जी के आश्वासन पर कि उसने हिंसा मार्ग का परित्याग कर दिया है नजरबन्द होकर आश्रम में रहने पाया।

अहिंसाव्रती महात्मा गांधी ने युवक की हिंसात्मक वृत्ति को पूर्णतः परिवर्तित करने के उद्देश्य से उसे किसी-न-किसी कार्य में व्यस्त रखना चाहा। उन्होंने उसे आश्रम के पुस्तकालय में जो आश्रम की कुटियों से कुछ दूर एकांत में था बंगाली युवती को वायलिन सिखाने का कार्य सौंपा। कुछ दिनों में दोनों एक दूसरे पर प्रेमासक्त हो गये। यह जान कर कि आश्रम की छोटी-से-छोटी बात भी महात्मा जी से छिपी नहीं रहती उसने युवती के प्रति अपने प्रेम की बात गांधी जी को बतला कर उसके साथ ब्याह करने की आज्ञा माँगी। महात्मा जी ने यह आश्वासन दिया कि सर्वप्रथम युवती अपनी स्वीकृति दे और बाद को

---

२९ मनु० ९. १२

उसके माता-पिता भी इसे स्वीकार करें तो दोनों का विवाह हो सकता है। इसकी चर्चा चलने पर युवती ने बड़ी झुँझलाहट के साथ महात्मा जी से अपनी अस्वीकृति प्रकट की। दिन सोमवार अर्थात् गांधीजी के मौन का दिवस था जिससे उन्होंने युवती की अस्वीकृति लिखकर युवक को दी। पढ़ते ही वह आपे से बाहर हो गया और क्रोध के आवेश में उसने महात्मा जी को लिखकर दिया कि 'मैं उसे एक शिष्ट लड़की जानता था, पर देखता हूँ कि वह पुंश्चली है। मैं उसे मार डालूँगा। पुलिस बुलाइये।' गांधी जी के समझाने पर उसने युवती की हत्या न करने का वचन तो दिया किंतु आश्रम से छिप कर कहीं भाग गया और पत्र छोड़ता गया कि 'मैं सेवाग्राम से जा रहा हूँ, कहाँ जा रहा हूँ नहीं जानता। मेरे पास एक बोतल पोटैशियम साइनाइड है। आवश्यक हुआ तो इसका उपयोग करूँगा।'

ऋषियों ने मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रख कर तामस वृत्तियों और कामुकता के उद्दाम वेग पर ब्रेक लगाने के लिए समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार नियमों की व्यवस्था की। ये दुर्बलताएँ स्त्री और पुरुष में सामान्य हैं। नारी का कार्य-कलाप साधारणतया घर के भीतर और पुरुष का उसके बाहर सनातन से चला आ रहा है। पुरुष की अपेक्षा नारी अधिक कोमल और सुकुमार होती और उसकी शारीरिक शक्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है जिससे उसे अबला कहने की एक परिपाटी चली आ रही है। शालीनता के कारण जो उसका एक स्वाभाविक गुण है पुरुष की अभद्रता को वह प्रकाश में लाने की चेष्टा भी नहीं कर पाती। दुष्ट लोग इसका अनुचित लाभ उठाने में नहीं चूकते। यहीं तक नहीं, जैसा कहा गया है 'किमकार्यमसाधूनां' वह उसके साथ नीच-से-नीच व्यवहार कर सकते हैं और अरक्षित नारी के लिए पुरुष के नराधम अथवा असुर रूप में प्रकट होने से स्वतन्त्रता के नारे की निरर्थकता और उन मनीषियों की चेतावनी का महत्व स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। नारी की स्वाभाविक संकोचशीलता उसे पहला कदम उठाने से रोकती है, परंतु पुरुष उस पर बाज की तरह झपटता है। उसे लुभाने और भ्रष्ट करने के नाना प्रकार के जाल रचता है। अहिल्या जैसी पतिव्रता का सतीत्व नर रूप में इंद्र ने नष्ट किया, पतिपरायणा दमयंती के चरित्र को बिगाड़ने का विफल प्रयास एक पुरुष ने ही किया। सती शिरोमणि सीता के हरण का वृथा दुःसाहस रावण ने किया, पतिव्रता द्रौपदी के साथ कीचक तथा जयद्रथ ने बलात्कार की चेष्टा की और काम के वशीभूत होकर कितने ही महात्माओं के पैर फिसल गये और यह उन युगों

में हुआ जब कहा जाता है कि धर्म अपने कई चरणों पर खड़ा था। परंतु आज ?

आज की बात उन गुंडों से पूछना चाहिए जिनके कारण राजपथों पर विद्यापीठों और विश्वविद्यालयों की छात्राओं का निर्भय होकर चलना-फिरना निरापद नहीं। उनमें उच्च शिक्षा प्राप्त युवक भी देखे जाते हैं जो स्वातंत्र्य के पवित्र नाम पर धर्मशास्त्रों पर कीचड़ उछालने का दुःसाहस करते हैं। यद्यपि यह बड़ी लज्जा और दुःख की बात है पर एक तथ्य है कि कुछ अनाथालयों, विधवाश्रमों और महिलाश्रमों के व्यवस्थापक अपने अधीनस्थ इन पवित्र संस्थाओं की लड़कियों और स्त्रियों का आचरण भ्रष्ट करते तथा उन्हें बेचने का व्यवसाय भी करते हैं। यह सच है कि बहुत-सी संस्थाएँ इस भ्रष्ट व्यवहार से दूर रहती हैं किंतु इस तथ्य पर पर्दा नहीं डाल सकते कि ऐसे अंतर्जनपदीय एवं अंतःप्रांतीय अड्डों के भंडाफोड़ हुए हैं जिनका उद्देश्य स्त्रियों को चरित्र भ्रष्ट करना अथवा उन्हें बेचकर धन कमाना था।

इस प्रकार की सामाजिक अनैतिकता के कारण स्त्रीविषयक नियंत्रणों को सतर्कता के रूप में प्राचीन चिंतकों ने आवश्यक समझा। स्त्री के ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबंध की आवश्यकता न रहे यदि समाज से पुरुषों की स्वैरिता उठ जाय और उसमें राजर्षि अश्वपति की तरह यह उद्घोष हो कि मेरे राज्य में कोई चोर नहीं, कोई कंजूस अथवा मद्यप नहीं, न कोई 'निरग्नि' अथवा अविद्वान् है और न कोई दुराचारी है और जब कोई दुराचारी पुरुष ही नहीं तो दुराचारिणी होने का प्रश्न ही कहाँ ?[३०] परंतु जिस प्रकार प्रतिबंधों का निर्देश करके अंत में मनुस्मृति में स्त्री के आत्म-बल पर विश्वास का अनुरोध हुआ है वही दृष्टि हमें वाल्मीकीय रामायण के एक उल्लेख में मिलती है। राम के वन गमन के समय सैकड़ों ब्राह्मणों ने उनके साथ जाने का आग्रह इन शब्दों में करके 'कि वत्स ! हमारी जो बुद्धि सदा वेद मंत्रों का अनुसरण करती है वह तुम्हारे निमित्त वनवास में तुम्हारा अनुसरण करने में लग गयी है, जो वेद हमारी परम सम्पत्ति हैं वे हमारे हृदयों में रहेंगे और घर में रह कर भी हमारी स्त्रियाँ अपनी चारित्र्य-रक्षा करेंगी[३१]' यह सूचना दी है कि हमारी संस्कृति के श्रेष्ठ पुरुषों को यह विश्वास रहता रहा है कि अच्छी स्त्रियाँ चाहे अपने पति के साथ हों अथवा आवश्कतानुसार उनके साथ न हों अपने चरित्र की रक्षा स्वयं कर सकती हैं।

---

३० छां० उप० ५.११.५

३१ वा० रा०, अयोध्या काण्ड ४५.२४.२५

वेदों को सर्वस्व समझने वाले इन ब्राह्मणों की नारी के प्रति यह निष्ठा एक विशेष महत्व रखती है। युग पुरुष गांधी जी ने राम युग के इन उदार चरितों के समान अपने इस कथन में कि 'बहनों को आते-जाते जो डर पैठ गया है वह मन को दृढ़ कर लेने से निकल जायगा, मन में निश्चित करके कि रक्षा करने वाला राम है, जहाँ काम के लिए जाना है वहाँ उन्हें चले जाना चाहिए; डर किसका? पुरुषों का ही न? पुरुष मात्र कोई बहनों पर हमला करने के ताक में थोड़े ही बैठे रहते हैं? उनका जन्म भी माता के पेट से ही हुआ है। यह विश्वास रखना चाहिए कि वे माता के समान स्त्री जाति पर इस तरह हरगिज हमला नहीं करेंगे। स्त्री अपना मातृपद धारण कर ले और अगर माता अपने बालक से डरती हो, तो वह पुरुष से डरे। इतने पर भी कोई कामान्ध पुरुष निकल आये तो बहनें समझ लें कि उनकी अपनी पवित्रता का कवच जरूर रक्षा करेगा'[३२] स्त्री-चारित्र्य के विषय में भारतीय संस्कृति की सच्ची विचारधारा का प्रतिनिधित्व किया है।

३२ महात्मा गांधी : आत्मकथा

अध्याय १८

आधुनिक युग

विभिन्न समयों में अनेक प्रकार के उथल पुथल और विदेशियों के आक्रमणों के होते हुए भी भारतीय संस्कृति की आत्मा कभी प्रसुप्त नहीं हुई और अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज की पराजय के बाद भी यद्यपि हिन्दुओं का राज्य बाहर से आए हुए मुसलमानों के हाथ में चला गया और प्राचीन संस्कृति को एक नयी संस्कृति के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा, उसके मूल भूत सिद्धान्तों को कोई चिरस्थायी आघात नहीं पहुँचा। दोनों संस्कृतियों में बहुत कुछ विरोध होते हुए भी जब आक्रांताओं ने भारत को अपना देश और घर मान लिया उनमें आदान-प्रदान भी हुए और समन्वय की एक भावना उत्पन्न हुई जिससे एक प्रकार हमारी संस्कृति में एक कड़ी और जुड़ गयी और यद्यपि परिस्थितियों के अधिक अनुकूल न होने से बाद की कुछ शतियों तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में मौलिक विचारों और कृतियों में विशेष वृद्धि नहीं हुई हमारी संस्कृति का स्वभाव विनष्ट नहीं हुआ।

परन्तु १८वीं शती में अंग्रेजों की भारत में जड़ जमने और पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में आने से एक प्रकार का सांस्कृतिक अंधकार-सा छा गया। उसके आकर्षण और मोहक प्रकाश से हमारा युवक वर्ग विशेष प्रभावित हुआ और धीरे-धीरे राजनीतिक परतंत्रता की बेड़ियाँ दृढ़ होने के साथ ही संस्कारों का ह्रास तीव्र गति से होने लगा। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय अपनी पुरातन परंपराओं, जीवन के शाश्वत मूल्यों और आदर्शों को हेय समझने लगे और उनकी दृष्टि में पाश्चात्य सभ्यता के सामने भारतीय संस्कृति का कोई महत्व नहीं रह गया।

सांस्कृतिक ह्रास को उत्पन्न करने में शिक्षा के अंग्रेजी माध्यम का सर्वाधिक हाथ था जिसके व्यामोह से समाज का एक शक्तिशाली वर्ग स्वतंत्रता के बाद भी सर्वथा मुक्त नहीं हो सका है। व्यापार के द्वारा समृद्धि प्राप्त करती हुई ईस्ट इंडिया कंपनी कुटिल कूटनीति और छल-प्रपंच के द्वारा भारत में एक विशाल अंग्रेजी राज्य की स्थापना में किस प्रकार सफल हुई चेतावनी के रूप में उसका इतिहास में सदा स्मरण किया जायगा। प्रशासन के कार्यों के लिए

अंग्रेजों ने जहाँ 'हिन्दुस्तानी बाबू' का वर्ग खड़ा करने के लिए अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा का प्रचार आवश्यक समझा अंग्रेजी राज्य को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के खंडहर पर यूरोपीय सभ्यता का पौधा उगाने के लिए अंग्रेज़ी साहित्य के प्रचार-प्रसार को अनिवार्य माना। वे इस तथ्य से अवगत थे कि राजनीतिक विजय के ऊपरी तथा भौतिक होने के कारण उसके स्थायित्व के लिए विजित जाति के हृदय और आत्मा को जीतने और उस पर अपनी संस्कृति को थोपने से बढ़कर अन्य कोई बुद्धिमानी नहीं है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उन्नीसवीं शती के तीसरे दशक में संस्कृत तथा देशी भाषाओं के स्थान में अंग्रेज़ी के माध्यम से भारतवासियों को 'शिक्षित' और सभ्य बनाने का सुनियोजित 'मिशन' आरंभ हुआ। भारतीय संस्कृति के विषय में तत्कालीन शासकों की अज्ञान मूलक धारणा का प्रमाण अंग्रेज़ी शिक्षा के नियोजनायुक्त लॉर्ड मेकाले की यह दर्पोक्ति है कि यूरोप के किसी भी अच्छे पुस्तकालय की एक आलमारी हिन्दुस्तान और अरब के साहित्य भंडार के बराबर है।

अंग्रेज़ी शिक्षा के द्वारा अंग्रेजों की श्रेष्ठता दिखाने के साथ ही नवयुवकों के कानों में यह मंत्र फूँका जाने लगा कि अंग्रेज जाति का भारत पर शासन ईश्वरीय वरदान है। इसी प्रकार अंग्रेजों द्वारा अथवा उनके निर्देशन में लिखे गए इतिहास ग्रंथों में यह पाठ पढ़ाया गया कि भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था, परस्पर फूट के कारण भारत के निवासी आपस में लड़ा करते थे और बाहरी आक्रमणकारियों से सदा हारते गए। इस शिक्षा की सबसे बड़ी देन भारतीय राष्ट्र का निर्माण बताया जाता रहा है जिसका मिथ्यात्व इस एक बात से सिद्ध है कि स्वतंत्रता के साथ ही अनंत काल से अखंड चले आए भारतवर्ष के अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन द्वारा भारत और पाकिस्तान के रूप में दो खंड हो गये।

इस शिक्षा तथा भारतीय वाङ्मय के ह्रास के फलस्वरूप लोग भूलने लगे कि भारतीय समाज के विकासोन्मुख होने के समय से राष्ट्र कल्पना, देश-प्रेम और स्वतंत्रता एवं राष्ट्रभाषा और संस्कृति के प्रति निष्ठा की उद्भावना समय-समय पर होती रही। 'उपसर्प मातरम् भूमिम्'[१]—पृथिवी माता की सेवा करो—ऋग्वेद के इस मंत्र में संसार में सबसे पहले पृथिवी को माता कहने की परंपरा स्थापित हुई और इसी प्रकार ऋग्वेद के मंत्र 'यतेमहि स्वराज्ये'[२] स्वराज्य के लिए

१ ऋ० १०. १८. १०
२ ऋ० ५. ६६. ६

यत्नशील होने की भावना समाज की प्रारंभिक अवस्था में यहाँ मुखरित हो गयी। यजुर्वेद के एक मंत्र में एक समृद्धिशाली राष्ट्र की मंगल कामना का बड़ी ओजस्वी भाषा में गान हुआ है :

> 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च्चसी जायताम् आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी' 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्, योगक्षेमो नः कल्पताम्'[3] आदि।

इसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्र

> तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमाना इंद्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
> अच्छिन्नं तंतुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्तीः।'[4]

में जिसका उल्लेख एक अन्य प्रसंग में हुआ है,[5] मातृभूमि, मातृभाषा और अपनी संस्कृति के प्रति प्रबुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलेगी। और ऋग्वेद के समान ही अथर्ववेद में 'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः'[6] मंत्र के द्वारा भूमि अथवा देश को माता और अपने को उसका पुत्र कहता हुआ ऋषि उसकी रक्षा के लिए सर्वस्व बलिदान करने का यह दृढ़ संकल्प लेता है कि—

> अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
> अभीषाऽस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥[7]

अर्थात् मैं अपनी मातृभूमि के लिए कष्ट सहने को तैयार हूँ। वे कष्ट जिस ओर से आवें, चाहे जिस समय आवें, मुझे चिन्ता नहीं। और मातृभूमि की रक्षा के लिए चरित्र बल इतना आवश्यक समझा गया कि अथर्ववेद के मंत्रांश 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'[8] में राजचक्र चलाने वालों के लिए ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया।

साहित्य में भारत की नदियों, पर्वतों और कण-कण को पवित्र कहकर उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति उद्भावित की गयी। भारत की उत्तरी सीमा की युगों से रक्षा करने वाले प्रहरी हिमालय को कालिदास ने 'देवतात्मा' कह कर हमारी देशभक्ति की भावना को और पुष्ट किया। हिमालय के विषय में जो

---

३ यजु०

४ यजु० २०. ४३

५ दे० पृ० १८१. १८२ पूर्व

६ अथर्व० १२

७ अथर्व० १२. १.५४

८ अथर्व० १२. ३. १७. १८

अनंत काल से ऋषियों, योगियों और साधकों की तपोभूमि रहा है, कालिदास ने कहा है कि—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदंडः ॥[९]

और उत्तर रामचरित में भवभूति ने वसुंधरा को भगवती का आदर प्रदान किया ।

देशभक्ति की शिक्षा के प्रसार प्रचार में पुराणोंका योगदान भी अविस्मरणीय रहा है जिनमें यह कहा गया कि भारत भूमि में जन्म लेने वालों के भाग्य की देवता सराहना करते हैं, क्योंकि यहाँ जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग और निःश्रेयस् को प्राप्त कर लेता है । देश भक्ति का यह गान पुराणकर्ता के कोकिल कंठ से निकल कर देश में कभी इन शब्दों में गूँज उठा था—

गायंति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदभूमिभागे,
भवंति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥[१०]

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अंग्रेजी से देश को कोई लाभ नहीं हुआ और न यही कि शिक्षा पद्धति में उसे उचित स्थान नहीं देना चाहिए । राष्ट्रभाषा को समृद्ध बनाने एवं अंतरराष्ट्रीय जगत् से संपर्क रखने के लिए शिक्षा की किसी स्वस्थ योजना में उसे उचित स्थान देना आवश्यक है, किन्तु स्वाभिमान, संस्कृति और उसकी परंपराओं के प्रसार तथा शिक्षा को घर-घर में फैलाने और एक राष्ट्र-आत्मा की अवतारणा के लिए राष्ट्रभाषा और संस्कृत को इस योजना में अनिवार्यतः प्रथम स्थान देना ही चाहिए ।

सांस्कृतिक प्रहार ऐसा विष था जो बड़ी तेजी के साथ फैल कर सांस्कृतिक आत्म-विस्मृति का महान कारण हुआ । इस संकट को सर्व प्रथम पूर्व में राजा राम मोहन राय (१७७२–१८३२) और पश्चिम में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी पैनी दृष्टि से परखा और अपने-अपने ढंग से भारत की प्रसुप्त आत्मा को जगाने का एक बहुत बड़ा प्रयास किया जो हमारे सांस्कृतिक उत्थान का एक गौरवमय प्रकरण है । स्वामी दयानन्द ने कुमारिल भट्ट की तरह वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान का कार्य उठाया और पाश्चात्य सभ्यता के प्रहारों से आहत भारत

९ कुमार संभव ७१.१
१० विं० पु० २. ३. २४

की आत्मा को उद्बोधित कर अंध विश्वासों और सामाजिक कुरीतियों से लोहा लेते हुए एक ऐसा आन्दोलन खड़ा किया जिसमें उन्होंने लोगों को निर्भयतापूर्वक अपनी संस्कृति के उत्थान की प्रेरणा दी।

उन्नीसवीं शती के मध्य में ब्रिटिश साम्राज्य भारत में अपने मध्याह्न काल की परिधि पर पहुँचा और उस समय इस देश के निवासियों को उसके प्रचंड प्रताप का पूर्ण रूप से कटु अनुभव हुआ। शासन का मद, काले गोरों का भेद, आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक ह्रास इत्यादि विषमताओं से क्षुब्ध देश ने सन् १८५७ में विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए प्रथम स्वतंत्रता संग्राम छेड़ा जिसमें तैयारी की कमी, केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता और आवश्यक एकता के अभाव इत्यादि कारणों से सफलता न मिली और अंग्रेजी शासन को अपनी पूरी शक्ति के साथ उभड़ती हुई आत्म-जाग्रति को क्रूरतापूर्वक कुचल देने में सफलता प्राप्त हुई।

स्वतंत्रता के इस महत्प्रयास को बहुधा इतिहासकार स्वातंत्र्य-युद्ध न कह कर सैनिक विद्रोह के नाम से अभिहित करते हैं। किंतु यह बड़े महत्व का तथ्य है कि उसमें हिंदू और मुसलमान समान रूप से सम्मिलित हुए और सफलता के हेतु दोनों ने एक स्वर से मुहम्मद शाह 'ज़फ़र' को दिल्ली का बादशाह घोषित किया। यदि वह प्रयास अंग्रेज़ी शासन से भारत को मुक्त करने में सफल हुआ होता तो उसे सभी मुक्त-कंठ से स्वातंत्र्य-युद्ध की प्रतिष्ठित संज्ञा देते। परंतु इस बात की मीमांसा यहाँ आवश्यक न होने से उसका विस्तार न करके इतना कहना पर्याप्त है कि भारत की अमर आत्मा पुनः-पुनः उठना जानती है और देश के हितचिंतकों ने उसके उद्धार के लिए अपने विचारों को संगठित रूप देना आरंभ किया जो अंत में सर्वदेशीय रूप में १८८५ ई० में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म में साकार हुए और जिसके झंडे के नीचे त्याग और बलिदान के फलस्वरूप १५ अगस्त, १९४७ ई० में प्राप्त पूर्ण स्वाधीनता के आलोक में भारत को सर्वतोमुखी उन्नति करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

यह नवजागरण भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा जिसमें आरंभ से ही भारतीय नारी की देशभक्ति, बलिदान और व्यक्तित्व की बहुमुखी अभिव्यक्ति ने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि वह कर्म क्षेत्र में पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर चलने में कम सामर्थ्य नहीं रखती। १८५७ के युद्ध में झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई ने जनमत को जाग्रत करने, सैन्य संगठन और संचालन करने, साहस भरने एवं स्वतंत्रता के लिए प्राणों की आहुति देने

में पुरुषों से कहीं बढ़ कर उत्कर्ष दिखाया जो भारतीय नारी के विषय में कई पोथियों से अधिक बोल रहे हैं।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि राष्ट्रीय महासभा के आरंभ काल से देश के उत्थान में भारतीय नारी ने सक्रिय भाग लिया। देश में जो अनेक महिला सभाएँ सर्व प्रथम स्थापित हुईं उनमें महासभा के प्रथम अधिवेशन के एक ही महीना बाद २५ जनवरी, १८८६ में शिलांग में जो महिला सभा बनी उसकी नेत्री हेमंत कुमारी देवी ने हिंदी 'सुगृहिणी' नाम का पत्र प्रकाशित किया जिसका ध्येय एक भाषा के माध्यम से असम के असमियों, और बंगालियों को राजनीतिक और सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करना था।

यद्यपि स्वामी दयानन्द वैदिक संस्कृति का स्त्रियों में प्रचार करने का आन्दोलन कर चुके थे—उन दिनों स्त्री शिक्षा नाम मात्र को थी और समाज प्रायः उसका विरोधी था जिसका प्रधान कारण भ्रांत धारणा थी कि स्त्री-शिक्षा से अनैतिकता का प्रसार होगा। उस शोचनीय परिस्थिति में 'भारतरत्न' मनीषी धोंडो केशव कर्वे पंत ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में जो अविस्मरणीय कार्य कर दिखाया और जो कर्वे महिला विश्वविद्यालय के रूप में फलीभूत हुआ उनके इस प्रयास में रमाबाई का एक अमूल्य सहयोग था जिसका स्वयं कर्वे महोदय ने अप्रैल, १९५८ को बम्बई में आयोजित अपनी जन्मशती के समारोह में धन्यवाद पूर्वक उल्लेख करते हुए बताया कि किस प्रकार इस स्वनामधन्य महिला ने पूना में महिला सदन और आश्रम का संचालन करके निराश्रितों और विधवाओं की बहुत बड़ी सेवा की। महासभा ने आरंभ से ही स्त्री शिक्षा और स्त्रियों की उन्नति पर ध्यान दिया और एक सार्वदेशिक महिला सम्मेलन की स्थापना हुई जिसका प्रधान उद्देश्य समाज में स्त्रियों का स्थान ऊपर उठाना और स्त्री-समाज में फैली हुई बुराइयों को दूर करना था।

जो लोकमत स्त्री शिक्षा का विरोधी था वह भी निरंतर प्रयास से उसका समर्थक हो गया और आज प्रारंभिक शालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाली बालिकाओं और युवतियों की संख्या लाखों तक पहुँच गयी है और हमारी बहिनें और बेटियाँ ज्ञान-विज्ञान के विविध निकायों में उपाधि प्राप्त करने एवं अनुसंधान तथा शोध के कार्यों में युवकों से होड़ लेने लगी हैं और देश के विभिन्न भागों में कन्या पाठशालाओं और महिला विद्यापीठों की स्थापना बराबर होती जा रही है। यद्यपि जन संख्या के अनुपात से स्त्री-शिक्षा अभी पिछड़ी ही

कही जायगी फिर भी उसकी प्रगति आशाप्रद है और पुरुष शिक्षा ही अभी पूर्णतया संतोषजनक कहाँ है ?

स्त्री शिक्षा के प्रसार और स्त्रियों के उत्थान सम्बन्धी प्रयत्नों से नारी संसार में महत्वाकांक्षाओं का उदय और उनके स्वतंत्र रूप से सोचने-विचारने की शक्ति का अवतरण किसी से छिपा नहीं है। इस विचार धारा पर पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा प्रणाली की छाप परिलक्षित है जिसमें स्त्रियों को भारतीय संस्कृति की मूल भूत मान्यताओं से किंचित् दूर ले जाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और जो वर्तमान शिक्षा पद्धति में सुधार की आवश्यकता का सूचक है।

स्वतंत्रता के द्वितीय तथा सफल उत्थान में स्त्रियों का भाग अधिक देशव्यापी और गौरवपूर्ण रहा है। इस नवजागरण में नारी के देश-प्रेम, निर्भीकता, साहस, धैर्य और उत्सर्ग की जो अभिव्यक्ति देखने में आयी उस पर देश के अग्रणी नेताओं को भी आनंददायी आश्चर्य हुआ। कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आने के पूर्व महासभा के प्रयत्नों के अतिरिक्त देश के कई भागों में हिंसा पर आस्था रखने वाले क्रान्तिकारी युवकों ने स्वतंत्रता के निमित्त जो उत्सर्ग और प्रयत्न किए उनमें अनेक प्रकार की सहायता उन्हें जिन स्त्रियों से मिली उनमें अनेक अज्ञात ही रहेंगी किंतु कुछ के नाम यहाँ उल्लेखनीय हैं। बंग भंग के विरोध में बंगाल में और उसकी सहानुभूति में महाराष्ट्र में इस शती के प्रथम दशक में जो महान् आंदोलन खड़ा हुआ लगभग उसी समय क्रांतिकारियों ने हिंसात्मक ढंग से अंग्रेजों के शासन से देश को मुक्त करने का काम आरम्भ किया। राष्ट्र पिता के निर्दिष्ट तथा संचालित अहिंसा की नीति पर चल कर देश ने स्वाधीनता की लड़ाई जीती यह सत्य होते हुए भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जो क्रांतिकारी अपनी जान को हथेली पर रखकर तरह-तरह की यातनाएँ झेलते हुए फाँसी के तख़्तों पर झूल कर अदम्य देशभक्ति, निर्भयता, साहस और बलिदान के उदाहरण हुए, स्वतंत्रता की भावनाएँ जगाने में बहुत काम आए और जिन स्त्रियों ने उन्हें किसी तरह की सहानुभूति दी वे चिर स्मरणीय रहेंगी।

क्रांतिकारियों ने १९१४ तक स्त्रियों को अपने कार्य-कलापों से प्रायः दूर रखा परन्तु उस समय से जब उन्हें अपना विश्वास पात्र बनाना आरम्भ कर दिया इसमें वे पक्की निकलीं। इन स्त्रियों में स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती की विधवा बड़ी बहिन सरोजिनी जो बाद को सन्यासिनी हो गयीं, जतीन्द्र मुखर्जी की बड़ी बहिन विनोदिनी देवी, मनोरमा मजुमदार, दुकौड़ी वाला देवी, नली बाला,

सिंधु वाला, क्षीरोद सुंदरी इत्यादि के नाम लिये जाते हैं जिन्होंने अनेक कष्ट उठाकर क्रांतिकारियों को शरण और सहायता प्रदान की। इन स्त्रियों के नाम अंधकार में पड़े हुए हैं और इन्हीं के समान क्रांतिकारी विचारों से प्रेरित भिक्खा भाई (१८६१-१९३६) भी प्रायः अज्ञात हैं जिन्होंने पेरिस में प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा को अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया था।" इस प्रसंग में कर्नल लक्ष्मी का नाम इतिहास में अंकित रहेगा जिसने आगे चलकर 'नेताजी' सुभाष चन्द्र बोस की आई० एन० ए० (भारतीय राष्ट्रीय सेना) के लिए भारत की स्वतंत्रता के हेतु विदेश में एक स्त्री-सैन्य का संगठन करके भारतीय नारी के सैन्य संचालन की परंपरा को अग्रसर किया।

असहयोग आन्दोलन के आरभ होने पर स्वाधीनता संग्राम के सभी महत्व के मोर्चों में नारी शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची। सैकड़ों हज़ारों स्त्रियों ने पुरुषों के हाथ बटाए, कितनी ही स्त्रियों ने आंदोलनों में सक्रिय भाग लेकर जेल की यात्राएँ कीं और बहुतों ने अपने पति और पुत्रों के मार्ग में कंटक न होकर उन्हें चंदन और पुष्प मालाओं से सजा कर हर्षपूर्वक कृष्ण मंदिर के लिए विदा किए। इस अहिंसात्मक युद्ध में कई स्त्री रत्नों का आविर्भाव हुआ जिनमें भारत कोकिला सरोजिनी नायडू पर किसी देश को गर्व हो सकता है। उन्होंने अपनी वाणी, वाग्मिता और त्याग से आंदोलन को प्रगति दी ही, विदेश में भारत का सम्मान बढ़ाया। महात्मा जी के डांडी अभियान में सरोजिनी देवी एक प्रमुख सेनानी थीं और पुलिस की लाठी और जेल यातनाएँ भुगतने वालों में वे किसी से पीछे न थीं।

इस प्रसंग में १९३० ई० का सविनय अवज्ञा आंदोलन स्मरणीय है जिसमें स्त्रियों ने सरकार के अत्याचारों का जिस अदम्य साहस और निर्भीकता के साथ सामना किया उससे पुरुषों के हौसले बढ़े। इस आंदोलन में भारतीय नारी के योगदान के विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू का एक वर्णन अत्यन्त सजीव तथा प्रामाणिक है जिसके उद्धरण से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। नेहरू-जी लिखते हैं कि 'आरंभ अप्रैल (१९३०) में भद्र अवज्ञा तथा सरकार द्वारा अत्याचार सारे देश में व्याप्त था, और मैं पुनः जेल में पहुँचा। हम पुरुष लोग प्रायः सब-के-सब जेल में थे। उस समय एक विचित्र बात हुई। हमारी महिलाएँ मैदान में आयीं और उन्होंने लड़ाई का काम अपने ऊपर ले लिया। स्त्रियाँ यों तो बराबर साथ थीं, किंतु इस बार उनकी मानों बाढ़ आ गयी जिसने न केवल

११ दे० दैनिक 'आज', स्वाधीनता विशेषांक, पृ० २१, दिनांक १५-८-६१

अंग्रजी सरकार को बल्कि अपने पुरुषों को भी अचरज में डाल दियां। ये स्त्रियाँ थीं, उच्च अथवा मध्यम वर्ग की जो अपने घरों के भीतर रहती आयी थीं, किसान स्त्रियाँ, श्रमिक वर्ग की स्त्रियाँ, धनी स्त्रियाँ और दीन स्त्रियाँ जिन्होंने लाखों की संख्या में गवर्नमेन्ट की आज्ञा तथा पुलिस की लाठियों की परवाह न की। यह सब न केवल साहस का प्रदर्शन था वरन् इससे बढ़कर वह संघटन शक्ति थी जिसे उन्होंने करके दिखला दिया।

नैनी जेल में जब हम लोगों को यह समाचार मिला हम लोग रोम-पुलकित हो गए। भारतीय नारी के प्रति अपने असीम गर्व में हम सब डूब गए। यह मैं कभी भूल नहीं सकता। आपस में हम लोगों का इस विषय पर बात करना कठिन था, क्योंकि हमारे हृदय भरे हुए थे और हमारी आँखें आँसुओं के कारण मन्द हो रही थीं।

बाद को मेरे पिता जी भी नैनी जेल में हम लोगों के बीच आ गए थे और उन्होंने हम लोगों को बहुतेरी ऐसी बातें बतलायीं जो हमें मालूम न थीं। जब तक वे बाहर थे, भद्र अवज्ञा आंदोलन का नेतृत्व करते रहे और समूचे देश में उन्होंने किसी प्रकार स्त्रियों को आक्रामक कार्यों के लिए उत्साहित नहीं किया था। अपने वात्सल्य तथा किसी हद तक पुरानी रूढ़ि के कारण उनको यह पसन्द नहीं था कि युवतियाँ और वृद्धाएँ ग्रीष्म की कड़ी धूप में सड़कों पर जमा हों और पुलिस से संघर्ष लें। परंतु उन्होंने जनता की नाड़ी पहचान ली और किसी का उत्साह भंग नहीं किया। अपनी पत्नी और पुत्रियों एवं पुत्रवधू तक का नहीं। उन्होंने हम लोगों को बतलाया कि सारे देश में स्त्रियों ने जो शक्ति, साहस और क्षमता दिखायी उसे देखकर उन्हें कितना मधुर आश्चर्य हुआ था। अपने परिवार की लड़कियों की चर्चा उन्होंने स्नेह भरे गर्व के साथ की।"[१२]

भारतीय स्वाधीनता संग्राम में स्त्रियों के महत्वपूर्ण स्थान का आकलन इससे लगाया जा सकता है कि केवल १९३२ के नमक सत्याग्रह में जहाँ ८०,००० से कुछ अधिक पुरुष बंदी बनाए गए, १७,०००से अधिक ही स्त्रियाँ भी पकड़ी गयीं और इनमें से अनेकों ने आंदोलन की बागडोर ली तो बहुतेरी कर्मठ रूप से मैदान में उतरीं।

इसके पहले समाज सुधारकों ने पर्दा प्रथा के विरोध में बहुत कुछ कहा और लिखा था परंतु उस पर इस आंदोलन का अभूत पूर्व प्रभाव पड़ा। आर्य संस्कृत पदावली में जिन महिलाओं को कभी चन्द्रमा और सूर्य ने भी नहीं देखा

---

१२ जवाहरलाल नेहरू : डिस्कवरी ऑव इंडिया, पृ० ३२ का भाषांतर

था वे महलों की चहार दीवारी से बाहर निकल कर देश सेवा के व्रत में पुरुषों से होड़ लेने लगीं। उनमें बन्धुत्व की सेवा भावना का उदय हुआ जिसकी अभिव्यंजना अनेक अवसरों पर हुई। १४ जनवरी १९३४ ई० के बिहार के प्रलयकारी भूकंप से देश के कोने-कोने में वहाँ के पीड़ितों के लिए जो सहानुभूति तथा सहायता के भाव उमड़े उसमें स्त्रियों ने सक्रिय भाग लेकर नारी की क्रियात्मिका शक्ति का परिचय दिया। उनमें से बहुतेरी स्त्रियों ने जीवन में प्रथम बार पर्दा तोड़ कर अपने देश बंधुओं के आँसू पोंछने के लिए घर-घर से अन्न, वस्त्र और द्रव्य संग्रह किए और बहुतों ने घर में ही रह कर उन सेविकाओं की झोलियाँ भरीं। स्त्रियों की यह सेवा भावना क्वेटा के भूकंप तथा असम, उत्तर प्रदेश, और महाराष्ट्र के जल प्लावन इत्यादि संकट के अवसरों पर भी प्रकाश में आयी। नव्य चेतना के प्रसंग में 'बा' (कस्तूरबा गांधी) का नाम मात्र लेना पर्याप्त है जिन्होंने अपने तपोमय जीवन तथा आमरण विश्ववंद्य पति के सहचारित्व से आधुनिक युग में प्राचीन पतिव्रताओं की पंक्ति में स्थान प्राप्त करके आदर्श नारी का उदाहरण उपस्थित किया।

आधुनिक नारी का गुणोत्कर्ष यहीं समाप्त नहीं होता। भारतीय संस्कृति के स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण जो उस पर यह आक्षेप करते हैं कि उसमें स्त्रियों का स्थान निम्नतर है उनका यह मुँहतोड़ उत्तर है कि उनके राजनीतिक अधिकार प्राप्ति में पुरुषों ने कभी रोड़े नहीं अटकाए। यही नहीं, बल्कि उन्हें सब प्रकार के प्रोत्साहन दिए और स्वतंत्रता के पूर्व जनता के हाथ में जो सर्वाधिक सम्मानित पद कांग्रेस का सभापतित्व था उस पर १९१६ में एनी बेसंट को और १९२५ में सरोजिनी नायडू को आसीन करके स्त्री जाति को सम्मानित किया। यह स्मरणीय है कि सरोजिनी देवी ने वर्ष पर्यन्त देश पर्यटन करके कांग्रेस का काम करते रहने की एक परिपाटी भावी अध्यक्षों के लिए स्थापित की। स्वतंत्रता के बाद इस पद को सुशोभित करने का महान् अवसर श्रीमती इंदिरा गांधी को देकर यह परंपरा और दृढ़ की गयी।

इंगलैंड में जिसे संसदीय शासन पद्धति की जननी कहते हैं, मतदान के अधिकार (Franchise) के लिए अंग्रेज महिलाओं को घोर संघर्ष करने पड़े परन्तु भारतीय महिलाओं ने इन अधिकारों को हँसते-हँसते प्राप्त किया। उन्हें इंगलैंड में वोट का पूरा अधिकार १९१८ में मिला एवं फ्रान्स में १९२० में तथा संयुक्तराज्य अमेरिका में १९४४ ई० में। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले उत्तर प्रदेश (संयुक्तप्रदेश) में प्रथम बार कांग्रेस सरकार बनने पर मंत्रिमंडल में श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित एक प्रमुख मंत्राणी थीं। और स्वतंत्र भारत में नारी के

अधिकार पुरुषों से किसी बात में न्यून नहीं हैं। हमारे संविधान ने उसे सर्वतोमुखी उन्नति करने का अधिकार दिया ही है सरकार उसे सब प्रकार की उन्नति के साधन और अवसर देने के लिए सन्नद्ध है। इस समय सभी राज्यों की विधान सभाओं तथा विधान परिषदों एवं लोक सभा और राज्य सभा में स्त्रियाँ सदस्य हैं और मंत्रिमंडलों में उन्हें स्थान प्राप्त होने के सिवाय देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री पद पर श्रीमती सुचेता कृपालानी शासनारूढ़ हैं और इस ग्रंथ का मुद्रण आरंभ हो जाने के अनंतर गत जनवरी में इस महान् गणतंत्र के अत्यंत महत्वपूर्ण प्रधान मंत्री का पद श्रीमती इंदिरा गांधी के सुदक्ष हाथों में पहुँचा है जो लोकतांत्रिक संसार के लिए अभूतपूर्व है।

इस समय संसद में जितनी स्त्री सदस्या हैं उतनी बड़ी संख्या में संसार के किसी पार्लमेन्ट में महिला सदस्याएँ नहीं हैं। स्त्रियों को राष्ट्रपति के स्थान तक पहुँचने का अधिकार संविधान ने दे रखा है और कोई आश्चर्य की बात न होगी यदि किसी दिन किसी नारी रत्न को देश इस सर्वोच्च पद पर देखे। सरोजिनी नायडू उत्तर प्रदेश की राज्यपाल थीं और आजकल उन्हीं की आत्मजा कुमारी पद्मजा नायडू पश्चिम बंगाल के राज्यपाल के पद पर हैं। श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित अपनी क्षमता के बल पर न केवल मंत्रिमंडल में थीं, क्रमशः रूस और अमेरिका में भारत के उत्तरदायी राजदूत के भार के अनन्तर १९५४ ई० से ब्रिटेन में भारत के उच्च आयुक्त और आयर तथा स्पेन के भारतीय राजदूत के पदों पर कई वर्षों तक भारत का प्रतिनिधित्व करके कार्य भार से निवृत्त हो संसद की सदस्या निर्वाचित हुई हैं। भारत के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित प्रथम महिला हैं जो राष्ट्र संघ की अध्यक्षा चुनी गयीं।

अध्यापन के क्षेत्र में आज कालेजों और विश्वविद्यालयों में विदुषी नारियाँ अध्यापिका और प्राध्यापिका का कार्य दक्षतापूर्वक निभा रही हैं एवं न्यायालयों में वकालत तथा न्यायाधीश के महत्वपूर्ण काम भी करने लगी हैं। साहित्य निर्माण में भी उनका योग दान सराहनीय है। सरोजिनी देवी तथा बंगाल की एक दूसरी सुपुत्री तोरुदत्त की अंग्रेजी भाषा की काव्य-रचनाओं पर अंग्रेजी के अंतर्राष्ट्रीय विद्वान् भी मुग्ध हुए थे। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि तोरुदत्त (निधन १८७६) ने यह ख्याति इक्कीस वर्ष की अल्प वयस् में ही प्राप्त कर ली थी। क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यिक जगत में स्त्रियाँ प्रवेश कर ही चुकी हैं, राष्ट्र भाषा में कुछ स्त्रियों की मूल्यवान देन उल्लेखनीय

है। सुभद्रा कुमारी चौहान और महादेवी वर्मा का स्थान साहित्य जगत् में बहुत ऊँचा है। इतना कहना पर्याप्त है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रतिदिन बढ़ता हुआ स्त्रियों का सहयोग एक मधुर परिणाम का सृजन करने जा रहा है। स्त्रियाँ उद्योग व्यवसाय एवं बैंकिंग में भी यशस्विनी हो सकती हैं इसका एक प्रत्यक्षीकरण मई-जून, १९५९ में हाइड पार्क लंडन में हुआ जहाँ श्रीमती सुमति मोरार जी को देखने के लिए अंगरेज़ नागरिकों की एक भीड़ लग गयी और उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि श्रीमती जी सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी की न केवल डाइरेक्टर हैं उसके नीति निर्धारण में उनका प्रमुख हाथ रहता है तथा वे ही इंडियन नेशनल स्टीम शिप ओनर्स असोसिएशन की अध्यक्षा भी हैं।[१३]

इन विशिष्ट उपलब्धियों के अतिरिक्त भारतीय नारी ने पिछले दिनों में एक ऐसा कीर्तिमान स्थापित किया है जो उसके गौरवमय अतीत के सर्वथा अनुकूल होने के साथ प्रोज्वल भविष्य का द्योतक है। अपनी कर्तव्यपरायणता से उसने प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार वह स्वतंत्रता का युद्ध जीतने में पुरुषों के साथ रही है उसकी रक्षा में उनसे किसी प्रकार पीछे नहीं हट सकती। विश्वशांति के लिए सतत प्रयत्नशील और 'पंचशील' का निष्ठापूर्वक पालन करते रहने पर भी १९६२ में भारत पर चीन के और १९६५ में पाकिस्तान के आक्रमणों से देश की रक्षा में सारे राष्ट्र के उठ पड़ने पर स्त्रियों ने युद्ध-रत जवानों की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए कठिन परिश्रम, धैर्य और त्याग दिखाया है जिससे उनकी देश की सुरक्षा के प्रति जागरूकता का पूर्ण प्रमाण मिलता है। इतना ही नहीं, देश की सुरक्षा की द्वितीय पंक्ति के निर्माण हेतु जहाँ देश के शिक्षित युवक 'नेशनल कैडेट कोर' और 'होम गार्ड' का प्रशिक्षण लेने में लग गए हैं विद्यापीठों की छात्राएँ सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रही हैं।

स्त्री की इन उपलब्धियों में जहाँ हमें संस्कृति का एक प्रोज्वल रूप दिखायी देता है, कुछ भ्रांतिपूर्ण विचारों और आंदोलनों के कारण जिनमें भारतीय आत्मा को पहचानने की क्षमता नहीं है और जो समय के प्रवाह में विदेशी मान्यताओं से प्रभावित होकर समाज को विशृंखल कर रहे हैं, संस्कृति को विषम स्थितियों का सामना करना पड़ेगा। इसे हम चेतावनी मानें अथवा मिथ्या भावनाओं को रोकने के उपाय ढूँढें इस पर विचारकों तथा विधायकों का समुचित ध्यान देना चाहिए।

---

१३ दे० नॉर्दर्न इंडिया पत्रिका, २९ जून, १९५९ पृ० ४

आधुनिक भारत निश्चयपूर्वक उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ है और संक्रांति काल की उथल-पुथल का सामना करता हुआ आगे बढ़ रहा है। उसे अनेक आंतरिक और बाह्य कठिनाइयों को दूर करना और बड़ी सावधानी और दूरदर्शिता के साथ अपनी प्रत्येक गतिविधि को संचालित करना है। यह एक ऐसा महान् राष्ट्रीय यज्ञ है जिसमें राष्ट्र के कर्णधारों को ही नहीं प्रत्येक स्त्री और पुरुष को अपना दायित्व पूरा करना चाहिए। इसकी ध्वनि स्त्रियों के पत्र पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होने वाले विचारों में मिलती भी है परंतु उन्हीं में कहीं-कहीं दांपत्य सम्बन्ध की शिथिलता, कौटुंबिक बंधन और स्नेह का अभाव, पारिवारिक जीवन की उपेक्षा इत्यादि ऐसी बातें व्यक्त होती हैं जो सच्ची जागृति के चिह्न नहीं हैं। स्वस्थ गार्हस्थ्य जो भारतीय संस्कृति का मंदिर है उसमें नारी का गृह स्वामित्व एक पूज्य मूर्ति है। अनेक तरह की उन्नति करके भी वह अपने इस नैसर्गिक स्थान की उपेक्षा नहीं कर सकती। नारी का प्रधान कर्म-क्षेत्र घर है और पुरुष का बाहर, यह एक कठोर तथ्य है जिसकी ओर से आँख मूँद लेना अवांछित है। क्या नारी अपने मातृत्व की उपेक्षा कर सकती है जिसे राष्ट्र के निर्माताओं की जननी का गौरवमय पद प्रकृति ने दे रखा है? कुछ आलोचक कहने लगे हैं कि स्त्रियों के मातृत्व पर इतना बल क्यों दिया जाय, इसका सीधा समाधान यह है कि मूलतः वही सच्चे अर्थों में स्वस्थ मानव और स्वस्थ राष्ट्र की निर्माता है। और यदि यह कहें कि स्वस्थ संतान के उत्पादन और योग्य और सुंदर ढंग से उसके संवर्धन में स्त्री की एक बड़ी राष्ट्र सेवा है तो अतिशयोक्ति नहीं। जनसंख्या की अतिशय वृद्धि की दृष्टि से भी इस विषय का महत्व कम नहीं होता। यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रों में ऐसी स्थितियाँ भी आती हैं जिनका सामना करनेके लिए संतान वृद्धि राष्ट्र का कर्तव्य होता है और उसकी पूर्ति के लिए विभिन्न प्रोत्साहनों की व्यवस्था करनी पड़ती है। वस्तुतः नारी के मातृत्व में उसका गौरव, समाज की स्थिति और परमेश्वर की इच्छा की आराधना संनिहित है।

सभ्यता के उपादानों में राष्ट्रीय वेश भूषा का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता और उसका तिरस्कार करके शिक्षित नारियों का पाश्चात्य ढंग अपनाना एक अवांछित प्रवृत्ति कही जायगी। विविध प्रकार के भारतीय प्रसाधनों की कमी नहीं है और इन बातों में अमेरिका अथवा यूरोप का अंधानुकरण स्त्रियों को केवल हास्यास्पद बनाता है। इसका दोधार वाली तलवार की भाँति हमारे समाज पर घातक आघात पड़ता है, क्योंकि सांस्कृतिक ह्रास के साथ ही

इस भद्दी अनुकृति के कारण प्रति वर्ष पर्याप्त धन भारत के बाहर यूरोप और अमेरिका में जाता है।

समाज को प्लिनी की उस चेतावनी से शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए जिसके द्वारा उस मनीषी ने रोम साम्राज्य में व्याप्त एक इसी प्रकार की स्थिति से खिन्न होकर रोम वालों को ईसा की प्रथम शती में सावधान किया कि रोम से प्रति वर्ष भारत को पचास लाख 'सेस्टर्सेज'[१४] व्यापारिक वस्तुओं विशेषतः विलास सामग्री और परिधान आदि के लिए जाता है। वह इसके लिए रोम की फ़ैशन-परस्त स्त्रियों की कड़ी आलोचना करता है जो अपने 'नग्न सौंदर्य' को दिखाने के लिए विलासिता के उपकरण इकट्ठा करने में निरंतर भारत की ओर देखा करती हैं।[१५]

वस्तुतः समाज के आर्थिक शोषण और उस पर सांस्कृतिक प्रभाव डालने के सभी प्रकट अथवा प्रच्छन्न बाहरी प्रयासों के प्रति सजग होने में समाज का कल्याण है।

नौकरी की प्रवृत्ति भी सराहनीय नहीं जिसकी पराश्रयता का कटु अनुभव पुरुषों को खलता ही है। समर्थ होते हुए नारी उसका आलंबन क्यों ले? पति अथवा परिवार की आर्थिक परिस्थिति से विवश होकर उनके हाथ बटाने के लिए नौकरी की शरण में जाने की बात तो समझ में आती है परंतु उनसे स्वतंत्र होकर जीवन यापन की प्रवृत्ति जिनमें स्थान-स्थान पर अपमान और ठोकर खाने पड़ते हैं नारी का मार्ग नहीं है। हाँ, ऐसी देवियों की सदैव सराहना होगी जो गृहस्थी न बनाकर सेवा भाव से प्रेरित होकर सुयोग्य चिकित्सक होकर आर्तों का कष्ट निवारण करें, अनाथों और विधवाओं के आश्रमों का संचालन करें अथवा समाज कल्याण के ऐसे कार्यों में अपनी शक्ति लगाएँ जिनके लिए वे अधिक उपयुक्त हो सकें। उन्हें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकारवाद जो पश्चिम का अनुकरण मात्र है भारतीय संस्कृति की कर्तव्य बुद्धि के सर्वथा विपरीत है। पाश्चात्य सामाजिक जीवन और अर्थ व्यवस्था में उसका जो भी उपयोग हो, इस देश के आचार-विचार और सामाजिक रहन-सहन के अनुकूल नहीं है।

---

१४ रोम साम्राज्य का सिक्का; इस धनराशि का मान पाँच लाख स्टर्लिंग अथवा पचहत्तर लाख रुपये के बराबर होता था।

१५ दे० वार्मिङ्गटन, दि कॉमर्स ऑव एन्शिएंट रोम विद इंडिया। Pliny the Elder (Circa A. D. 23-79) : Historica Naturalist (Natural History in 37 books, books III-V1. Geography and Ethnology).

आधुनिक प्रवृत्तियों में स्त्री की स्थिति को सुधारने के लिए कतिपय अधि-नियमों का विधान स्वतंत्र भारत की एक विशेषता है। पिछली शताब्दियों में भी जैसा कि दिखाया जा चुका है स्त्री के संपत्ति और उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों में देश कालानुसार परिवर्तन होते रहे हैं और उनकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धि की दिशा में रही है परंतु स्वतंत्रोपरांत इस विषय में जो अधिनियम अस्तित्व में आए हैं उनके द्वारा नारी के अधिकारों में असीम वृद्धि हुई है।

अंग्रेजी शासन में कई कारणों से सामाजिक परिवर्तन की वैधानिक व्यवस्थाओं की प्रगति मंथर थी, तथापि कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ स्थापित हो पायीं जिनका सामाजिक स्वरूप पर स्थायी प्रभाव पड़ा। इस तरह के विधानों में उन्नीसवीं शती के सती-निरोध कानून १८२९ तथा हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम २० सन् १८५६ का यथास्थान उल्लेख किया गया है। जहाँ पहले ने अत्यन्त अवांछित सती-प्रथा को सदा के लिए निर्मूल किया दूसरे ने हिंदू विधवा के पुनर्विवाह-संबंधी शास्त्रीय व्यवधान को हटाकर उसे प्रत्यक्षरूप से पुनर्विवाह की वैधानिक अनुमति प्रदान की जिसका अप्रत्यक्ष परिणाम विधवा की दुर्दशा के प्रति हिंदुओं की सामाजिक जागरूकता में परिलक्षित हुआ। इस चेतना को शिक्षा के प्रसार एवं सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों से असाधारण बल मिला जिसके कारण विरोध की दीवारें हट गयीं और विगत अर्ध शताब्दी में विवाह तथा सांपत्तिक अधिकारविषयक कतिपय अधिनियमों की व्यवस्था संभव हुई जिनको क्रांतिकारी कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इन विधानों में बाल विवाह-निरोध अधिनियम १९२८ जो उसके प्रस्तावक हर विलास शारदा के नाम पर शारदा ऐक्ट के नाम से लोक-विश्रुत है सर्व प्रथम है जिसके अनुसार सब जातियों के स्त्री-पुरुषों के विवाह की न्यूनतम सीमा स्थिर करके चौदह वर्ष से कम लड़की का और अठारह साल से न्यून लड़के का विवाह संबंध दंडनीय अपराध निर्धारित किया गया।

किंतु विवाह एवं दायाधिकार में क्रांतिकारी परिवर्तन स्वतंत्रता के पश्चाद्वर्ती दशक में ही हो पाए, यद्यपि उनकी प्रस्तावना भारत में अंग्रेजी शासनकाल में हो गयी थी। हिंदुओं के विवाह और उत्तराधिकारविषयक विधानों में प्रचलित अनेकरूपता के स्थान में एकरूपता तथा समानाधिकार के संस्थापनार्थ एक संपूर्ण संहिता के निर्माण के हेतु भारत सरकार ने १९४१ में राव समितिको नियुक्त करके उसे अपनी संस्तुतियाँ प्रस्तुत करने का आदेश दिया जिसके अनुसार समिति ने सरकार को अपना प्रतिवेदन दे भी दिया। परंतु द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न विषम और अनिश्चित स्थिति एवं महात्मा गांधी

के 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आंदोलन के कारण स्वयं अंग्रेजी सरकार ने अपने अंतिम दिनों की घड़ी गिनने में लगी रहने से राव समिति के प्रस्तावों का कार्यान्वयन भविष्य पर छोड़ दिया।

१५ अगस्त १९४७ में भारत के स्वाधीन होने पर भारत सरकार ने राव समिति के मंतव्यों के आधार पर हिंदू संहिता का एक प्रारूप अस्थायी संसद में प्रस्तुत किया और उसकी प्रवर समिति ने उस पर विधिवत् विचार भी पूरा कर लिया किंतु प्रस्तावित संहिता के कई प्रविधानों का हिंदू समाज ने प्रायः एक स्वर से घोर विरोध किया जो उन लोगों तक सीमित न रह गया जिनको रूढ़िवादी कहा जाता है बल्कि अनेक प्रगतिशील उदारचेता तथा शिखरस्थ नेताओं ने सरकार को लोकमत का आदर करने के लिए सावधान किया जिसके फलस्वरूप संविधान के अंतर्गत प्रथम महानिर्वाचन द्वारा सर्व-क्षमता-संपन्न संसद के निर्माण तक सरकार ने इस प्रश्न को स्थगित कर दिया।

गणतंत्र की संसद का प्रथम महानिर्वाचन जिसके निर्वाचकों की संख्या १७ करोड़ से ऊपर और संसार के किसी निर्वाचन मंडल से कहीं विशाल थी १९५२ ई० में शांतिपूर्वक संपन्न हुआ जिसको देखकर समस्त संसार आश्चर्य-चकित रह गया। निर्वाचन में कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई और संसदीय कांग्रेस दल के नेता नेहरू ने राष्ट्रपति के आमंत्रण पर कांग्रेस सरकार का गठन किया। हिंदू विधानों में परिवर्तन के प्रबल समर्थक नेहरू हिंदू संहिता को वैधानिक रूप देने में सर्वात्मना लग गए। किंतु कई बातों की विवाद-ग्रस्तता और जनमत की तीव्र भावनाओं के कारण नेहरू सरकार ने संपूर्ण संहिता को एक साथ संसद में न लाकर उसे खंडशः कई विधेयकों के रूप में प्रस्तुत किया। परिणाम-स्वरूप जो अधिनियम पारित हुए उनके मुख्य प्रविधानों की यहाँ चर्चा की जायगी।

इन अधिनियमों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिंदू विवाह अधिनियम २५ सन् १९५५ है जिससे हिंदुओं के अद्यावधि मान्यता प्राप्त कई वैवाहिक विधानों की स्थिति समाप्त हो जाती है और जिसके हिंदू शब्द की परिभाषा में वह सभी लोग आते हैं जो हिन्दू धर्म के किसी रूप अथवा उसके विकसित रूप के मानने वाले हों और उनमें वीर शैव और लिंगायत तथा ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज के अनुयायी एवं बौद्ध, जैन तथा सिख समझे जायेंगे। इस अधिनियम की व्याप्ति को असंदिग्ध करने के लिए यह प्रविधान कर दिया गया है कि वह ईसाई, मुसलमान, पारसी और यहूदी मतावलंबियों के सिवाय अन्य सभी पर लागू होगा।

विवाह की वैधता की एक मुख्य शर्त यह है कि विवाह के समय वर अथवा वधू में किसी का संगी (पति अथवा पत्नी) जीवित न हो। इसके परिणाम-स्वरूप बहु-पत्नीत्व की प्रथा पर रोक लगा दी गयी।

हिंदू धर्म शास्त्रों के अनुसार विवाह की अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त सपिंड विवाह का निषेध है जिसके अंतर्गत पितृपक्ष में सात और मातृपक्ष में पाँच पीढ़ी के भीतर आने वाले लड़के लड़की का विवाह वर्ज्य है। इस सिद्धांत को अंशतः स्वीकार करते हुए वर्तमान अधिनियम के द्वारा सपिंडता पितृपक्ष में पाँच और मातृपक्ष में तीन तक परिसीमित कर दी गयी है तथा जहाँ कहीं सपिंड विवाह की रीति प्रचलित चली आती हो उसकी वैधता मान ली गयी है। इस प्रतिबंध के साथ किसी वर्ण, जाति, अथवा गोत्र के स्त्री-पुरुष का विवाह वैध माना जायगा। अधिनियम की धारा ४ के अनुसार वर्जित विवाह निम्न लिखित हैं—

१—यदि कोई किसी का पूर्वज हो,
२—यदि कोई किसी पूर्वज की स्त्री अथवा पति रहा हो अथवा किसी की संतति अर्थात् पुत्र आदि रहा हो,
३—यदि एक दूसरे भाई की स्त्री अथवा बाप की स्त्री अथवा माता का भाई या पितामह अथवा मातामही का भाई रहा हो,
४—यदि दोनों परस्पर भाई बहिन, चाचा भतीजी, चाची भतीजा, भाई व बहिन के बच्चे अथवा दो भाई या दो बहिन के बच्चे हों।

इस अधिनियम का हिंदू समाज को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला प्रविधान हिंदू विवाह-विच्छेद है जिससे हिंदू विवाह के आदर्शों में जिनमें इस संबंध को अविच्छेद्य माना गया है क्रांतिकारी परिवर्तन होता है।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम ३०, १९५६ दूसरा महत्वपूर्ण विधान है जिससे हिंदू नारी के सांपत्तिक अधिकारों का विकास अत्यंत ऊपर उठा है। स्त्री-धन और उत्तराधिकार की मीमांसा में हम देख चुके हैं कि प्राचीन समय से हिंदू नारी के अधिकारों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती आयी है, परंतु समानाधिकार के आधार पर बीसवीं शती के विकासोन्मुख समाज के लिए ये अधिकार अत्यंत अपर्याप्त सिद्ध हुए और स्वाधीनता के पहले 'संपत्ति में नारी का अधिकार अधिनियम १९३७' के द्वारा यह अभिवर्धन हुआ कि जहाँ हिंदू परिवार की सम्मिलित संपत्ति में स्त्री को पहले भरण-पोषण मात्र का स्वत्व प्राप्त था इस अधिनियम से उसे हस्तांतरित करने के अधिकार के सिवाय पति का वह पूर्ण अंश जीवनावधि प्राप्त हो गया जो उसके पति को न्यायानुकूल प्राप्त था। और हिं उत्तराधिकार अधिनियम

१९५६ के द्वारा हिंदू नारी के सांपत्तिक अधिकार न केवल पुरुषों के समकक्ष किए गए किसी हद तक उनसे बढ़ा दिए गए हैं जो अधिनियम के इस प्रविधान से व्यक्त है कि किसी हिंदू के अपनी संपत्ति का न्यास (वसीयत) किए बिना निधन होने पर उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र, पुत्री, विधवा, माता, पूर्वमृत पुत्र के पुत्र या पुत्री, पूर्वमृत पुत्री के पुत्र व पुत्री, पूर्वमृत पुत्र की विधवा, पूर्वमृत पौत्र के पुत्र और पुत्री तथा पूर्वमृत पुत्र के पुत्र की विधवा को सद्यः और समान रूप में प्राप्त होगा।

इस संदर्भ में यह चिंतनीय है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ के वे अंश जिनसे स्त्री को श्वसुर कुल के अतिरिक्त मातृकुल में भी पुरुषों के समान स्वत्व प्राप्त हैं वैषम्य को जन्म देने की सामर्थ्य रखते हैं। और उनमें परंपरागत सम्मिलित हिंदू परिवार को छिन्न-भिन्न तथा सामाजिक संगठन को विघटित करने के तत्त्व संनिहित हैं।

इसी प्रकार हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ के सगोत्र और सम प्रवर विवाहों एवं विवाह विच्छेद के प्रविधान भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक धारणाओं के विरुद्ध हैं और उनसे नैतिक स्तर के गिरने की आशंका सर्वथा निराधार नहीं है।

विवाह-विच्छेद एक ऐसा विषय है जिसके दुष्परिणाम से यूरोप और अमेरिका में भी खलबली पड़ गयी है जो हमें सावधान हो जाने की चेतावनी दे रही है। एक ग्रंथकार का कहना है कि अमेरिका के कुछ नगरों में उतने ही विवाह विच्छेद होते हैं जितने विवाह किए जाते हैं। जर्मनी में प्रति वर्ष तलाक के वाद न्यायालयों में चालीस सहस्र तक पहुँच गए हैं और इस बाढ़ को रोकने के लिए वहाँ वर्तमान कानून में संशोधन की बात विचाराधीन है। यह संख्या ब्रिटेन से चार गुना और अमेरिका से पचास गुना कम है ऐसा कहा जाता है। इन देशों में विवाह विच्छेद एक खेलवाड़ हो रहा है जिसका प्रमाण यह है कि कुछ समय पहले अमेरिका के एक भद्र पुरुष ने अपनी पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद का न्यायालय में यह कारण प्रस्तुत किया कि उसकी प्यारी बिल्लियों में उसके प्रेम में उसकी स्त्री बाधक बनती थी। तलाक की बुराइयों से चिंतित होकर रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के धर्मगुरु पोप ने भी तत्सम्बन्धी क़ानून में परिवर्तन करने का अनुरोध किया है।

इस प्रकरण की परिसमाप्ति में यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ के चतुर्वर्ग के प्रत्येक उत्थान में नारी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसमें उसकी अनेक विध क्षमता की अभिव्यक्ति हुई है एवं भारत की

नवोत्थित चेतना में नारी की प्रगति विभिन्न दिशाओं में हो रही है। यद्यपि इसमें कुछ चिंत्य बातों का समावेश दिखायी देता है तथापि इन्हें संक्रांति काल की उपज कह सकते हैं जो संस्कृति के सच्चे स्वरूप के आलोक में विलीन हो जायँगी। वर्तमान आशामय है और उज्वलतर भविष्य की पृष्ठभूमि परिष्कृत हो चुकी है जिसमें भारतीय नारी उत्तरोत्तर उन्नति करती जायगी।

परिशिष्ट

अध्याय १९

संसार की सभ्यताओं में भारतीय नारी का तुलनात्मक स्थान

प्रागैतिहासिक युग से लेकर भारत में नारी आदर्शों का विकास जिन रूपों में हुआ है उनका अध्ययन भारतीय नारी के स्वरूप-बोध के लिए अपने आप में संपूर्ण है। तथापि स्त्री-जाति में उसके महत्व के निर्धारण के लिए संसार की सभ्यताओं में उसका तुलनात्मक अध्ययन मनोरंजक, फलप्रद और आवश्यक है।

भारत से भिन्न सभ्यताओं की नारी-विषयक मान्यताओं और स्थितियों के विश्लेषण के लिए हम पश्चिमी देशों—भारत यूरोपीय (इंडो यूरोपीय), सेमेटिक (सामी) एवं मिस्री सभ्यताओं से आरंभ कर एशिया के प्राचीन और आधुनिक सभ्यताओं (ईसाई, इसलाम, पारसी इत्यादि) के आवश्यक विवरण यहाँ दे रहे हैं।[1]

यूनान (ग्रीस)

यूनान की संस्कृति में जिसकी गणना संसार की प्राचीन सभ्यताओंमें की जाती है लोग धार्मिक भावना से प्रेरित होकर विवाह करते थे जिसका मुख्य प्रयोजन संतानोत्पादन था और उसके पीछे उपयोगितावाद की यह दृष्टि थी कि गृहस्थी चलाने के लिए स्त्री अनिवार्य है। एथेन्स के क़ानून से पता नहीं लगता कि घर में स्त्री का प्रभाव कितना था अथवा उसे प्रेम और सम्मान कहाँ तक प्राप्त था। साधारणतया लोगों में एक स्त्री के साथ विवाह की प्रथा थी, यद्यपि बहु-विवाह भी होते थे। एथेन्सवासियों को विदेशियों से विवाह करने का निषेध था पर वे विदेशी पति और पत्नी को क्रय करके दास बना सकते थे। उनमें रखेलियाँ रखने की भी प्रथा प्रचलित थी।

वर्ज्य विवाह-संबंध अत्यल्प थे और उनके दाय तथा दत्तक कानून ऐसे थे कि उनसे उन्मुक्त यौन संबंध (incest) को प्रोत्साहन मिलता था। चाचा और भतीजी, एवं भतीजे और चाची के परस्पर विवाह हो सकते थे और एक ही पिता से उत्पन्न सौतेली बहिन के साथ भी विवाह हो सकता था, किंतु संभवतः

---

१ भारत से बाह्य सभ्यताओं के तथ्य प्रायः सब के सब इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्स, एडिनबरा, १९०८, जेम्स हेस्टिंग्स द्वारा संपादित के कई खंडों से लिए गए हैं।

एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न के साथ नहीं। वर वधू को परस्पर चुनने की स्वतंत्रता एथेन्सवासियों में नहीं थी। अरस्तू (Aristotle) के अनुसार पुरुष अपने लिए आरंभ में पत्नियों का क्रय करते थे, अर्थात् कन्या-विक्रय एक सामान्य बात थी जिसका महाकाव्य (Epic) में बहुत वर्णन आता है। वर कन्या के पिता को साधारणतया बैलों के रूप में कन्या का मूल्य देता था। इस प्रसंग में वैदिक धर्म का आर्ष-विवाह उल्लेखनीय है जिसमें कुछ स्मृतिकारों के अनुसार यज्ञ के लिए वर का पिता कन्या पक्ष को एक-एक अथवा दो-दो बछड़े बछिया देता था, परंतु यद्यपि उसका उद्देश्य यज्ञ का संपादन था उसे कन्या-विक्रय कह कर महाभारत तथा मनुस्मृति ने वर्जित कर दिया। ऐतिहासिक काल के एथेन्स में दहेज की प्रथा चली और संभ्रांत विवाहों का दहेज एक मापदंड हो गया।

पत्नी को तलाक देने के लिए पति स्वतंत्र था जिससे धनहीन स्त्रियों की बड़ी दुर्गति होती। पति और पत्नी की कोई सम्मिलित संपत्ति नहीं होती थी और कन्या के पिता या भाई किसी विधान से दहेज देने के लिए बाध्य नहीं किए जा सकते थे जिसका परिणाम यह होता कि अनेक स्त्रियाँ आजीवन क्वारी रह जाती थीं। तलाक देने के लिए पति को कोई क़ानूनी कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं थी। वह अपने दहेज के साथ पत्नी को उसके पिता के घर भेज देने के लिए स्वतंत्र था। यदि पत्नी तलाक चाहती तो उसे न्यायालय की, जिसका यूनानी नाम आर्कन (Archon) था, शरण लेनी पड़ती। पति और पत्नी सहमति से भी विवाह-विच्छेद कर सकते थे।

विधवा को कोई कृत्रिम अथवा औरस संतान न हो तो अपना दहेज लेकर उसका अपने पिता के घर चला जाना अनिवार्य था जहाँ उसका पुनर्विवाह हो सकता था। उपयुक्त आयु शेष रहने पर वह अपने मृत पति की इच्छानुसार अथवा स्वेच्छा से दूसरा विवाह कर लेने को स्वतंत्र थी। यदि उसके संतान हो तो वह पति-गृह में रह सकती थी जहाँ बच्चों की अल्पवयस्कता की अवस्था में उनके अभिभावकों के तथा ज्येष्ठ पुत्र के वयस्क होने पर उसके वश में उसे रहना पड़ता। उसका दहेज-धन उसकी संतान की संपत्ति हो जाती थी जिस पर उसके भरण-पोषण का दायित्व रहता।

एक समय था जब एथेन्स में विवाहिता स्त्री का पर-पुरुष से संभोग अपराध माना जाता था और यही आचरण यदि विवाहित पुरुष किसी नागरिक की स्त्री, बहिन अथवा माता के साथ अथवा उसकी ऐसी रखेली के साथ जो एथेंस की जन्म-जात प्रजा हो करता तो अपराध माना जाता था। बाद को उनके नैतिक

नियमों में यह परिवर्तन हुआ कि कन्या तथा विधवा के साथ संभोग करनेवाले भी अपराधी माने जाने लगे। किंतु इसका कारण किसी नैतिक सिद्धांत की रक्षा न होकर उससे पारिवारिक बंधन के छिन्न-भिन्न हो जाने का डर था। इस अपराध के लिए पति की अपेक्षा पत्नी के साथ अधिक कठोरता बरती जाती थी क्योंकि उन लोगों की धारणा यह थी कि इससे परिवार में विजातीय रक्त के प्रवेश के कारण उनकी पितृ-पूजा की पवित्रता नष्ट हो जाती।

व्यभिचारिणी का पति यदि व्यभिचारी को पकड़ पाता तो उसे तत्काल मार डालता अथवा हल्का दंड देकर या अर्थ-दंड लेकर छोड़ देता। यदि वह व्यभिचार के आरोप को स्वीकार न करता तो उसे उस पति के विरुद्ध न्याया-लयमें अवरोध (Thesmothetae) का आरोप लाना पड़ता जिसे प्रमाणित न कर सकने पर उसे उस पति के हवाले कर दिया जाता जिसे खंजर अथवा खड्ग का प्रयोग किए बिना अपराधी को न्यायालय के सामने दंड देने या न देने का अधिकार था। पत्नी का यह अपराध प्रमाणित हो जाता तो उसे पत्नी न मानने के लिए पति को बाध्य किया जाता, सार्वजनिक मंदिरों से वह बहि-ष्कृत की जाती और न मानने पर कोई भी नागरिक उसे बाहर निकाल सकता तथा उसके वस्त्र और आभूषण छीन सकता; किंतु उसका अंगभंग अथवा वध नहीं कर सकता था।

एथेंस के अतिरिक्त अन्य यूनानियों के इस विषय में क्या विचार थे इसका अधिक विवरण उपलब्ध न होते हुए भी कहा जाता है कि व्यभिचार सर्वत्र महान् अपराध माना जाता था जो एक्सेन हाइरो (Xen Hiero) के इस कथन से प्रमाणित होता है कि बहुत से नगरों में व्यभिचारी को मार डालते थे और उनका कुछ नहीं होता था। इसी तरह लोकिया के विधायक ज़ल्यूकस (Zaleucus) ने शरीर से आघात करके रक्त निकालने का नियम बनाया एवं साइम और पिसिडिया में व्यभिचारिणी को गधे पर बैठाकर घुमाते थे एवं लीप्रियोन, गोर्टिन और तिनीरोस इत्यादि अनेक नगरों में इस प्रकार के अप-राधियों को अर्थ-दंड देते, उनके मतदान के अधिकार छीन लेते अथवा उन्हें ढेले मार-मार कर दंडित करते थे।

पुरुषों के समान स्त्रियों को शिक्षा सुलभ नहीं थी, तथापि बहुतेरी सुसं-स्कृता स्त्रियाँ हो गयी हैं। उदाहरणार्थ सैमो और पेनिलोप का स्थैर्य, और अंति-योर्ल का बहिन-प्रेम एक कहावत हो गयी है। अरिस्तोफ़ेनीज की एक्लेसियाजुसक के अनुसार राज्य-शासन में स्त्रियों का बड़ा प्रभाव था। तत्त्वज्ञानी प्लेटो अपने प्रसिद्ध ग्रंथ रिपब्लिक में अपने काल्पनिक आदर्श राज्य में शारीरिक दुर्बलता के

कारण स्त्रियों को पुरुषों से हीन मानता है और उन्हें पुरुषों में विभाजित करना राजधर्म बतलाता है तथापि उसने स्त्री-पुरुष की समानता की कल्पना भी की है।

मिस्र (ईजिप्ट)

मिस्र के अभिलेखों में विवाह विषयक बातों का वर्णन इतना अपर्याप्त है कि उसके आधार पर यह बतलाना कठिन है कि मिस्रियों में विवाह संबंध के लिए रक्त-संबंध पर कहाँ तक विचार किया जाता था अथवा उन में सपिंडता तथा विवाहित स्त्री की परिसीमा कहाँ तक थी। बाद को फैरोवों (Pharohas) ने अपनी बहिनों अथवा 'धर्म की बहिनों' के साथ विवाह किए। ए० एच० गार्डिनर के अनुसार एक ही परिवार में चाचा और भतीजी के दो विवाह संपन्न हुए। रोमकालीन मिस्र में कृषक तथा नागरिक परिवारों में बहिनों तथा धर्म बहिनों के विवाह साधारणतया होते रहते थे। विवाह अल्पावस्था में हो जाया करता था इसका इस बात से पता लगता है कि कन्या के रजस्वला और बालक के खतना होते ही विवाह कर दिया जाता था। प्रेम-विवाह भी होते थे किंतु युवा युवतियों के विवाह में माता-पिता अथवा अभिभावक का हाथ प्रधान था। विवाहिता स्त्री का परपुरुष सहगमन पाप माना जाता था। अन्य प्रकार के सहगमन के विषय में उपलब्ध लेख मूक हैं।

पितृभक्ति तथा मातृभक्ति पर जोर दिया जाता था। माता-पिता की मृत्यु पर बहुत बाद तक संतान का कर्तव्य होता कि उनके निमित्त जल गिराएँ जो उनके विश्वास के अनुसार घाटी में विश्राम करते थे। यद्यपि पिता पूज्य था माता उससे अधिक मान्य थी, जिसकी समानता मातृ सम्मान के विषय में मनु के वचनों से की जा सकती है। एक ही पिता से उत्पन्न भाइयों की तुलना में ममेरे भाइयों का स्थान ऊँचा था, कदाचित् इसलिए कि कम से कम राजवंश में उत्तराधिकार मातृपक्ष से गिना जाता था। संतान को अत्यधिक स्नेह देने के कारण माता को संतान का अत्यधिक स्नेह प्राप्त था।

पुत्रोत्पादन एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था जिसकी अभिव्यक्ति इस निर्देश में पायी जाती है कि 'जब तुम युवा हो जाओ अपने लिए स्त्री प्राप्त करो जिससे तुम्हें पुत्र हो।' इस निर्देश का महत्व एक किसान के अपनी स्त्री के डूब कर मर जाने पर इस विलाप में प्रस्फुटित हुआ है कि 'मैं तुम्हारे लिए शोक नहीं करता, बल्कि उन बच्चों के लिए जिन्हें तुम उत्पन्न करतीं।' परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पत्नी के प्रति प्रेम अथवा अच्छा व्यवहार पति करता ही नहीं था, क्योंकि यह शिक्षा भी दी जाती थी कि 'यदि तुम संपन्न हो

तो गृहस्थी जमाओ और अपनी स्त्री से प्रेम करो, उसका भरण-पोषण करो और उसे वस्त्रादि से आच्छादित करो। तैल उसके शरीर की ओषधि है, यावज्जीवन उसके हृदय को आह्लादित करो। वह एक ऐसा क्षेत्र है जो अपने स्वामी को लाभ पहुँचाता है। जो स्त्री चंचला हो और आमोद-प्रमोद में अभिरुचि रखती हो उसे सहन करो। ऋतु पर्यंत उस पर कृपादृष्टि रखो और उसे घर से निकाल न दो।' इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि इस तरह की भावनाओं की व्यंजना भारतीय साहित्य में विविध प्रकार से हुई है।

बहु-विवाह वर्जित नहीं था, परंतु ऐसे विवाह बहुत कम होते थे। तलाक पति की इच्छा पर निर्भर था, किंतु यदि वह अकारण तलाक देता तो उसे स्त्री को हर्जाना देना पड़ता था। विधवाओं आर परित्यक्ता अथवा तलाक की हुई स्त्रियों को रक्षा की अपेक्षा रहती थो किंतु स्त्रियों को सांपत्तिक अधिकार प्राप्त होने से यह स्थिति सह्य थो।

स्त्री अपनी संपत्ति का प्रबंध स्वयं कर सकती थी, वह उसका वसीयत कर सकती थी आर न्यायालय में अपने मामलों का निबटारा करा सकती थी। कई रानियाँ हो गयी हैं जिन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक अच्छे ढंग से शासन कर के अपनी राज्यशक्ति का परिचय दिया।

विवाह के पूर्व वासनामूलक अनाचार पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। कामचारी स्त्रियों की भरमार थी और बड़े लोगों के उत्सवों में सम्मिलित होनेवाली नर्तकाएँ वेश्यावृत्ति करती थीं। अनैतिकता का पता मॉरलिट (Morlitr) की इस चेतावनी में मिलता है कि 'ऐसी अज्ञात स्त्री से सतर्क रहो जिसे उसके नगरवाले नहीं जानते। उसके निकट अपना शरीर न ले जाओ। जो स्त्री अपने पति से विलग रहती है वह एक अथाह अगम्य महासागर है।'

रोम

रोममें विवाह संस्था को विभिन्नता के कारण प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कालों में विभक्त कर सकते हैं। प्रागैतिहासिक कालमें इटालियन जातियों में धर-पकड़ कर विवाह कर लेने की प्रथा थी। सुप्तावस्था में बलात्कार और बर्छी से केशोच्छेदन करके बलपूर्वक स्त्री के साथ विवाह करना इसकी विशेषता थी। बाद को कन्याक्रय करके विवाह होने लगे। बलात्कार विवाह प्रणाली प्रायः वही थी जिसे हमारे धर्म-शास्त्रों में पैशाच नाम देकर वर्जित किया गया है। विवाह के दो मुख्य उद्देश्य थे अर्थात् गृह की रक्षा तथा संतानोत्पादन

जिससे शांति एवं युद्ध के समय राष्ट्र की रक्षा की जा सके। रखेलियाँ होती थीं किंतु उनसे जो संतान उत्पन्न होती वह राष्ट्र-रक्षा के योग्य नहीं समझी जाती थी और न उसे नागरिकता के अधिकार ही प्राप्त थे।

ऐतिहासिक काल के आरंभ में स्वकुल की सातवीं पीढ़ी तक विवाह संबंध नहीं हो सकता था और इसलिए दूसरी पीढ़ी के चचेरों के विवाह निषिद्ध थे। किंतु प्यूनिक युद्धों के विवरणों से पता है कि सगे चचेरे के साथ विवाह हो सकता था। विवाह के लिए माता-पिता की सहमति अत्यंत आवश्यक थी। विवाह का समय कन्या का ऋतुमती होना नियत था जो साधारणतया बालिका के लिए बारह और बालक के लिए चौदहवें साल में माना जाता था। उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध वाग्मी सिसरो की पुत्री का विवाह दस वर्ष की ही अवस्था में हुआ था।

वधू दहेज लेकर आती थी जिससे गृहस्थी में विशेष सहायता मिलती थी। वह घर के दासों की स्वामिनी होती। गृह के धार्मिक तथा लौकिक कार्यों में वह पति की सहचरी होती और सभी व्यावहारिक बातों में उससे मंत्रणा ली जाती, यद्यपि बौद्धिक तथा राजनीतिक विषयों में ऐसा नहीं होता था। साधारणतया पति की अनुज्ञा अथवा रक्षक के बिना वह घर से बाहर नहीं निकलती थी।

प्रजातंत्र के अंतिम काल में स्त्रियों का नैतिक आचरण पतनोन्मुख हो चला। इसके पहले विवाह-संबंध बहुत करके अविच्छेद्य माना जाता था परंतु इस काल में तलाक की प्रथा आरंभ हुई और बिना किसी कारण अथवा दुर्व्यवहार का आरोप लगाए पति-पत्नी परस्पर तलाक करने लगे। इसकी परिणति बहुविवाह प्रथा में हुई। परंतु बहुविवाह मात्र से यह अनुमान नहीं कर सकते कि भ्रष्टाचार उसका आवश्यक अंग था, क्योंकि इस प्रकार का लेख उपलब्ध है कि चरित्रवान् होते हुए भी पॉम्पी ने पाँच विवाह किए, सीज़र ने चार, सिसरो ने तीन और सम्राट के अधीनस्थ प्लिनी (द्वितीय) ने भी तीन विवाह किए।

इस काल में यौन संबंधों का आदर्श बहुत ऊँचा नहीं था। इस विषय में पुरुष और स्त्री के आचरण के मापदंड भी भिन्न थे, और स्त्री का पर-पुरुष के साथ संभोग व्यभिचार का अपराध माना जाता था परंतु किसी पराई विवाहिता के साथ पुरुष का यही कुकर्म दुर्व्यवहार मात्र कहलाता था, और अविवाहिता के साथ मैथुन एक सामान्य बात मानी जाती थी। व्यभिचार के कारण किसी स्त्री के तलाक किए जाने पर न्यायालय यह निर्णय करता कि दहेज का कितना अंश

वह अपने पास रख सकती है। साम्राज्य काल में क़ानून की अव्यवस्था के कारण रोम में अनाचार की अतिवृद्धि हो जाने से जनसंख्या घटने लगी जिससे संत्रस्त होकर आगस्तस ने अनैतिक आचरण और व्यभिचार की रोकथाम के लिए पत्नी और रखेली के व्यभिचार को विधान द्वारा दंडनीय अपराध ठहराया। रखेली प्रथा वैधानिक मान ली गयी एवं व्यभिचारिणी और व्यभिचारी समान रूप से दंड के अधिकारी माने गए।

'ई० पू० छठी शताब्दी के मध्य तक रोम में अधिक-से-अधिक सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था थी'[2] जिससे रोम में सभ्यता का आरंभ ई० पू० छठी शती से मानना चाहिए। नैतिक आचरण का कोई ऊँचा आदर्श स्थापित नहीं हुआ। व्यक्तिगत नैतिक जीवन का मापदंड जाति की आधिभौतिक उन्नति था। किसी कर्म के अच्छे अथवा बुरे होने की कसौटी जाति अथवा राष्ट्र के संघर्षमय जीवन में उसके सहायक अथवा बाधक होने में मानी गयी। व्यक्ति का कर्त्तव्य, चाहे जिस साधन से हो, जाति की वृद्धि करना था जिससे वैभवशाली होना अच्छे पुरुष का लक्षण था। सिसरो की उक्ति से कि 'सद्गुण के अज्ञान के कारण ही लोग धन-धान्य से संपन्न पुरुष को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं'[3] स्पष्ट है कि सिसरो जैसे मनीषियों को इस स्थिति से असंतोष था। भौतिकवाद और विलासिता जिसमें इन्द्रियपरायणता के मार्ग बिलकुल उन्मुक्त थे अपनी चरम सीमा को पार कर गयी थी। परंतु साम्राज्य के अंतिम चरण अर्थात् कान्स्टटाइन के समय में यूनानी दर्शन के सिद्धान्तों एवं पौर्वात्य विचारधाराओं के संम्पर्क में आने के कारण व्यक्तिगत आचरण पर अवलंबित नीतिधर्म की दिशा में एक बड़े परिवर्तन का सूत्रपात हुआ।

'बारह टेबुल' वाले विधान के अनुसार कन्या के समान ही पत्नी के ऊपर पति का पूर्ण अधिकार है। कुछ समय बाद स्त्री को कुछ ऊँचा स्थान मिला। विवाह की परिभाषा में कहा गया कि 'विवाह पुरुष और स्त्री का ऐसा एकीकरण है जिसमें पूर्ण सहजीवन और ईश्वरीय और मानवीय धर्मों में उनका सहचारित्व है।' पहले स्त्री को दायाधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु इस विधान से उसे सीमित रूप में प्राप्त होकर उत्तरोत्तर बढ़ता गया। स्त्री को पति को चुनने का अधिकार नहीं था और परित्याग न किए जाने के लिए कोई कड़े नियम नहीं थे, किंतु गुप्त रीति से क़ानूनी अनर्हता से बचने और राजनीतिक विषयों में

---

२ हिस्ट्री ऑव एथिक्स ऐंड मॉरैलिटी : भाग ५ पृ० ५१७

३ डि रिपब्लिका १.५१।

हस्तक्षेप तक करने का मार्ग वह निकाल लेती थी और इस सबका नैतिक आचरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था।

सामी (सेमेटिक) सभ्यता

अधिकांश समाजशास्त्री मानते हैं कि आदिम मानव परिवार श्रेष्ठ पशु और निम्नतम स्तर के मनुष्य की मध्यवर्ती अवस्था है और उनके मतानुसार सेमेटिक जातियों की आरम्भिक अवस्था इसी प्रकार की है। इस अवस्था में विवाह पुरुष और स्त्री का एक अस्थायी संयोग है जिसमें प्रायः सब आदिम लोगों की तरह मैथुन संबधी अनाचार न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है। इसमें समय-समय पर मनोरंजक परिवर्तन हुए हैं।

आदिम सेमेटिक : इधर-उधर बिखरे हुए भागों में स्वच्छंद प्रेम के कोई कार्य करके अपना शील भंग कराना स्त्रियाँ एक पुनीत कर्तव्य मानती थीं। कामोपभोग की कोई इयत्ता नहीं थी। इन लोगों का आदि देश अरब था जहाँ विवाह अस्थाई होते थे और माता के द्वारा संवंध माना जाता था। सभी सेमेटिक देशों में और प्रधानतः अरब और अबीसीनिया में तलाक आये दिन होते रहते। ऐसे विवाह भी होते थे जिन्हें बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व का सम्मिश्रण कहना चाहिए। एक ऐसी प्रथा भी चल निकली जिसमें तीन रात अथवा इससे कुछ ही अधिक समय तक विवाह संबंध सीमित होता। इसे 'मुतअ' विवाह कहते हैं जिसका अस्तित्व पैगंबर मुहम्मद के आविर्भाव तक वर्तमान था। स्त्राबो के अनुसार परिवार की सम्मिलित संपत्ति होती थी और एक स्त्री सब की होती और उनमें जो सबसे वड़ा होता वह सब का स्वामी होता था। व्यभिचारी को मार डालते थे जो किसी दूसरे परिवार का ही होता।

बैबिलोन और असीरिया : बैबिलोन के प्रथम राजवंश (ई० पू० २१२८–१९२४) के पूर्व हम्मुरबी के विधान बनने के पहले विवाह बिना किसी विधि-विधान के होते थे। प्रचलित प्रथा के अनुसार एक पुरुष और स्त्री का विवाह समीचीन माना जाता था किंतु साथ ही रखेलियाँ रखने की रीति भी थी जिनसे संतान उत्पन्न करना पुरुष का कर्तव्य था। पति पत्नी के भरण-पोषण का प्रबंध करके उसे अपनी इच्छानुसार तलाक दे सकता था। तलाक का अधिकार पत्नी को भी था। कन्या-शुल्क और दहेज वैधानिक थे। पिता की रखेलियाँ पुत्र को उत्तराधिकार में मिलती थीं।

हम्मुरबी के पहले सुमेरी भाषा में लिखे गए ग्रंथ बाद को भी प्रचलित थे जिनमें पारिवारिक जीवन के नियम ग्रथित थे। उनमें एक यह था कि यदि

कोई माता अपने पुत्र से कहती कि तू मेरा पुत्र नहीं है तो वह घर और सब वस्तु त्याग देता। यदि विवाहिता स्त्री अपने पति को त्याग देती और कहती 'तू मेरा पति नहीं है' तो वह नदी में फेंक दी जाती। यदि विवाहित पुरुष अपनी पत्नी से कहता कि तू मेरी स्त्री नहीं है तो उसे आधा 'माइना' रजत उस स्त्री को देना पड़ता। परिवार में सास का सम्मान था। वैवाहिक मनमानी के विरुद्ध स्त्री की रक्षा का नियम था तथा विधवा और अनाथ की रक्षा की व्यवस्था की जाती थी। पुरुषों में मद्य पान, लंपटता और इन्द्रियपरायणता यहाँ तक बढ़ी थी कि सार्वजनिक सड़कें मैथुन के अड्डे थीं। सारांश यह कि बैबिलोन वालों का नैतिक आचरण उनकी धार्मिक भावनाओं के अनुरूप ही सर्वथा आधिभौतिक था जिसकी प्रधानता इन्द्रियसुखोपभोग में थी।

सामी जातियों की आरंभिक अवस्था में पुरुष को चुनने का स्त्री को अधिकार था। वह अपने पिता के घर में उन्हें जब और जितने समय के लिए चाहती बुला सकती थी। ऐसी स्थिति में व्यभिचार किसे कहते हैं यह प्रश्न ही नहीं रहता। इस प्रकार जो बच्चे पैदा होते वैधानिक नहीं होते थे[४]।

सामी संसार की प्रचलित प्रणाली में कन्या पति के घर जाती है जिसके लिए पति को कन्या के परिवार को कन्या-शुल्क जिसे मह्र कहते हैं देना पड़ता है। यह मह्र क्षतिपूर्ति के रूप में कन्या का परिवार इसलिए लेता है क्योंकि वह सदा के लिए कन्या की सेवाओं से वंचित हो रहा है। पुत्र जाति की संपत्ति माना जाता है इसलिए मह्र का देने वाला समझता है कि उसे मह्र देने से एक बड़ा अधिकार मिल रहा है। इस तरह प्राप्त होने वाली स्त्री को पति रद्दोबदल अथवा अस्थायी रूप से हस्तांतरित भी कर सकता है जिससे निःसंकोच रूप से कह सकते हैं कि सामियों की यह प्रथा सतीत्व के किसी मापदंड से घृणास्पद है। उनकी व्यभिचार की परिभाषा में व्यभिचार के विहित और अविहित विभेद पाए जाते हैं जिसके अनुसार पति की अनुज्ञा अथवा जानकारी में किया गया पर-पुरुष-समागम विहित और इसके विपरीत किया गया समागम व्यभिचार माना जाता है।

बैबिलोन के हिब्रू राजा हम्मुरबी के विधान (Code of Hammurabi) से ई० पू० २२५० के पहले हिब्रू स्त्री की जो स्थिति थी उसमें कुछ सुधार हुआ जिसमें एक़रार के द्वारा विवाह की पुष्टि हुई। इस विधान के अनुसार जिस स्त्री की सगाई हो गयी हो और उसके बाद जो अपने पिता के घर में रहती हो

---

४ दे० राबर्टसन स्मिथ : हिस्ट्री ऑव एथिक्स ऐंड मॉरैलिटी, पृ० ७८-७९

उसके साथ बलात्कार करने वाला पकड़े जाने पर प्राणदंड पाता है परंतु उस स्त्री को कोई दंड नहीं दिया जाता। यदि कन्या की सगाई पिता के लड़के के साथ हुई हो तो यह देखा जाता है कि विवाह अंतिम रूप से पूर्ण हुआ है अथवा नहीं। यदि विवाह पूर्ण हो गया हो तो बलात्कारी को गला घोंट कर मार डालते और यदि पूर्ण नहीं हुआ तो व्यभिचारी को आधा माइका चाँदी का दंड सहना पड़ता और वह स्त्री अपनी संपत्ति से वंचित की जाती और अन्यत्र विवाह कर लेने की उसे स्वतंत्रता होती। विवाह माता और पिता तय करते हैं। बड़े भाई के मरने पर उसकी विधवा छोटे भाई की स्त्री हो जाती है और इन दोनों के संयोग से उत्पन्न पहली संतान मृत भाई की संतान मानी जाती है। पति पत्नी का तलाक बड़ी सुगमता से कर सकता है परंतु पति को तलाक करने में पत्नी को कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, पतिपरायणता के लिए स्त्री बाध्य की जाती है किंतु पत्नीव्रत के लिए पति बाध्य नहीं है। अतएव व्यभिचार के लिए दंड का विधान स्त्री के लिए जितना कठोर है वैसा पति के लिए नहीं।

अबीसीनिया

हिब्रुओं की तरह अबीसीनिया में भी बड़े भाई के मरने पर उसकी विधवा छोटे भाई की स्त्री हो जाती है एवं ईसाई धर्म में अनुमोदित रखेलियों की तथा पुरानी सेमेटिक प्रथाएँ बहुत करके प्रचलित हैं।

स्लाव

प्राचीन स्लाव जातियों में दो प्रकार के विवाह प्रचलित थे : १—दूसरे वंश अथवा प्रजाति की कन्या को धर पकड़ द्वारा; २—क्रय द्वारा। दक्षिणी स्लावों (युगोस्लाविया) में बलात् पकड़ कर विवाह की प्रथा आजकल भी बन्द नहीं हुई है।

इसलाम

सामी अरब—पैगंबर मुहम्मद के पहले सेमेटिक अरब में पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जितनी स्त्रियाँ चाहता रख सकता था। मुहम्मद साहब ने इसमें यह बड़ा परिवर्तन किया कि कोई पुरुष चार से अधिक स्त्रियाँ नहीं रख सकता, यद्यपि उन्होंने गुलाम रखेलियों की कोई परिसीमा निर्धारित नहीं की। इस परिवर्तन के अनुसार माता, बेटी, सगी बहिन, सगी चाची, सगी नानी, सगी भतीजी, सास, विमाता की लड़की और पतोहू के साथ विवाह वर्जित हुआ। स्त्री का व्यभिचार अपराध ठहराया गया, यद्यपि स्पष्ट रूप से पुरुष का नहीं।

हिन्दुओं की तरह मुसलमान को स्वेच्छापूर्वक अपनी स्त्री को तलाक दे सकने का अधिकार है।

इसलाम में व्यभिचार बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता हैं, कुरान की सुरा २४-१.५ का आदेश है कि 'व्यभिचारी और व्यभिचारिणी में प्रत्येक को सौ बेंत लगाए जायँ और अल्लाह के मजहब में तुम इस विषय में दया की भावना न आने दो'। किंतु शीलवती स्त्री पर दोषारोपण करने वाले को यदि वह चार साक्षी उपस्थित न करे सौ कोड़े मारे जायँ और उसका प्रमाण कभी न माना जाय। इस विषय में मुहम्मद साहब का आद्य आदेश विवाद का विषय है। कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन करते हैं कि आरंभ में उनका आदेश यह था कि व्यभिचार के अपराधी को पत्थर की मार से मृत्यु के घाट पहुँचा दिया जाय; दूसरे मत के अनुसार सौ कोड़े मारने के आदेश द्वारा पैगंबर ने पत्थर की मार से प्राणदंड का निषेध किया। जो हो, दूसरे खलीफ़ा ने यह व्यवस्था कर दी कि इसलाम में व्यभिचार का दंड पत्थर की मार से मृत्यु है। मुसलमानी क़ानून के ग्रंथों में ज़िना का दंड पत्थर और कोड़ों से मारना बतलाया गया है। इस कानून के विशेषज्ञ व्यभिचार अर्थात् ज़िना का अभिप्राय ऐसे मैथुन को मानते हैं जो पति-पत्नी अथवा दास और स्वामी के अतिरिक्त किसी दो व्यक्तियों के बीच हो। यदि ज़िना के अपराधी अविवाहित हों तो उन्हें कोड़े लगाने और दूसरे प्रकार के अपराधियों को पत्थर मार कर मृत्यु दंड का विधान है। ज़िना के अपराध का चार पुरुष साक्षियों द्वारा प्रमाणित होना अनिवार्य होने से व्यवहार में उसकी सिद्धि एक बड़ी कठिन बात है। यदि पुरुष अपनी पत्नी को व्यभिचार कर्म में रत पा ले तो उसे पत्नी और उसके प्रेमी को तत्काल मार डालने का अधिकार है। यदि पति को अपनी पत्नी पर व्यभिचार का संदेह हो तो उसे साक्षी प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं होती। उसे शपथ करनी पड़ती है कि उसके प्रति उसकी पत्नी सच्ची नहीं है, यदि पत्नी अपनी सचरित्रता का सौगंध ले ले तो उसे दंड नहीं दिया जाता, किंतु दोनों का विवाह-विच्छेद कर दिया जाता है।

इसलाम में स्त्रियों को हरेम में रखने की प्रथा है और सब कामों में तथा बौद्धिक विषयों में वे स्वतंत्रता से वंचित हैं।

प्राचीन अरब में स्त्री की जो स्थिति थी उससे उसे मुहम्मद साहब ने ऊपर उठाया, विशेषतः वह मृत पति की दूसरी संपत्तियों की तरह उत्तराधिकार की वस्तु न रह गयी, बल्कि उसे स्वयं दाय का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त जो दासी न हो ऐसी स्वतंत्र स्त्री को विवाह करने के लिए बाध्य नहीं किया

जा सकता और तलाक किए जाने पर यदि वह पुनर्विवाह करती है तो विवाह के अवसर पर तलाक कर्ता पति से उसे जो कुछ मिला रहता है उसे लौटा पाने का पति अधिकारी नहीं माना जाता। उच्च वर्ग की महिलाएँ काव्य और विज्ञान में भाग ले सकती और अध्यापन भी कर सकती हैं एवं स्त्रियाँ घर गृहस्थी देखती हुई अपने पति के सुख दुःख की साथी होती हैं। माता का सम्मान आवश्यक है। हरेम का एकांतिक जीवन अधीनता के स्थान का द्योतक है तथा स्त्रियों का पारस्परिक सम्पर्क सीमित और उनकी शिक्षा उपेक्षित है। पर्दा प्रथा द्वारा स्त्री पर कठोर नियंत्रण है परंतु इससे यह अनुमान निकालना कि स्त्रियों पर बहुत कम विश्वास किया जाता है"[5] समीचीन नहीं होगा।

केल्टिक जातियाँ

केल्टिक जातियों में विवाह संबंध राजनीतिक कारणों को सामने रख कर स्थापित होते थे। उनमें वधू को क्रय कर के पत्नी बनाने की प्रथा थी। प्राचीन आयलैंण्ड में कन्या का पिता वर से पूरा विक्रय द्रव्य जिसे कोइब्ची (Coibche) कहते थे एक बार में ले लेता था। बाद को उस स्त्री का विवाह जितनी बार होता इक्कीसवें बार तक कोइब्ची का अर्धांश पिता और शेषांश लड़की लेती थी। स्काटलैंड में लड़की का पिता विवाह के पूर्व उसे राजा के उपभोगार्थ एक रात के लिए उसके पास ले जाता था। व्यभिचार की उन्मुक्त रीति थी और तलाक के लिए किसी कारण के ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। पति इच्छानुसार रखेलियाँ रख सकता था। पत्नी का स्थान दासी से बहुत ऊँचा था किंतु पति के बराबर नहीं था। प्राचीन ब्रिटेन और आयलैंण्ड में बहुपतित्व की प्रथा थी जिसके अनुसार एक ही स्त्री दस बारह पुरुषों की संपत्ति होती थी जो परस्पर प्रायः भाई होते थे, अथवा पिता और उसके पुत्र। इस संबंध से उत्पन्न संतान उस पुरुष की मानी जाती जिसके साथ उस स्त्री का विवाह सबसे पहले हुआ होता। आयलैंण्ड में स्थिति यहाँ तक थी कि दूसरों की माताओं, स्त्रियों और बहिनों के साथ संभोग को बुरा मानते ही नहीं थे। कैलीडोनिया में भी स्त्रियाँ पुरुषों की संपत्ति होती थीं। ईसाई धर्म के प्रचार के पहले बहुविवाह की भी प्रथा थी। विवाह के लिए सपिंडता अथवा प्रजातीयता का बंधन नहीं था। आयलैंण्ड में स्वकुल में संबंध का पूर्ण प्रचलन था जिसके अनुसार क्लादरिन नाम की राजकुमारी ने जो अपने तीन भाइयों की पत्नी रह चुकी थी अपने लड़के राजा

---

५ हिस्ट्री ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, पुस्तक ५, पृ० २७१

ग्लुगेड के साथ विवाह किया।[६] मध्यकालीन वेल्स और बृतानी में बहुविवाह पर रोक लगी। बहुविवाह प्रथा के साथ-साथ वेश्या-गमन एक सधारण बात थी।

गाल लोगों में स्त्रियों की बड़ी बुरी हालत थी। पुरुष युद्ध-प्रिय थे जिससे खेती-बारी स्त्रियाँ ही प्रायः देखती थीं और विवाहोपरांत स्वेच्छाचार के लिए स्त्री स्वतंत्र थी।

वेल्स में भी स्वकुल में विवाह की प्रथा थी जिससे तीन पीढ़ी के भीतर भी विवाह हो सकता था। गृहस्थी का संपूर्ण स्वामी पति था। वह पत्नी का भी प्रभु था और उससे यदि वह कोई अप्रिय अथवा अभद्र शब्द बोलती तो उसे अर्थ-दंड देना पड़ता था। पति चाहता तो अर्थ-दंड न लेकर शिर के सिवाय पत्नी के किसी अंग पर तीन छड़ियाँ लगाता। उसे अपने बच्चों को मार डालने अथवा जीता रहने देने का अधिकार था, यद्यपि चौदह साल की अवस्था वाले बालक के प्राण लेने का उसे अधिकार नहीं था।

स्काटलैण्ड की आरंभिक अवस्था में विवाह का कोई बंधन नहीं था और पुरुष-स्त्री का एक प्रकार का शिथिल संबंध था।[७] उत्तरी स्काटलैण्ड की जन-जातियों में स्त्रियाँ पुरुषों की सम्मिलित होती थीं और दस बारह पुरुषों की जो परस्पर प्रायः भाई अथवा पिता और लड़के होते—सम्मिलित स्त्रियाँ होती थीं।

ईसाई

नयी बाइबिल (New Testament) ने पत्नी पर पति का आधिपत्य मानते हुए उसकी आज्ञा पर चलना पत्नी का धर्म निर्दिष्ट किया है तथा एक दूसरे से प्रेम करने एवं एक दूसरे का ध्यान रखने की शिक्षा दी है। उसमें यह सिद्धांत स्थापित हुआ है कि पति पत्नी एक मांस पिंड से निर्मित एक पूर्ण इकाई हैं। पुरानी बाइबिल (Old Testament) में बहुपत्नीत्व वर्जित नहीं था और प्राचीन इसराईल में बहु-विवाह होते भी थे। किंतु उद्वास काल (Post Exile Period) के बाद यहूदी उपदेशकों ने यह प्रचार किया कि विवाह संस्था का आदर्श एक ही पति पत्नी का संबंध हैं और बहुविवाह की प्रथा इसके विपरीत है। नयी बाइबिल के अनुसार स्त्री को एक पति और पुरुष को एक ही पत्नी के साथ विवाह संबंध द्वारा संतानोत्पादन करके जाति की वृद्धि करनी चाहिए। इस उद्देश्य में काम की तृप्ति के साथ उसका संयम भी अंतर्निहित हुआ।

६ दे० बुक ऑव लीन्स्टर २३ स्तंभ २
७ स्कीन ३.१३८

यहूदियों, रोमकों और किसी हद तक यूनानियों में जिनमें पति-पत्नी संबंध प्रायः स्वामी और दासी जैसा था, दार कर्म के अतिरिक्त अन्य बातों में स्त्री से बहुत कम संबंध रखते थे और यूनानी लोग तो इस संबंध में विशेष रूप से उदासीन थे जिससे अस्थाई प्रेम संबंध बढ़े और गार्हस्थ्य जीवन तथा विवाहिता स्त्री की स्थिति शोचनीय हो गयी। रोम वाले किसी हद तक यूनान वालों की तरह वर्तते थे और यहूदी विधान भिन्न होते हुए भी उन पर शिष्ट (Gentile) जगत् की विचारधारा का प्रभाव पड़ा और नैतिक आचरण में सिद्धांत-हीनता का प्रवेश हुआ। नयी बाइबिल में इस प्रकार के बाह्य संबंधों की स्पष्ट रूप से निंदा की गयी तथा 'सुसमाचार' में तलाक को पापमूलक कह कर निंदनीय घोषित किया गया। प्राचीन रोम में विवाह-विच्छेद अपमानजनक और अनिष्टकारी समझा जाता था और उन्हें पाँच सौ बीस साल तक इस बात का गर्व था कि उनके यहाँ तलाक की प्रथा नहीं थीं। किंतु यहूदी क़ानून ने तलाक को वैधानिक रूप दिया।

ईसाई धर्म में विवाह एक संस्कार अथवा पवित्र अवस्था मानी गयी है। किंतु क़ानून की दृष्टि से वह एक समय अथवा एक़रार है और तलाक से विवाह का बंधन पूर्णतया टूट जाता है और दूसरा विवाह कर लेने के लिए स्त्री और पुरुष स्वतंत्र हो जाते हैं। परंतु ईसाई धर्माचार्य तलाक को स्त्री-पुरुष का एक दूसरे से वियोग मात्र कहते हैं क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार विवाह संबंध अविच्छेद्य है और इसीलिए तलाक अर्थात् 'क़ानूनी वियोग' हो जाने पर भी पुनर्विवाह नहीं हो सकता। किंतु सुधारकों ने विवाह की अविच्छेद्यता का रूपांतर करके तलाक का समर्थन किया। फिर भी, रोमन-कैथलिक-संप्रदाय-बहुल अनेक देशों के विधानों में धार्मिक व्यवस्था के अनुसार तलाक का निषेध है। इस संप्रदाय के अनुसार विवाह संबंध के विषय में रक्त-संबंध, वैवाहिक संबंध और आध्यात्मिक इन तीन तरह के संबंधों पर विचार करना आवश्यक है। अतएव धर्म-पिता और धर्म-संतान में अथवा ऐसे दो व्यक्तियों में जो किसी एक बालक अथवा बालिका के धर्म-पिता अथवा धर्म-माता हों, विवाह संबंध नहीं हो सकता।

ईसा के पार्वत्योपदेश (Sermon on the Mount) के सातवें अनुशासन 'तू अपने पड़ोसी की पत्नी को नहीं चाहेगा', 'तू व्यभिचार नहीं करेगा' में पुरुष और स्त्री को मन और कर्म से व्यभिचार के पाप से बचने का, उपदेश है और ईसा की दूसरी शताब्दी के अंतिम चरण में अफ़्रीका और इटली में यह धर्मानुशासन तत्परतापूर्वक बरता जाता रहा किंतु नए धर्म के प्रचार के आरंभिक उत्साह में शैथिल्य आ जाने से अनुशासन की कठोरता में भी शिथि-

लता लानी पड़ी। ईसाई धर्म के आरंभिक जीवन में स्त्रियों ने भी भाग लिया। स्त्री और पुरुष की एक दूसरे की पूरकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। परंतु उनकी समानता पर अधिक बल दिया गया। एक्विनास (Acquinas) ने पति-पत्नी के मैत्री रूप को प्रधानता देते हुए कहा है कि माता-पिता की इच्छा चाहे जो हो, स्त्री को विवाह करने या न करने का पूर्ण अधिकार है।

सुधार (Reformation) के द्वारा स्त्री-पुरुष के जीवन की सार्थकता वैवाहिक संबंध में मानी गयी और उसके उचित निर्वाह को ईश्वर की सेवा बतलाया गया। व्यभिचार तलाक का समुचित कारण निर्दिष्ट हुआ और इस विषय में निर्दोष पक्ष को पुनर्विवाह का अधिकार मिला।

स्त्री को घर और समाज में उचित स्थान दिलाने में शिलर (shiller), जे. एच. फ़िक्टे (J. H. fichte), श्लेरमाचेर (schleiermacher) और गेटे की लेखनियों ने अद्‌भुत काम किया। परंतु दार्शनिक शोपेनहार ने इस मत का प्रतिपादन किया कि स्त्रियाँ आज्ञापालन के लिए बनायी गयी हैं और उनका नियंत्रण होना चाहिए, क्योंकि स्वभावतः उन्हें अभिभावक की आवश्यकता होती है।

यहूदी

यहूदियों की मान्यता है कि विवाह प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए और जो इस कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह परमेश्वर की प्रतिमूर्ति को घटाता तथा अपने कर्म से इसराईल की भूमि से दैवी वास को दूर करता है। 'जिसके स्त्री न हो वह भाग्यहीन है', 'ऐसे व्यक्ति को मनुष्य नहीं कहते' इत्यादि निर्वचनों से उनकी विवाह विषयक धारणाओं का महत्व प्रकट होता है। वे लोग सुखी गार्हस्थ्य को विवाह की परिणति और अच्छे मनुष्य का लक्षण मानते हैं। बालक और बालिका यदि बड़े हो जायँ तो विवाह के विषय में माता-पिता की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है, किंतु उनके सम्मान के लिए उनकी आज्ञा वे लेते ही हैं। बहुत समय तक यहूदियों की यह धारणा थी कि संतान का विवाह कम आयु में कर देने से नैतिक आचरण के निर्माण में सहायता मिलती है। उनमें कन्या का ऋतुमती होना, जो तेरहवें साल में निर्धारित हुआ, कन्या के विवाह के लिए तथा अठारह वर्ष बालक के विवाह की उपयुक्त आयु मानी गयी और माता के बहुसम्मान तथा विधवा पर कृपा-भावना की प्रतिष्ठा स्थापित हुई।

यहूदियों में बहु-विवाह वर्जित नहीं है परंतु व्यवहार में विवाह साधारणतः

एक ही स्त्री के साथ होता है। चचेरे भाई बहिनों का विवाह परस्पर होता है। पत्नी पर पति की अधीनता मानते हुए भी वह पत्नी का समुचित सम्मान करता है और इसके प्रमाण में प्रत्येक शुक्रवार को सायंकाल साध्वी स्त्रियों की गाथा का नियमपूर्वक पाठ करता है।

इस प्रसंग में हिन्दू विवाहों के अवसर पर पतिव्रताओं की गाथा का पाठ उल्लेखनीय है।

विवाहिता स्त्री का परपुरुष के साथ मैथुन कर्म व्यभिचार का अपराध माना जाता है और इसी तरह विवाहित पुरुष का पर-स्त्री गमन व्यभिचार का अपराध है किंतु किसी अविवाहिता स्त्री के साथ रतिकर्म पुरुष के लिए व्यभिचार का अपराध नहीं माना जाता है। पूर्व प्रचलित व्यभिचार संबंधी दंड-विधान में संशोधन द्वारा व्यभिचारिणी पत्नी को तलाक देकर उसे उस स्वत्व से जो उसे विवाह के समय-पत्र के द्वारा प्राप्त हो, वंचित करने तथा व्यभिचारी को कोड़े लगाने की व्यवस्था दंड विधान में की गयी एवं पति को व्यभिचारिणी पत्नी को तलाक देने के लिए विवश करने एवं उसे अपने प्रेमी के साथ विवाह न करने का नियम बनाया गया। एवं पति के व्यभिचार करने पर पत्नी की प्रार्थना पर उसे तलाक देने को पति बाध्य किया गया। अवांतर काल में व्यभिचार तथा कुटुम्ब-विवाह (Incest) बड़े अपराधों की श्रेणी में रखे गए।

ईरान

ईरान के प्राचीन जरथुस्त्र धर्म में गार्हस्थ्य की बड़ी महत्ता है जो इस निर्वचन में स्वीकृत है कि 'संसार का दूसरा सबसे सुखद स्थान वह है जहाँ पुण्यात्मा गृहस्थी स्थापित करता है'[८] और जो मनुस्मृति की इस उक्ति से कि 'सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित हैं' बहुत कुछ मिलता है। इस धर्म की गाथाओं में पति-पत्नी को पवित्र जीवन व्यतीत करने और अच्छे कर्मों में एक दूसरे की सहायता करने का उपदेश मिलता है। उसमें विवाह एक धार्मिक कर्तव्य निर्दिष्ट हुआ है और निर्धन कन्या का सहायता देकर विवाह करा देना एक पुण्य कार्य माना गया है। बालक बालिका के विवाह का वयस् अवेस्ता में पंद्रह वर्ष नियत है जिससे ईरान में बाल-विवाह का अभाव था।

वैवाहिक विधि में पुरोहित वर और वधू से प्रश्न करता है कि उन्हें विवाह करना स्वीकार है अथवा नहीं। यह स्वीकृति विवाह की वैधानिकता के लिए आवश्यक है। सपिंड विवाह निषिद्ध न होने के कारण सगे चचेरे भाई बहिन

८ वेन्दिदाद ३.२।

का परस्पर विवाह हो सकता है। यूनानी तथा लातिनी लेखकों के कथनानुसार प्राचीन ईरान में वैमातृ भाई बहिन की संतान के साथ माता पिता का विवाह अवैधानिक नहीं माना जाता था।

प्राचीन ईरानी व्यभिचार के जिसे वे महापातकों में गिनते थे घोर निंदक थे। गाथा उश्तवेति (Ushtvaiti) में कुकर्म से बचने की कड़ी चेतावनी दी गयी है और यजाता आशिनाम की महिला का यह कथन कि 'पुरुष तथा नराधम अत्याचारी का कुमारियों को कुमार्ग पर चलने के लिए बहकाना बुरा से बुरा कर्म है, और व्यभिचारी तथा व्यभिचारिणी पृथ्वी की सन्मूर्ति की शत्रु और पशु के समान हैं' पारसी स्त्रियों के श्रेष्ठ नैतिक चरित्र का परिचायक है। अविवाहित और सच्चरित्र स्त्री को वे 'इरिदात फ़िद्री' कहते और उसे पुण्य की मूर्ति मानते थे तथा व्यभिचार की मूर्ति 'जाही' के कपट जाल से बचने के लिए उसकी अधिष्ठातृ देवता का आवाहन करते थे। अह्रिमन् (असुर) के पाप कर्मों में जाही सहायक माना गया है। पातिव्रत्य स्त्री का महान् कर्तव्य बतलाया गया है तथा उसे पति के अधीन रहते हुए उसकी पूजा करने की शिक्षा दी गयी है एवं उसे प्रत्येक दिन प्रातःकाल पति से यह पूछने का उपदेश है कि उसे वह क्या करने की आज्ञा देता है। पश्चाद्वर्ती गाथा काल में स्त्री को पुरुष के बराबर स्थान मिला और वह अहुरमज़्द का ध्यान पूजा करने की अधिकारिणी मानी जाने लगी।

चीन

चीनियों के नैतिक आचरण का आधार मुख्यतः कनफ़ूची (कन्फ़्यूशियस ई० पू० छठी शताब्दी) शिक्षाएँ थीं जिनमें जीवनपर्यंत माता-पिता की सेवा पर आग्रह और उनके मरने पर उन्हें मर्यादापूर्वक गाड़ना पितृ-मातृ-धर्म का निर्देश है। मातृ-स्नेह पर बल दिया गया है और बड़े भाई की आज्ञा मानना अनुज का कर्तव्य बतलाया गया है। कर्तव्यपालन मात्र पर्याप्त नहीं है बल्कि उसका श्रद्धापूर्वक स्वेच्छया संपादन आवश्यक है।

स्त्री सर्वथा पुरुष के अधीन मानी गयी है। कनफ़ूची मत के अनुसार स्त्री के प्रति व्यवहार करना सरल नहीं है। इस संबंध में कहा गया है कि 'उससे मिल कर रहो तो आज्ञा नहीं मानती, उससे दूर रहो तो उसका कोपभाजन बनो; स्त्री सदैव पराश्रित है, लड़की है तो पिता या बड़े भाई पर, विधवा है तो अपने पुत्र पर अवलंबित है; उसे अपने पति के अनुशासन और शिक्षा पर रहना चाहिए'। इसके अतिरिक्त स्त्री को घर के भीतर रहना चाहिए जो उसका

कर्तव्य-क्षेत्र है। ससुर का सम्मान, पति की सेवा और शिशु-पालन स्त्री का धर्म है। विवाह मनुष्य जीवन का एक बड़ा कर्तव्य माना गया है और प्रेम के क्षेत्र में स्त्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है तथा उसे आदर का पात्र बतलाया गया है। तलाक का अधिकार पति के लिए सुलभ है किंतु यदि पत्नी के माता-पिता जीवित न हों, वह नीच कुल की हो अथवा आरंभ में दीन-हीन रही हो तो पति उसे त्याग नहीं सकता। विधवा की रक्षा भी एक आवश्यक कर्तव्य माना गया है।

जापान

सभ्यता की दृष्टि से जापान की, जिसकी गणना बहुत प्राचीन देशों में नहीं की जा सकती, विवाह प्रणाली के भेद से तीन काल स्पष्ट देख पड़ते हैं : १. ताई हो र्‌यो काल, (ईसवी सन् ७०१—११९२) जिस पर चीनी विधान और आचार-विचार के प्रभाव परिलक्षित हैं; २. सामंतवादी युग, बारहवीं शती के अंत से मीजी काल तक और ३. वर्तमान काल, जो ईसाई धर्म से प्रभावित है।

विवाह एक एक़रार है जिसके लिए उभय पक्ष के परिवारों की सहमति आवश्यक है। ताई-हो-र्‌यो काल से मीजी काल तक उभय पक्ष के माता-पिता ही यह एक़रार करते आए जिसमें वर-वधूकी स्वीकृति आवश्यक नहीं थी, जाति-भेद जापान में न होते हुए भी एक प्रकार का ऐसा भेद चला आया है जिससे एक वर्ग के लोग नीच माने जाते रहे हैं जिनमें दूसरे लोग विवाह नहीं करते, एवं उनकी संतान भी उन्हीं की तरह हीन समझी जाती रही है।

ताई-हो-र्‌यो काल में वर की अवस्था पन्द्रह और वधू की तेरह साल विवाह के लिए आवश्यक थी। जापान के पुराने क़ानून और रीति के अनुसार बहु-विवाह वर्जित था परन्तु रखेली पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। तलाक विहित था और उसके कारण विवाह-विच्छेद हो जाते थे तथा पति-पत्नी में से किसी के मर जाने पर दूसरा विवाह हो सकता था। पत्नी की सच्चरित्रता प्रशंसनीय मानी गयी, जो 'सती स्त्री कभी दो पुरुषों को नहीं देखती' कहावत में व्यक्त हुआ है, तथा सतीत्व के महत्व के कारण पुनर्विवाह न करना स्त्री का एक बड़ा गुण माना गया है। ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं जो रण में अपने पति के मारे जाने का समाचार सुनकर सिर मुड़ा लेतीं, पौरोहित्य करने लगतीं अथवा आत्म-हत्या करके सती हो जाती थीं। कालान्तर में इस तरह की पति-भक्ति बहुत-कुछ कम हो गयी। तलाक हो जाने अथवा व्यभिचार के अपराध में

दंड पाने के कारण पुरुष अथवा स्त्री को दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। स्वास्थ्य तथा नैतिकता के कारणों से एक माता-पिता की संतान में विवाह वर्ज्य हैं, किंतु चचेरे संबंधियों के साथ वर्जित नहीं हैं।

प्राचीन जापान में स्त्री पर पुरुष का असीमित अधिकार था और सम्यक् रूप से उसकी आज्ञाओं का पालन स्त्री का परम धर्म माना जाता था। स्त्री-संपत्ति अत्यल्प होती थी और ऐसी स्त्रियाँ इनी गिनी होतीं जिनके पास अपने वस्त्र और आभूषणों के सिवाय दूसरा कोई धन होता। स्त्री का महत्व कम था। सिविल कोड १८९६-९८ की घोषणा से स्त्री के अधिकारों में वृद्धि हुई।

जापान के सबसे प्राचीन धर्म को शिन्तो कहते हैं जो एक चीनी शब्द है और जिसका अर्थ है 'देवताओं का मार्ग'। उसके अनुसार माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन और घर के बड़ों की आज्ञा मानना नैतिक धर्म का प्रधान लक्षण है। जापान में कनफूची मत २८४ ई० में और बौद्ध धर्म सन्-५५२ ई० में पहुँचा और दोनों ने जापानी जीवन को प्रभावित किया। महायानी बौद्धधर्म के प्रभाव से व्यभिचार और अवैध मैथुन निषिद्ध किए गए।

कोरिया

लड़के और लड़की को अपने विवाह को तय करने में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। पिता, पितामह अथवा बड़ा भाई और अधिकृत संबंधी उनका विवाह पक्का करते हैं। बाल-विवाह-निरोध कानून के रहते भी बाल-विवाह प्रचलित हैं। विवाह के समय बालिका बालक से अवस्था में बड़ी होती है। जहाँ बालिका की अवस्था साधारणतया बारह तेरह साल होती है बालक की दस अथवा उससे भी कम। दूसरा विवाह करने की रोक नहीं है किंतु दूसरा विवाह करना अपमानजनक समझा जाता है और उत्तम वर्ग के लोग दूसरा विवाह कभी नहीं करते। पति को तलाक का अधिकार है जिसे पत्नी अस्वीकार नहीं कर सकती।

तिब्बत और ब्रह्मदेश

प्राचीन काल से तिब्बत और बर्मा में बौद्धधर्म के प्राधान्य से भारतीय संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित है। तिब्बत में जहाँ बौद्धधर्म की महायान शाखा का प्रचार है बहुपतित्व की तथा हीनयान संप्रदाय से प्रभावित ब्रह्मदेश में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित है।

ट्यूटन जातियाँ

जर्मन और ऐंग्लो सैक्सन लोगों की गणना ट्यूटन जातियों के अंतर्गत आती है। स्त्री-पुरुष विषयक नैतिक आचरण के संबंध में जर्मनों का स्थान टैसिटस के समय से सराहनीय माना जाता रहा है। रोमन इतिहासकार टैसिटस के अनुसार उनका विवाह विधान कठोर नियमों से आबद्ध है। बर्बर जातियों में एक स्त्री से संतुष्ट रहने वालों में वे प्रायः अद्वितीय हैं। थोड़े से लोग जो दूसरी स्त्री से भी विवाह कर लेते हैं उसका कारण कामुकता नहीं, बल्कि उनकी कुलीनता के कारण उनसे संबंध स्थापित करने को अनेक लोग उत्सुक रहते हैं। पुरुषों की तरह उनकी स्त्रियों में भी गुप्त रीति से काम-प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। बहुविवाहों की संख्या बहुत परिमित थी। ऐसे विवाहों के उदाहरणों में राजा हेरल्ड फेअर हेयर का नाम प्रसिद्ध है जिसकी कई रानियाँ थीं। यदि किसी पुरुष की कई स्त्रियाँ होतीं बहुधा प्रत्येक अपने पिता के परिवार में अथवा अपने जन्म-स्थान के जनपद में रहा करती थीं। आइसलैंड के कथानकों से ज्ञात होता है कि साधारण से साधारण कारणों से वहाँ तलाक हो जाया करता था। तथापि अनेक संभ्रान्त पुरुषों के उदाहरणों से प्रकट होता है कि दो बेमेल व्यक्तियों का विवाह एक बार हो जाने पर दूसरा संबंध जोड़ने के उद्देश्य से उनमें से कोई उस संबंध को तोड़ने का प्रयत्न नहीं करता था। टैसिटस ने चरित्र-हीनता के अपराध के कारण किसी स्त्री के दंडित होने का उल्लेख किया है किंतु उसके बाद के, मुख्यतः आइसलैंड और नार्वे के लेखक स्त्री के लिए किसी दंड का नाम नहीं लेते यद्यपि उसके प्रेमी पर कठोर अर्थ-दंड लगाए जाने का वे वर्णन करते हैं। नार्वे के पुराने क़ानून के अनुसार स्त्री और पुरुष के नैतिक आचरण का आदर्श और धर्म की दृष्टि से दोनों के मैथुन-संबंधी व्यतिक्रम का मापदंड एक ही था।

स्त्रियाँ युद्ध में सम्मिलित नहीं होती थीं, किंतु टैसिटस के कथनानुसार 'पत्नी उत्तम कार्यों की स्पृहा अथवा युद्ध के खतरों से अपने को अलिप्त नहीं रखती बल्कि श्रम और भय के कामों में वह पति का साथ देती है और शांति हो अथवा युद्ध वह पति के साथ कष्ट उठाती है और उसके साथ साहस दिखाती है।'[१] ऐसी स्त्रियों के नाम मिलते हैं जिन्होंने युद्ध में लड़खड़ाते हुए सैनिकों के पैर जमा दिए और जहाँ पुरुषों में मद्यपी होते थे स्त्रियों में यह व्यसन नहीं था।

---

१ गॉर्म २८

भारतीय संस्कृति—भारतीय नारी के अध्ययन के साथ इन विवरणों को देखने से संसार की स्त्रियों में उसके स्थान का पूर्ण निर्धारण हो जाता है। फिर भी, उपसंहार में उसकी कुछ मुख्य विशिष्टताओं का विवेचन किया जायगा जिससे उसका महत्व और भी गौरवपूर्ण प्रतीत होता है। पिछले अध्यायों की मीमांसा से यह तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि भारतीय समाज का अत्यंत प्राचीन काल अर्थात् ऋग्वेद के अवतरण के साथ एक सुविचारित योजना के आधार पर विकास हुआ है जिसमें मानव-जीवन का परम लक्ष्य निर्धारित करके उसकी प्राप्ति के लिए जिस प्रकार पुरुष को वैसे ही स्त्री को सतत प्रयत्नशील होने के लिए प्रेरणा और सुविधा प्रदान करने का प्रयास दिखायी देता है। इसके चातुराश्रम्य अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम, गार्हस्थ्याश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की व्यवस्था में आदर्श और व्यवहार के समन्वय के आधार पर क्रमशः उन्नति करते हुए व्यक्ति के चरमोन्नति की परिणति परम तत्व की उपलब्धि में बतायी गयी। और सहस्रों वर्षों के अपने सुदीर्घ जीवन में अनेक उथल-पुथल और परिवर्तनों के बीच भारतीय समाज की निष्ठा इस लक्ष्य से विचलित नहीं हुई। इस संस्कृति की वह विशेषता जिसके जीवन दर्शन की योजना में स्त्री और पुरुष का समान लक्ष्य और समानाधिकार हो अन्यत्र नहीं दिखायी देती।

इस योजना के अंतर्गत गार्हस्थ्याश्रम की व्यवस्था में अन्य संस्कृतियों से भारतीय समाज की विवाह संबंधी कई विशेषताएँ देख पड़ेंगी। आत्मोन्नति के परमोच्च शिखर पर पहुँचने के लिए सहस्रों भारतीयों के, जिनमें कई स्त्रियों के नाम आते हैं, आजीवन नैष्ठिक अथवा ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी होने के प्रमाण मिलते हैं जिनके दूसरी संस्कृतियों में उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। तथापि उन्हीं की तरह भारत में समाज की साधारण स्थिति वैवाहिक संबंध द्वारा स्थापित गार्हस्थ्य जीवन की है।

विवाह का उद्देश्य भारत में जितना ऊँचा, उदात्त और पवित्र निर्दिष्ट हुआ वैसा कहीं अन्यत्र विकसित नहीं हुआ। संतानोत्पादन के द्वारा संसार-चक्र को अविच्छिन्न रखकर परमेश्वर की इच्छा पूरी करने और धर्म की साधना में सहायक के रूप में यहाँ विवाह की सार्थकता मान्य हुई। और इस उद्देश्य के अनुरूप ही विवाह-संबंध किसी प्रकार का समय अथवा एक़रार न होकर धार्मिक संस्कार के रूप में स्थापित होता है जो अविच्छेद्य और मरणोपरांत भी स्थिर माना जाता है जिसके कारण पति और पत्नी एक दूसरे को तलाक नहीं दे सकते। धार्मिक संस्कार के अंतर्गत कन्या-दान की भावना भी, जिसमें विवाह के पूर्व उसका किसी

पुरुष के साथ समागम न हुआ हो, दूसरी किसी संस्कृति में विकसित नहीं हुई है।

भारतेतर कुछ धर्मों अथवा संस्कृतियों में विवाह के अच्छे आदर्श स्थापित हुए हैं जैसे प्राचीन ईरान के जरथुस्त्र धर्म में विवाह के आदर्श की कल्पना धार्मिक कर्तव्य के रूप में पवित्र गार्हस्थ्य की स्थापना में हुई है तो यहूदी सुखी गृहस्थ जीवन के लिए विवाह करने में ईश्वर की इच्छा की पूर्ति मानते हैं और ईसाई-धर्म में भी विवाह को एक धार्मिक संस्कार तथा अविच्छेद्य माना गया है किंतु क़ानून की दृष्टि में वह एक़रार मात्र है, जिससे सिद्धांततः अविच्छेद्य होते हुए भी न्यायपालिका के आदेश से पति-पत्नी का वियोग हो सकता है। ईसाई धर्माचार्यों के मतानुसार इस प्रकार का वियोग कर दिए जाने पर वे पुनर्विवाह नहीं कर सकते एवं अनेक कैथॉलिक-संप्रदाय-बहुल देशों में विवाह की अविच्छेद्यता के कारण तलाक का निषेध है। प्राचीन रोम में पहले विवाह का उद्देश्य गृहस्थी और संतानोत्पादन द्वारा राष्ट्र-रक्षा मात्र था किंतु कालांतर में स्त्री और पुरुष का पूर्ण सहजीवन और ईश्वरीय और मानव धर्मों में सहचारित्व निर्धारित हुआ, चीन में विवाह मनुष्य जीवन का महान् कर्तव्य माना गया, किंतु उसका लक्ष्य क्या था इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। और इसी प्रकार प्राचीन यूनान में यद्यपि विवाह करना धर्म माना गया उसका प्रयोजन केवल संतान उत्पन्न करना और घर गृहस्थी चलाना था।

अन्यत्र काममूलक वासनाओं की तृप्ति अथवा अधिक से अधिक उनको मर्यादित करने के सिवाय विवाह का कोई ऊँचा आदर्श स्थापित नहीं हुआ। उदाहरण के लिए इसलाम के पहले सामी जातियों के विवाह का काम की तृप्ति के सिवाय दूसरा कोई उद्देश्य नहीं था जो विवाह को एक अस्थाई संयोग मानती थीं और जिनमें स्वैरिता का मार्ग उन्मुक्त था। हम्मुरबी के विधान के पूर्व बैबिलोन और असीरिया की सामी जातियों में विवाह का कोई विधि विधान नहीं था और आदर्शहीनता के फल-स्वरूप स्त्री को पति हस्तांतरित अथवा उसका रद्दोबदल कर सकता था।

निषिद्ध विवाहों के विषय में भी भारतीय संस्कृति की मान्यता अन्य संस्कृतियों से भिन्न रही है। प्रायः सर्वत्र स्वकुल में विवाह संबंध स्थापित हो सकते थे जिनकी भारतीय समाज में कल्पना नहीं की जा सकती।

प्राचीन यूनान में कुछ विवाह निषिद्ध थे, परंतु उनकी संख्या नगण्य थी। मिस्र में भाई बहिन और चाचा भतीजी तक के विवाह अमान्य न थे, रोम में पहले स्वकुल की सात पीढ़ी तक के पुरुष-स्त्री परस्पर विवाह नहीं कर सकते थे

परंतु बाद को यह निषेध हटा लिया गया। यहूदियों में भी स्वकुल-विवाह वर्जित नहीं था जिससे उनमें चचेरे भाई बहिन का विवाह हो सकता था किंतु बाद के सुधारों से इस तरह के विवाह वर्जित कर दिए गए। प्राचीन ईरान में जहाँ सपिंड विवाहों का निषेध नहीं था सगे चचेरे भाई बहिन का विवाह मान्य था और इसी प्रकार ईसाई धर्म के प्रचार के पहले केल्टिक जातियों में सपिंडता अथवा प्रजातीयता के आधार पर विवाह संबंध पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था और जापान में यद्यपि एक माता-पिता की संतान परस्पर विवाह नहीं कर सकते थे सगे निकट संबंध के लड़के-लड़कियों के विवाह वर्जित नहीं हैं। इसलाम में वर्ज्य विवाह की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है जिससे माता, बेटी, सगी बहिन, सगी चाची, सगी नानी, सगी भतीजी, सास, विमाता को लड़की और पतोहू के साथ विवाह नहीं हो सकता परंतु इस परिधि के बाहर स्वकुल के स्त्री-पुरुषों के विवाह निषिद्ध नहीं हैं। ईसाई धर्म के रोमन कैथॉलिक संप्रदाय में विवाह की वर्ज्यता रक्त-संबंध, वैवाहिक संबंध और आध्यात्मिक संबंधों पर आधारित है जिसके अनुसार 'धर्म-पिता' और 'धर्म संतान' अथवा ऐसे दो व्यक्तियों में जो किसी एक बालक अथवा बालिका के धर्म-पिता अथवा धर्म-माता हों, विवाह वैध नहीं माना जाता।

परंतु भारतीय संस्कृति में केवल अनन्यपूर्वा कन्या के विवाह की मान्यता के साथ विधवा विवाह और विवाह-विच्छेद के निषेध के कारण किसी ऐसी स्त्री के साथ जो विवाहित रही हो, विवाह का प्रश्न नहीं उठता और उसमें न केवल स्वकुल की कन्या और पुरुष के विवाह वर्जित हैं बल्कि एक गोत्र और प्रवर के लड़के-लड़कियों के विवाह भी निषिद्ध हैं। इतना ही नहीं, विवाह संबंध में मातृ-पक्ष का भी विचार अनिवार्य होने से ऐसी कन्या और पुरुष का परस्पर विवाह वर्जित है जो संबंध में पिता से सात और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर आते हों। इसके अतिरिक्त यद्यपि वैदिक काल के ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह अमान्य नहीं थे बाद को असवर्ण विवाह भी सर्वथा निषिद्ध हो गए। वर्ण सांकर्य से बचने का जैसा प्रयास यहाँ हुआ, अन्यत्र कहीं नहीं दिखायी देता।

तुलनात्मक दृष्टि से विचारणीय दूसरा महत्वपूर्ण विषय पति-पत्नी संबंध है जो विवाह के द्वारा स्थापित होता है।

मिस्र में पत्नी से प्रेम और उसका भरण-पोषण करने का और इसलाम में पति-पत्नी के एक दूसरे के प्रति अव्यभिचारित्व का निर्देश हुआ है। ईसाई धर्म में नयी बाइबिल के अनुसार पति और पत्नी की एक दूसरे की पूरक इकाई

मानकर परस्पर प्रेम के उपदेश के साथ स्त्री पर पति का अधिकार मानते हुए स्त्री को पति की आज्ञाकारिणी होने का निर्देश हुआ है। यहूदी धर्म में भी पति की पत्नी पर अधीनता मानी गयी है, और पति की सेवा, शिशु-पालन और घर-गृहस्थी चलाना स्त्री का कर्तव्य बतलाया गया है और साथ ही स्त्री से प्रेम करना पति का कर्तव्य निर्दिष्ट हुआ है। प्राचीन ईरान के जरथुस्त्र धर्म में पति-पत्नी को पवित्र जीवन बिताते हुए सत्कर्मों में एक दूसरे का सहायक होने का उपदेश दिया गया है, तथा पति की अधीनता में रहकर उसकी पूजा और पातिव्रत्य धर्म का पालन स्त्री का कर्तव्य बतलाया गया है। यूनान में जहाँ स्त्री मात्र पुरुषों से हीन समझी जाती थीं स्त्री को पति से प्रेम अथवा सम्मान प्राप्त था इसका प्रमाण नहीं मिलता और प्राचीन वेल्स में पति पत्नी की बड़ी दुर्दशा करता था और उसे चौदह वर्ष से कम अवस्था वाले अपने बच्चों को मार डालने का अधिकार था!

पति-पत्नी संबंधित आदर्शों का भारतीय समाज में जैसा उदात्त, व्यापक और बहुमुखी विकास हुआ है अन्यत्र नहीं हो पाया। इसके स्त्री और पुरुष के परस्पर अव्यभिचारित्व के आदर्श में स्त्री के पातिव्रत्य के साथ ही पुरुष के एक-पत्नी व्रत का निर्देश संनिविष्ट है तथा स्त्री पर पुरुष की अधीनता के सिद्धांत को मानते हुए भी दोनों एक दूसरे के पूरक तथा एक संपूर्ण इकाई के निर्माता हैं जिसमें स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी और सहधर्म-चारिणी के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके कारण उसके सहचार के विना पति को किसी धार्मिक क्रिया के संपादन का अधिकार प्राप्त नहीं है। पति के ऊपर स्त्री के भरण-पोषण एवं उसके शारीरिक और चारित्रिक सम्मान की रक्षा का दायित्व आरोपित है। जहाँ एक ओर स्त्री पति को किसी परिस्थिति में नहीं छोड़ सकती, पुरुष भी उसका परित्याग नहीं कर सकता। दोनों को समान रूप से अपने उद्वेग को रोक कर एक दूसरे के प्रति क्षमाशील और सहिष्णु होने का निर्देश हुआ है और स्त्री को पति की सेवा के आदेश के साथ ही पुरुष को स्त्री का सम्मान करने और उसे मित्र और सचिव के रूप में अपनी मंत्रणाओं में सम्मिलित करने का निर्देश पूर्ण रूप से हुआ है।

परंतु भारत में एकपत्नी व्रत के आदर्श के साथ पुरुष के बहु-विवाह का निषेध न होने से यद्यपि समाज की व्यवस्था एक स्त्री-पुरुष मूलक रही है प्राचीन काल से अर्वाचीन समय तक पुरुष के एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह करने की प्रथा जारी रही है। पुरानी बाइबिल के अनुसार बहुविवाह वर्जित नहीं था जिससे इसराईल में इस तरह के विवाह हुआ करते

थे, परंतु नयी बाइबिल में बहु-विवाह का पूर्ण निषेध है और यहूदी धर्म में यद्यपि बहु विवाह वर्जित नहीं हैं उसके धर्मोपदेशकों ने एकपत्नी धर्म का प्रचार किया। मिस्र में भी बहुविवाह वर्जित नहीं था और प्रजातंत्र काल में उसकी रोम में वृद्धि हुई। ईसाई धर्म के प्रचार के पहले केल्टिक जातियों में बहु-विवाह की प्रथा विद्यमान थी। अरब और अबीसीनिया में जो सेमेटिक जातियों के देश रहे हैं पुरुष जितनी चाहता स्त्रियाँ रख सकता था परंतु मुहम्मद साहब ने उसकी परिसीमा चार तक बाँध दी और इसलाम में बहुविवाह इसी सीमा तक हो सकता है। कोरिया में पुरुष का दूसरा विवाह वर्जित नहीं है और जापान में यद्यपि निषिद्ध है रखेलियों की प्रथा विद्यमान है। एवं बर्मा में बहु-विवाह का यद्यपि निषेध नहीं है अपमानजनक माना जाने के करण उत्तम वर्ग के पुरुष एक से अधिक स्त्री से विवाह नहीं करते।

भारतीय समाज में व्यभिचार विषयक नैतिक आचरण का आदर्श अत्यन्त उदात्त और अनुपम है। उसमें पुरुष को अपनी पत्नी के सिवाय पराए की स्त्री को मातृवत् देखने की दृष्टि दी गयी है तथा दाम्पत्य धर्म के बाहर किसी स्थिति की स्त्री और पुरुष का समागम नरक में ले जानेवाला पाप कर्म और दंडनीय अपराध है जिससे पुरुष विवाहित हो, विधुर हो अथवा अविवाहित हो, उसका विवाहित, विधवा अथवा कन्या किसी के साथ अनुचित संसर्ग दोनों के लिए वर्ज्य और पाप कर्म माना गया है।

इसके विपरीत प्राचीन एथेन्स (यूनान) में जहाँ बहुत समय तक विवाहिता स्त्री का पर-पुरुष समागम अपराध माना जाता था एवं यदि विवाहित पुरुष एथेन्स की किसी नागरिक की स्त्री, बहिन अथवा माता के साथ अथवा उसकी ऐसी रखेली के साथ जो एथेन्स की जन्म-जात प्रजा हो, यौन संबंध करता तो व्यभिचार का अपराधी माना जाता, इस परिधि के बाहर यौन संबंध निंद्य अथवा अपराध नहीं माने जाते थे। कालांतर में कन्या और विधवा के साथ भी पुरुष-संयोग अपराध की कोटि में गिना जाने लगा, किंतु यह किसी नैतिक आदर्श पर आधारित न होकर पारिवारिक सुस्थिति की दृष्टि से किया गया। मिस्र में विवाह के पूर्व की अवस्था में काममूलक प्रवृत्तियों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था; विवाहिता स्त्री का पर-पुरुष के साथ संभोग अपराध माना जाता था, किंतु अन्य प्रकार के स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय में वहाँ की नैतिक धारणा क्या थी, इसके उल्लेख नहीं पाए जाते। प्रजातंत्रीय रोम में यौन-संबंधी आदर्श ढीले-ढाले थे। स्त्री का पर-पुरुष समागम अपराध माना जाता था, किंतु परायी विवाहिता स्त्री के साथ पुरुष का संयोग पुरुष का एक दुर्व्यवहार मात्र था और

अविवाहिता स्त्री के साथ यौन-कर्म एक साधारण बात थी। यहूदियों में पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति सच्चा होना आवश्यक है और उनमें से किसी एक का पराए पुरुष अथवा परायी स्त्री के साथ यौन-संबंध व्यभिचार और दंडनीय अपराध माना गया है, किंतु अविवाहित स्त्री के साथ किसी पुरुष का यही कृत्य अनैतिक नहीं है। व्यभिचार विषयक विचारों में प्राचीन ईरान के ज़रथुस्त्र धर्म और भारतीय समाज में बहुत साम्य दिखायी पड़ता है क्योंकि ज़रथुस्त्र धर्म में भी विवाह संबंध से परे प्रत्येक प्रकार के यौन-संबंध स्त्री और पुरुष के लिए समान रूप से व्यभिचार और महापातक माने गए हैं, एवं जहाँ अविवाहिता और सच्चरित्र स्त्री को मूर्तिमती पुण्य की अभिधा प्राप्त है पतिव्रता स्त्री की अपार महिमा बतलायी गयी है। इसलाम में भी व्यभिचार की घोर निंदा के साथ व्यभिचार के अपराधी को दंड देने में दया की भावना न आने देने का कठोर आदेश है और पत्नी को प्रेमी के साथ व्यभिचार-रत पाने पर दोनों को जान से मार डालने का पति को अधिकार है, परंतु दासी और स्वामी के यौन-संबंध को व्यभिचार नहीं माना गया है।

केल्टिक लोगों में, जिनमें विवाहोपरांत एक रात के लिए वधू को राजा के पास भेजने की प्रथा थी, व्यभिचार का बाजार गरम था। एवं जापान में बौद्ध-धर्म के महायान मत के प्रवेश (ई० सन् ५५२) से व्यभिचार और अवैध मैथुन निषिद्ध कर्म माने जाने लगे। हिब्रुओं में स्त्री की पतिपरायणता पर आग्रह है, परंतु पति को उसके प्रति सच्चा होना न होना एक समान है और अविवाहिता स्त्री के लिए कोई नैतिक बंधन नहीं है। यौन-संबंध की दृष्टि से प्राचीन सेमिटिक जातियों का नैतिक स्तर पशु-जीवन से कुछ ही ऊँचा था जिसमें इंद्रिय परायणता के कारण सदाचार और व्यभिचार में प्रायः कोई भेद नहीं मानते थे और पति की अनुज्ञा अथवा उसे जानकारी करा देने पर स्त्री परपुरुष के साथ समागम करने को स्वतंत्र थी।

विवाह के आदर्श में भारतीय समाज में तलाक के लिए कोई स्थान नहीं है। दूसरे समाजों में सर्वत्र उसका विधान पाया जाता है, परंतु इस विषय में स्त्री और पुरुष के अधिकार सर्वत्र बराबर नहीं रहे हैं। यूनान में पति पत्नी को स्वयं तलाक कर सकता था, किंतु पति को त्यागने के लिए स्त्री को न्यायालय की शरण लेनी पड़ती थी। मिस्र में अपनी इच्छानुसार पति पत्नी को तलाक दे सकता था, यद्यपि उसका कोई उपयुक्त कारण न होने पर पत्नी हर्जाना पाने की अधिकारिणी थी। रोम में पहले विवाह के अविच्छेद्य माने जाने के कारण तलाक को अपमानजनक मानते थे और उसकी प्रथा नहीं थी, परंतु

प्रजातंत्र काल से उसका आरंभ हुआ और बिना किसी कारण पति पत्नी एक दूसरे को तलाक करने लगे। वैबिलोन और असीरिया में दंपति को इच्छानुसार एक दूसरे को तलाक का अधिकार था; पति जब चाहता स्त्री के भरण-पोषण का प्रबंध करके उसे त्याग देता। हिब्रू जाति में हम्मुरबी के विधान से पत्नी को तलाक देने की पति को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई, किंतु पति को तलाक करने में स्त्री को प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता। केल्टिक जातियों में दंपति सकारण अकारण एक दूसरे को तलाक करने के लिए स्वतंत्र थे। चीन में पति को स्त्री को तलाक करने का अधिकार है। पति को स्त्री तलाक कर सकती है इसका प्रमाण नहीं मिलता। जापान में दंपति को तलाक का अधिकार है, यद्यपि तलाक के उपरांत उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है। कोरिया में पति पत्नी को स्वेच्छया तलाक दे सकता है जिसको वह अस्वीकार नहीं कर सकती। इसलाम में स्त्री को तलाक देने के लिए पति द्वारा 'तलाक' शब्द का तीन बार उच्चारण पर्याप्त है परंतु पति से छुटकारा के लिए स्त्री को न्यायालय में जाना आवश्यक है, यद्यपि तलाक के पश्चात् स्त्री को दूसरा विवाह कर लेने का अधिकार दिया गया है। ईसाई धर्म के रोमन कैथॉलिक संप्रदाय को मानने-वाले देशों के विधानों में तलाक की मान्यता नहीं है। अन्यथा ईसाइयों में तलाक वैध है तथा उसकी वैधता यहूदी क़ानून में भी मानी जाती है।

समाज में स्त्री की अवध्यता तथा परिवार में देवी और सम्राज्ञी के रूप में भारतीय नारी का सम्मान और गौरव उत्कर्ष के जिस शिखर को स्पर्श करता है वह संसार की सभ्यताओं में अद्वितीय है; एवं उनमें तत्वज्ञान के गहन विषयों के मंथन और मौलिक कृतियों में भारतीय नारी की उपलब्धियाँ भी नहीं दिखायी देतीं। इसी प्रकार पातिव्रत्य के महान् आदर्श की जीवन में चरितार्थता भी उसकी वह अनुपम और आश्चर्यजनक विशेषता है जिसके कारण स्त्रियों को आदि शक्ति की कला के रूप में देखने की भारतीय समाज में परंपरा स्थापित हुई।

संदर्भ-ग्रन्थ

अ. प्राचीन वाङ्मय

संस्कृत (वैदिक एवं लौकिक)

अत्रि स्मृति

अथर्ववेद

अर्थशास्त्र (कौटिलीय) र० शाम-शास्त्री द्वारा संपादित, मैसूर १९०९

अष्टाध्यायी (पाणिनीय)

आपस्तंब धर्मसूत्र (आपस्तंब धर्माधिकरण)

आश्वलायन गृह्यसूत्र

ईशावास्य उपनिषद्

उत्तर रामचरितः भवभूति

ऋग्वेद

ऋग्वेद (पुरुष सूक्त)

कठ उपनिषद्

काम सूत्र (वात्स्यायन)

काशकृत्स्नी (काशकृत्स्ना)

कुमार संभव (महाकवि कालिदास)

कौमुदी महोत्सव

कौशीतकि ब्राह्मणोपनिषद्

गर्भोपनिषद्

गौतम धर्मसूत्र

छांदोग्य उपनिषद्

तैत्तरीय उपनिषद्

तैत्तरीय ब्राह्मण

दुर्गा सप्तशती

देवी भागवत

पंचतंत्र

पंचिका

पद्म पुराण

पाणिनि शिक्षा (महर्षि पाणिनि)

पूर्व मीमांसा (महर्षि जैमिनि)

पैप्पलाद संहिता

बृहत्संहिता (वराह मिहिर)

बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहस्पति स्मृति

बौधायन धर्म शास्त्र

मनुस्मृति

महाभारत (महर्षि वेदव्यास)

महाभाष्य (महर्षि पतंजलि)

मार्कण्डेय पुराण (महर्षि वेदव्यास)

मालविकाग्निमित्र (महाकवि कालिदास)

मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर)

मुंडक उपनिषद्

मैत्रायणी संहिता

यंत्र सर्वस्व

यजुर्वेद

याज्ञवल्क्य स्मृति

रघुवंश (महाकवि कालिदास)

वाजसनेय ब्राह्मण

वाल्मीकि रामायण (महर्षि वाल्मीकि)

विष्णु धर्मोत्तर पुराण (वेदव्यास)

विष्णु पुराण (महर्षि वेदव्यास)
वैशेषिक सूत्र (महर्षि कणाद)
शतपथ ब्राह्मण
शाकुंतल (महाकवि कालिदास)
शुक्ल यजुर्वेद (रुद्राष्टाध्यायी)
श्री मद्भगवद्गीता (महर्षि वेदव्यास)
श्री मद्भागवत (महर्षि वेदव्यास)
साहित्य दर्पण
सुश्रुत
हर्षचरित (बाण)
हारीत स्मृति

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश

एतदग्ग वग्ग (विनय पिटक)
चुल्ल वग्ग; पजापति पव्वज्जा सुत्त (विनय पिटक)
थेरी गाथा
सिद्ध हेमचंद्र (शब्दानुशासन) हेमचंद्र, जैनाचार्य

आ. मध्यकालीन साहित्य

तिरुप्पावयि (द्रविड़ संत आंडाल)
प्रेम तरंगिनी (संत सुवचना दासी
रामचरित मानस (गोस्वामी तुलसीदास)
विज्ञान सागर (संत सुवचना दासी)
विदेह मोक्ष प्रकाश (संत सुवचना दासी)
सहजोबाई की बानी (संत सहजो बाई)
सूरसागर (भक्त सूरदास)

इ. आधुनिक साहित्य : हिन्दी

आत्म कथाः महात्मा गांधी, अनुवादक हरिभाऊ उपध्याय, प्रकाशक मार्तंड उपाध्याय, मंत्री सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, अष्टम संस्करण, (१९४७)
आर्यों का आदि देशः डॉ० संपूर्णानंद
उत्तर भारत की संत परंपरा : परशुराम चतुर्वेदी
किन्नर देश में : महापंडित राहुल सांकृत्यायन
गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्रः बालगंगाधर तिलक, लोकमान्य, अनुवादक माधवराव सप्रे, प्रकाशक ग्रन्थकार, चित्रशाला स्टीम प्रेस, पूना।
धर्मराज युधिष्ठरः चन्द्रबली त्रिपाठी, प्रकाशिका श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी, मदन मोहन मालवीय मार्ग, बस्ती, मुद्रक गोविंद मुद्रणालय, बुलानाला, वाराणसी।
पाणिनिकालीन भारतः डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
प्राचीन भारत का इतिहासः डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
बापू के क़दमों में : डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
बुद्धचर्या : महापंडित राहुल सांकृत्यायन
भारत का प्राचीन इतिहासः एन०

एन० घोषः, अनुवादक चद्रचूड़ मणि, इंडियन प्रेस, प्रयाग १९५१।

महाभारत मीमांसाः सी० वी० वैद्य, अनुवादक माधवराव सप्रे, प्रकाशक बाल कृष्ण ठकार, पूना, मुद्रक इंडियन प्रेस प्रयाग

विधवा विवाह खंडनः पं० भीम सेन शर्मा

वेदों में चर्खा : दामोदर श्रीपाद सातवलेकर

वैदिक साहित्य : पं० राम गोविंद त्रिवेदी, प्रकाशक ज्ञानपीठ, वाराणसी

सार्थवाह : डॉ० मोतीचंद्र हिंद

स्वराज : मोहन दास करमचंद गांधी (महात्मा) हिंदी विश्वकोश, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

हिंदी साहित्य का इतिहासः आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १३ वाँ संस्करण।

हिंदुत्व : रामदास गौड़

हिंदू राज्य शास्त्रः पं० अंबिका प्रसाद वाजपेयी

हिंदू सभ्यता : डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, (अनुवाद)

लैटिन

नेचुरलिस हिस्टोरियाः प्लिनी, सी० मेहॉफ़ द्वारा संपादित, लाइपज़िग १८९२–१९०९

अंग्रेजी

इंटरकोर्स बिट्वीन इंडिया एंड दि वेस्टर्न वर्ल्ड : रालिंसन, एच० जी०, कैंब्रिज, १९१६

इंडियन आर्टः डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी ५, मुद्रक-तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी, १९६५

इंडियन विमेन थ्रू दि एजेजः पी० टॉमस, प्रकाशक पी० एस० जयसिंघे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, १९६४

इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्सः जेम्स हेस्टिंग्स द्वारा संपादित, एडिनबरा, १९०८

इम्पॉटन्स ऑव लिविंगः लिन यू तैंग

एजुकेशन इन एंश्येंन्ट इंडियाः डॉ० ए० एस० अल्तेकर

एनल्स ऐंड ऐन्टिक्विटीज़ ऑव राजस्थानः जेम्स टॉड

एपिक इंडियाः चिं० वि० वैद्य, बंबई १९०७

एसेज़ इन नेशनल आइडियलिज़्मः आनंद के० कुमार स्वामी

कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड १, कैंब्रिज १९२१

कैटलॉग ऑव दि क्वाइन्स ऑव एंश्येंट इंडिया (इन दि ब्रिटिश म्यूज़ियम) लंदन १९३६

डिस्कवरी ऑव इंडियाः जवाहरलाल नेहरू

दि आउट लाइन ऑव इंडियन आर्टः सर विलियम ओपेंन

दि अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया : डॉ० विंसंट आर्थर स्मिथ, तृतीय संस्करणः आक्सफोर्ड, १९१४

दि गुप्त इंम्पायर : डॉ० राधा-कुमुद मुकर्जी

दि फ़ाउन्डेशन ऑव इंडियन कल्चरः श्री अरविंद

दि पॉजिटिव बैकग्राउंड ऑव हिंदू सोशियॉलॉजी : विनय कुमार सरकार, इलाहाबाद १९१४

दि फिलासफ़ी ऑव एंश्यैन्ट एशियाटिक आर्टः डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी

दि बिगिनिंग्स ऑव बुद्धिस्ट आर्ट ऐंड अदर एसेजः फ़ुशे ए० भाषांतर एल० ए० टॉम्स ऐंड एफ़० डब्ल्यू० टॉमस, पेरिस ऐंड लंदन, १९१७

दि बुद्धिस्ट केव टेम्पुल्स ऐंड देयर इंस्क्रप्शंसः बर्गेस जे०, रिपोर्ट ऑव दि आर्केयालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, लंदन १८८३

दि हिंदू व्यू ऑव आर्टः मुल्क राज आनंद

पोजिशन ऑव विमेन इन हिंदू सिविलिज़ेशन : डॉ० ए० एस० अलतेकर

मिथ्स ऐंड सिम्बल्स इन इंडियन आर्ट ऐंड सिविलिज़ेशनः हिएन रिख़ ज़िमर

मैरेज पास्ट ऐंड प्रेज़ेन्टः मिसेज कोल

रामकृष्ण सेन्टिनरी मेमोरिएल, दि कल्चरल हेरिटेज ऑव इंडिया

विमेन इन ऋग्वेदः डॉ० बी० एस० उपाध्याय

स्टडीज़ इन इंडियन आर्टः डॉ० वासुदेव एस० अग्रवाल, विश्व-विद्यालय प्रकाशन वाराणसी, मुद्रक बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, १९६५

हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोने-शियन आर्टः डॉ आनंद के० कुमार स्वामी

हिस्ट्री ऑव फ़ाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन, आक्सफ़ोर्ड, १९११

हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, लंदन एवं न्यूयार्क, १९००

हिस्ट्री ऑव एंश्यैंट संस्कृत लिटरेचरः मैक्सम्यूलर, एफ़०, द्वितीय संस्करण, १८६०

हिस्ट्री ऑव हिंदू धर्म शास्त्रः महामहोपाध्याय पी० वी० काणे

जर्मन

Deussen, P.: Philosophie der Upanishads. Leipzig, 1899

Fick, R.: Konigliche Gewalt nach den Dharmasutren, Leifpeig, 1895. Social Gliederung im nordostlichen, Indiaen zu Buddha's Ziet Kiel, 1897.

Winternitz, M.: Geschichte der indischen Litteratur.

अनुक्रमणिका

आ

ई

उ

ऋ

प

फ

ब

भ

श

स

ह